लिये निजी प्रयोजनरहित जगद्रचना में ऐसी लोकक्रीड़ाओं की समानता प्रकट करना अयुक्त है। सूत्रकार का ऐसा आशय नहीं होना चाहिये। केवल ब्रह्म की सत्ता मानने वाले आचार्यों के लिये तो ऐसे व्याख्यान की यथार्थता का उपपादन करना और भी दुःशक होगा। यदि वह राजाओं के समान यह क्रीड़ा करता है, तो उसे निजी प्रयोजन से रहित नहीं कहा जासकता; तब उसे ब्रह्म के आप्तकाम व अकाम आसन से ही गिरा दिया जाता है। सूत्रकार का ऐसा आशय कदापि नहीं। फलतः यह निश्चित होता है, कि ब्रह्म संकल्पमात्र से अनादि उपादानतत्त्व प्रकृति को परिणत कर स्वभावतः जगत् की रचना आदि करता है। रचना के प्रयोजन की भावना से देखने पर भूतानुग्रह प्रयोजन कहा जासकता है, जो शास्त्रदृष्टि से प्रमाणित है ॥३३॥

प्रतिपाद्य अर्थ की पूर्णसिद्धि और दृढ़ता की भावना से शिष्य पुनः आशंका करता है, ब्रह्मद्वारा जगद्रचना में यथाकथञ्चित् भूतानुग्रह प्रयोजन माना जासकता था, यदि जगत् की रचना समान होती और सदा बनी रहती। जगत् में असंख्य विषमता देखी जाती हैं। आत्माओं को लाखों प्रकार की योनियों में पटक दिया गया है। मानव योनि में ही सबके दैहिक व ऐन्द्रियक सामर्थ्य समान नहीं होते। यह रचना यदि परब्रह्म की है, तो वह वैषम्य दोष से बच नहीं सकता। फिर कभी लहलहाते संसार का अचानक संहार होजाता है, सब प्राणी निर्दयता के साथ नष्ट कर दिये जाते हैं। तब ब्रह्म निर्दय भी होजाता है। पर ऐसा ब्रह्म होना असंभव है; इसलिये जगत् ब्रह्म की रचना नहीं माना जाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ॥३४॥

[वैषम्यनैर्घृण्ये] विषमता और निर्दयता [न] नहीं (ब्रह्म में), [सापेक्षत्वात्] सापेक्ष होने से [तथा हि] जैसा कि [दर्शयति] दिखाया जाता है। शास्त्र में यह प्रकट कर दिया है, कि संसार में विषमता और दुःख किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा से हैं; अतः ये दोष ब्रह्म में नहीं।

जगत् की विषमता और उसमें दुःख व संहार आदि होने का कारण ब्रह्म नहीं है। यदि ब्रह्म अपनी इच्छा से ऐसा संसार बनाता है, तो उसमें वैषम्य दोष का होना संभव है; पर ऐसे संसार की रचना में न उसका कोई प्रयोजन है, और न उसके स्वीकृत स्वरूप में ऐसी इच्छा होसकती है। वह प्राणियों के कर्मानुसार संसार का सर्जन व संहार किया करता है। आत्माओं के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिये जैसे जगत् की रचना अपेक्षित है, वैसे विश्राम के लिये जगत् का संहार भी उपयोगी है। यह सब प्राणियों के कर्मानुसार होता है, ब्रह्म में उक्त दोषों का उद्भावन निराधार है।

संसार की विषमता के दो कारण हैं, (१) मूल उपादानतत्त्व, (२) तथा प्राणियों के शुभाशुभ कर्म। सत्त्व-रजस्-तमस् तीन प्रकार के मूलउपादानतत्त्व एक

दूसरे में मिथुनीभूत होकर विविध प्रकार की रचना में कारण होते हैं। जगत् की रचना प्राणियों के भोग के लिये है, इसलिये यह उनके अनुकूल होनी आवश्यक है, इस अनुकूलता का नियमन प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों के आधार पर किया जाता है। पृथिवी आदि तथा यहां पर और बाहर पाये जाने वाले अन्य समस्त विविध प्रकार के तत्त्वों व पदार्थों की विभिन्न रचना मूलउपादानतत्त्वों के संमिश्रण पर आधारित होती है। भोग की भावना से वह रचना प्राणियों के अनुकूल हो, इसके लिये उनके अपने कर्म सहयोगी होते हैं। सर्वज्ञ चेतनतत्त्व ब्रह्म इस सबकी केवल व्यवस्था करता है। पृथिव्यादि भूतों अन्य तत्त्वों ओषधि वनस्पतियों नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता प्राणियों की अपनी कमाई का फल है; ब्रह्म अपनी ओर से इसमें कोई बाधा या परिवर्त्तन नहीं लाता। उपादानतत्त्व तथा कर्मों की अपेक्षा से संसार में विषमता है, ब्रह्म केवल उनकी व्यवस्था करता है। फलतः उक्त दोषों का उसमें होना असंभव है।

प्राणी कर्म तो स्वतन्त्रता से करता है, पर उनके फलों को उस अवस्था में भोगना नहीं चाहता, जब वह उसके प्रतिकूल हों। तब यह व्यवस्था ब्रह्म के कार्यक्षेत्र में आजाती है। जगत् की रचना आदि का तथा प्राणियों के कर्मफलप्रदान का नियन्ता वही है। इस तथ्य को शास्त्रों ने प्रकट किया है। बृहदारण्यक उपनिषद्-[३।२।१३] में कहा–'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' शुभकर्म से सुख और पापकर्म से दुःखफल प्राप्त होता है। प्रश्न उपनिषद् [३।७] में बताया–'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' जीवात्मा पुण्य कर्म से उच्च योनियों को प्राप्त होता है, पापकर्म से नीच योनियों [कृमि कीट स्थावर आदि] को तथा दोनों शुभाशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य योनि को पाता है। इसप्रकार संसार में विषमता आदि की स्थिति जहां प्राणियों के धर्म-अधर्म की अपेक्षा से है, वहां मूलउपादानतत्त्वों का परस्पर वैलक्षण्य और उनका अनन्त विविधताओं के साथ अन्योन्यमिथुनीभूत होकर संमिश्रण भी प्राकृत जगत् की विलक्षणता मे महान कारण है। यह इस तथ्य को भी पुष्ट करने में एक प्रबल प्रमाण है, कि यह विलक्षण जड़ जगत् सच्चिदानन्द चेतनस्वरूप ब्रह्म का परिणाम नहीं है। ब्रह्म केवल नियन्ता अधिष्ठाता होने से जगद्रचना में निमित्तकारण है। फलतः वैषम्य आदि दोषों की संभावना ब्रह्म में नहीं की जासकती। इससे निश्चय ही वह जगत् के जन्मादि का कारण है।

शुभाशुभ कर्मों के वैलक्षण्य से संसार में वैषम्य है, इस तथ्य को अन्य दर्शन-शास्त्रों ने स्वीकार किया है। सांख्यदर्शन [६।४१] में कहा है–'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टि-वैचित्र्यम्' कर्मों की विभिन्नता से सृष्टि में विविधता का प्रादुर्भाव होता है[1]। ऐसे ही

---

१. अधिक विवरण के लिये देखें–'सांख्यदर्शन–विद्योदयभाष्य' प्रस्तुत ब्रह्मसूत्रभाष्यकार, उदयवीर शास्त्री कृत, पृष्ठ २७४।

न्यायदर्शन में बताया–'पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः' [३।२।६०] शरीर आदि कार्य जगत् की उत्पत्ति आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार हुआ करती है। अगले इकसठ-बासठ सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का निर्देश करते हुए यह समझाया गया है, कि कार्यमात्र की उत्पत्ति में कर्म कारण होते हैं। छ्यासठवें सूत्र में इसको और अधिक पुष्ट किया गया है। आगे [४।१।२२–२४] पुनः विना निमित्त के सर्ग आदि होजाने का पूर्वपक्ष उठाकर उसके प्रत्याख्यानद्वारा कर्मनिमित्तक सर्ग को सिद्ध किया है ॥३४॥

शिष्य ने आशंका की, उपादानतत्त्वों की त्रिगुणात्मकता जगत् के वैषम्य में एक कारण है, यह बात समझ में आती है, उपादानतत्त्व अनादि है, सर्ग से पहले विद्यमान रहता है; परन्तु कर्मों का अस्तित्व तब कहां ? कर्म तो प्राणियों द्वारा सर्ग-काल में देहादियोग के साथ किये जाते हैं। जब कर्म नहीं, तो उसके वैलक्षण्य का प्रश्न नहीं उठता। तब सर्ग से पहले कर्मवैलक्षण्य के अभाव में उसके आधार पर सर्ग का वैषम्य बताना निराधार है। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

[न] नहीं [कर्म] कर्म [अविभागात्] विभाग न होने से, [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह योग्य) [न] नहीं, [अनादित्वात्] अनादि होने से (कर्मों के)। सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में देहादि विभाग न होने से जीवों के कर्मों की संभावना ही नहीं, तब कर्मों के कारण जगत् में विषमता है, यह निराधार है। ऐसा कहना योग्य नहीं, क्योंकि कर्म अनादि हैं।

उपनिषद् [छा० ६।२।१] में बताया, सर्ग से पहले यह सब जगत् 'सत्' अवस्था अर्थात् कारण अवस्था में रहता है, कार्यरूप से इसका विभाग नहीं होता। इसीको अन्यत्र [बृ० १।४।७] कहा–'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्' यह जगत् तब अव्याकृत अवस्था में रहता है। व्याकृत अवस्था कार्यजगत् की अवस्था है। प्रलयदशा में यह जगत् कारणरूप से विद्यमान रहता है; तब कार्य अवस्था के पृथिवी आदि विभागों का तथा आत्माओं के साथ देहादि विभाग का सर्वथा अभाव है। जीवात्मा देहादि के सहयोग में कर्म कर सकता है अन्यथा नहीं। देहादि का होना सर्ग के अनन्तर संभव है। तब सर्ग से पहले प्रलयदशा में देहादि के न होने के कारण जीवात्माओं के कर्मों की संभावना नहीं। ऐसी दशा में यह कहना, कि ब्रह्म जगत् की विषम रचना में जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा करता है, असंगत है। सर्ग से पहले जब कर्मों का अस्तित्व नहीं, तो सर्गरचना में उनकी अपेक्षा कैसी ? तब जगत् के वैषम्य को देखते यही कहा जासकता है, कि सर्वज्ञ आप्तकाम ब्रह्म ऐसे जगत् का कारण नहीं कहा जाना चाहिये।

सूत्रकार ने समाधान किया, ब्रह्म के विषय में ऐसी आशंका करना अयोग्य है। गतसूत्र में जो कहा गया है, कि ब्रह्म इस विषम जगत् की रचना जीवात्माओं के शुभा-

शुभ कर्मों की अपेक्षा से करता है, वह सर्वथा युक्त है, इसमें कोई दोष नहीं। यह कहना, कि सर्ग से पूर्व जीवात्माओं के कर्म संभव नहीं, सर्वथा असंगत है। कारण यह है, कि जीवात्मा स्वरूप से अनादि हैं। अनादि काल से वे कर्म करते व भोगते आरहे हैं। पुराने कर्मों का भोगा जाना और नये कर्मों का किया जाना, यह क्रम अनादिकाल से निरन्तर चालू है, जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है, समाप्त होजाते हैं, शेष वासनारूप से अथवा धर्माधर्म एवं संस्काररूप से जीवात्माओं में अवस्थित रहते हैं। कर्मों का यह क्रम प्रवाह से अनादि है। तात्पर्य—कर्मों का यह प्रवाह [पुरानों का समाप्त होना नयों का प्रादुर्भूत होना] अनादि काल से चला आरहा है। इसी आधार पर जीवात्माओं का भोग्य एवं कार्यक्षेत्र संसार का प्रवाह भी अनादिकाल से चालू है। संसार के सर्ग और प्रलय एक दूसरे के आगे-पीछे अनादिकाल से निरन्तर होते आरहे हैं। ऐसी दशा में किसी एक सर्ग से पहले जीवात्माओं के कर्मों का अभाव रहता है, यह कहना सर्वथा असंगत है। किसी एक सर्ग से पहले प्रलयदशा में गत सर्गअवस्था में किये गये अनुपभुक्त कर्मों का अस्तित्व आत्माओं में बराबर बना रहता है। देहादि के असंबन्ध से तब नये कर्म आत्मा नहीं कर सकता, सुप्त जैसी अवस्था में पड़ा रहता है, पर गत-सर्ग के अनुष्ठित अवशिष्ट धर्माधर्म आत्माओं में अवस्थित रहते हैं। आनेवाली सर्ग-रचना के वैषम्य में वे धर्माधर्म निमित्त हैं। सर्गरचना का यह क्रम चलता रहता है। वेद [ऋ० १०।१९०।३] में कहा—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' सूर्य चन्द्र आदि लोक-लोकान्तरों को जगद्रचयिता परब्रह्म परमात्मा पूर्वसर्गों के समान बनाता है। बीज-अंकुर के समान संसार एवं कर्मों का क्रम निरन्तर चला करता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है, कि कर्मों का प्रवाह अनादि होने से प्रलयदशा में उनका अस्तित्व रहता है, एवं जगत् के आगामी सर्ग के वैषम्य में उनका अपेक्षित सहयोग संभव है। इसलिये ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारण होने में वैषम्य आदि दोषों का उद्भावन सर्वथा निराधार है। ॥३५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है; ब्रह्म, जीवात्मा और जगत् का मूल उपादान प्रकृति, ये अनादि तत्त्व हैं, पर कर्म तो जन्य हैं, जीवात्मा कर्म किया करता है, इसे अनादि कैसे कहा गया ? कर्म के अनादि होने का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

[उपपद्यते] उपपन्न है—युक्तिप्रमाण से सिद्ध है [च] और [उपलभ्यते] उपलब्ध होता है [च] भी। युक्ति आदि से कर्म का अनादि होना सिद्ध होता है, तथा इसका शास्त्र में उल्लेख भी उपलब्ध है।

जीवात्मा स्वरूप से अनादि हैं, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। युक्ति एवं तर्क के

आधार पर आत्मा के कर्म और उसका क्षेत्र यह संसार अनादि सिद्ध होता है। यदि चालू संसार की रचना से पहले कभी ऐसा संसार नहीं बना, तो इसकी विषम रचना और प्राणियों को विविध सुख दुःख आदि की प्राप्ति विना कारण के माननी होगी, जो सवथा असंगत है। ईश्वर इस वैषम्य का कारण नहीं है, यह कहा जाचुका है। किसी कार्य का विना कारण होना मान लेने पर कार्यकारण की व्यवस्था तथा इसपर आधारित समस्त जगत्व्यवहार नष्ट होजायगा। आत्माओं का विभिन्न देह आदि के साथ सम्बन्ध कर्मों के विना संभव नहीं, तथा कर्म देहादिसंबन्ध के विना संभव नहीं। इसलिये चालू संसार की रचना से पहले आत्माओं के विभिन्न कर्मों का माना जाना आवश्यक है, अन्यथा आदिसर्ग में विभिन्न देहों के साथ आत्माओं का सम्बन्ध निर्निमित्तक होजायगा। जब कर्मों का अस्तित्व चालू सर्ग से पहले है, तो उसके पूर्व आत्माओं का देहादिसम्बन्ध भी अवश्य मानना होगा, क्योंकि इसके विना कर्मों का होना संभव नहीं। देहादिसम्बन्ध के लिये संसार को भी पहले मानना होगा। फलतः चालू सर्ग से पहले संसार का होना, आत्माओं का देहादिसम्बन्ध और उनके कर्मों का होना निश्चित होता है। इन्हीं आधारों पर इस क्रम का कोई आदि काल नियत नहीं किया जासकता, इसलिये यह सब अनादि मानना युक्त है।

यह समझना ठीक नहीं, कि यही संसार इसी रूप में अनादिकाल से चला आरहा है, अथवा कोई एक या अनेक कर्म उसी रूप में अनादि काल से चले आरहे हैं। कर्म अनुष्ठानरूप है, क्रियारूप है, जन्य है; इसलिये कोई एक या अनेक कर्म उसी रूप में अनादि काल से चले आरहे संभव नहीं। संसार भी मूलउपादानतत्त्वों से इस रूप में परिणत होता है, प्रलय अवसर आने पर कारणरूप में पुनः अवस्थित होजाता है। कर्म और देहादि संसार का क्रम बीज-अंकुर के समान सदा चला करता है। बीज से अंकुर होता है, वह पेड़ बनकर पहले के समान अन्य बीजों को पैदा करता है। उस बीज को नहीं, जिससे वह पेड़ बना है। पेड़ के वे बीज अन्य समान पेड़ों को पैदा करते हैं, उस पेड़ को नहीं, जिससे वे स्वयं प्रादुर्भूत हुए हैं। आत्मा के कोई कर्म एक देह के सम्बन्ध के कारण होते हैं, वह देहसम्बन्ध अन्य कर्मों का साधन बनता है। यह क्रम अनादि है। तात्पर्य यह, कि कर्म और संसार का यह प्रवाह अनादि है। इसी आशय से कर्मों को अनादि कहा है, ऐसे ही संसार अनादि है। कर्मों के जन्य होने पर भी उनके इस अनादि प्रवाह में कोई बाधा नहीं।

संसार के अनादि होने का संकेत शास्त्र में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद का मन्त्र [१०।१९०।३] गतसूत्र की व्याख्या में निर्दिष्ट कर दिया है। छान्दोग्य उपनिषद् [६।३।२] में कहा–'अनेन जीवेनात्मना' उपनिषत्कार ने सर्ग के प्रारम्भ में ईश्वर-संकल्प का निर्देश करते हुए ये पद कहे–'इस जीवात्मा के साथ'। इससे स्पष्ट है, सर्ग से पूर्व जीवात्मा का अस्तित्व है, और उसके कर्मों के अनुसार संसार में उसका पुनः

प्रवेश होरहा है। इससे उस अवस्था में कर्मों का अस्तित्व निश्चित है। जीवात्मा के ये कर्म देहादिसम्बन्ध के विना संभव नहीं। चालू सर्ग से पूर्व आत्माओं का देहादि-सम्बन्ध ऐसे ही किसी पूर्व संसार के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इसप्रकार युक्ति और शब्दप्रमाण से कर्म एवं संसार के प्रवाह का अनादि होना निश्चित है[1]। फलतः कर्मानुसार संसार की विषम रचना मानने पर ब्रह्म की जगज्जन्मादिकारणता में कोई दोष नहीं आता ॥३६॥

जगत् की रचना में अनेक कारण अपेक्षित होते हैं, उनका उपपादन प्रस्तुत पाद में किया गया। उसका उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने पाद का अन्तिम सूत्र कहा—

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

[सर्वधर्मोपपत्तेः] सब धर्मों की उपपत्ति—उपस्थिति से [च] ही। अपेक्षित सब धर्मों—कारणों की उपस्थिति से ही जगत् की रचना होती है।

द्वितीय अध्याय के इस प्रथम पाद द्वारा स्मृतिनिमित्तक एवं तर्कनिमित्तक उन विरोध व बाधाओं का समाधान किया गया, जो जगत् की रचना में अपेक्षित कारणों के विषय में प्रस्तुत किये गये। इसप्रकार यह प्रकरण जगत् की रचना में अपेक्षित कारणों का निश्चय करता है। सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म इस जगत् का निमित्तकारण नियन्ता व अधिष्ठाता है। त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति इसका उपादानकारण है। जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्म तथा अन्य अपेक्षित सब कारण इस जगद्रचना में साधारण कारण की कोटि में आते हैं। सृष्टि के लिये इन सभी कारणों की अपेक्षा रहती है। प्रत्येक कारण अपनी स्थिति में महत्त्वपूर्ण है। जगद्रचना के अवसर पर इनमें किसीकी उपेक्षा नहीं की जासकती। कोई एकमात्र चेतन व अचेतनतत्त्व जगद्रचना में असमर्थ रहता है। अभीतक इस अर्थ का उपपादन किया गया, कि जड़ उपादानतत्त्व के सहयोग विना केवल चेतनतत्त्व जगत् का निर्माण नहीं करपाता। इसीके अनुसार प्रकृति एवं शुभाशुभ कर्म आदि के कारण होने का वर्णन किया गया। सूत्र का यह अर्थ युक्त प्रतीत नहीं होता, कि ब्रह्म में कारणता के सब धर्मों की उपपत्ति होने से एकमात्र ब्रह्म जगत् का सर्वविध कारण है। ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का उपपादन तो 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्' [वे० सू० २।१।३०] इस सूत्र-द्वारा कर दिया गया है, उसकी पुनरुक्ति करना निरर्थक था। एकमात्र ब्रह्म की सर्वविध कारणता का विरोध गत प्रकरण से होजाता है, जहां बलपूर्वक जगत् की विषम रचना में कर्मों की कारणता का उपपादन किया है। फलतः प्रस्तुत सूत्र गतप्रकरण में

---

१. इस विषय में गीता [१५।१, ३] और मनुस्मृति [१।५१–५४; ८०; १२।१२४] के निर्दिष्ट स्थल द्रष्टव्य हैं। पुराणों में भी इस तथ्य का उल्लेख हुआ है, कि अतीत और अनागत सृष्टिकल्पों की कोई गणना नहीं की जासकती। यह क्रम अनादि–अनन्त है।

वर्णित जगद्रचना के सब अपेक्षित कारणों का निगमन करता है।

अब आगे इस तथ्य का उपपादन किया जायगा, कि चेतन ब्रह्म के प्रेरणा आदि सहयोग के बिना केवल जड़तत्त्व से जगत् का निर्माण सम्भव नहीं, चेतनतत्त्व इस सबका नियन्ता व आधार है, इस रचना में उसका सर्वोत्कृष्ट महत्त्व है। इससे मिलता-जुलता अन्य आवश्यक विवेचन भी इसके साथ होगा ॥३७॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

जगत् की रचना में ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति तीनों तत्त्व यथास्थान अपेक्षित हैं, इस प्रदिपादित अर्थ की दृढ़ता के लिये तर्क पर आश्रित कतिपय विचारों का तर्क-द्वारा विवेचन इस पाद में प्रस्तुत किया जाता है। पहले दो चेतन और तीसरा जड़तत्त्व है। चेतनतत्त्वों में पहला सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वान्तर्यामी व सर्वनियन्ता एकमात्र है, दूसरा अल्पज्ञ अल्पशक्ति परिच्छिन्न व देहादिमात्र में आंशिक नियन्ता संख्या में अनन्त है। यह निश्चय किया गया—जगत् की रचना में जड़तत्त्व उपादान है, तथा सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म उसका नियन्ता व व्यवस्थापक है। वही जड़ उपादानतत्त्व को कार्य जगद्रूप में अपनी व्यवस्थानुसार परिणत करता है।

इस वस्तुस्थिति पर शिष्य ने जिज्ञासा की, जगद्रचना में सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म अनावश्यक है। यह क्यों न मानलिया जाय, कि जड़ उपादानतत्त्व स्वभाव से जगद्रूप में परिणत होजाता है। यदि ऐसा सम्भव हो, तो ब्रह्मजिज्ञासा और 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि उसके स्वरूप का उपपादन व्यर्थ तथा शास्त्र का आरम्भ निराधार। आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

[रचनानुपपत्तेः] रचना की अनुपपत्ति—असिद्धि से [च] और [न] नहीं [अनुमानम्] अनुमानमात्र से जाना गया अर्थ। केवल अनुमान—तर्क से जाना गया यह अर्थ—कि चेतन की प्रेरणा के बिना जड़ उपादानतत्त्व स्वभाव से जगद्रूप में परिणत होजाता है—ठीक नहीं; क्योंकि इसप्रकार जगत् की रचना सिद्ध न होसकेगी।

जड़ उपादानतत्त्व क्या है? उसके स्वरूप का उपपादन यहां अपेक्षित नहीं। सिद्धान्तपक्ष यही है—सत्त्वरजस्तमोमय त्रिगुणात्मिका प्रकृति वह तत्त्व है, जिसका

विवरण छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के प्रारम्भिक खण्डों में दिया गया है, तथा वेद और समस्त वैदिक एवं दार्शनिक साहित्य में विभिन्न नामों से जिसका उल्लेख हुआ है। अनेक आचार्यों ने उसके विभिन्न कार्यस्तरों को अधिकारी जिज्ञासुओं के भेद से जगत् के उपादानतत्त्वों के रूप में विवृत किया है। ये सब स्तरों के जड़तत्त्व चेतन की प्रेरणा के विना, स्वभाव से कार्यरूप में परिणत होते रहते हैं, इन विचारों व भावनाओं का विवेचन यथाक्रम इस प्रकरण में प्रस्तुत किया जारहा है। यह [प्रकरण का प्रथम भाग है, जिसमें जगत् के वास्तविकमूलउपादान तत्त्व प्रकृति को उसी रूप में स्वीकार कर चेतन के सहयोग विना स्वभावमात्र से जगत् प्रक्रिया का विवेचन है।

यह अर्थ–चेतनप्रेरणा विना जड़ प्रकृति स्वभाव से स्वतः जगद्रूप में परिणत हुआ करती है–शास्त्रद्वारा उपपादित नहीं है, केवल तर्क-बल पर कल्पना किया गया है; इसलिये सूत्रकार ने इसे 'आनुमानम्' पद से निर्दिष्ट किया, जो केवल अनुमान के आधार पर जाना जाता है, शास्त्र अर्थात् शब्दप्रमाण इसका पोषक नहीं है। वेद कहता[1] है–सर्ग से पूर्व स्वधा [प्रकृति] के साथ चेतन ब्रह्म विद्यमान रहता है; कारण के साथ एकीभूत जगत् सर्गकाल में तेजोमय चेतन के सामर्थ्य से प्रादुर्भूत होजाता है। परमात्मा का संकल्प जगत् का प्रथम कारण है। क्रान्तदर्शी ऋषि विचारपूर्ण बुद्धिद्वारा अव्यक्त में व्यक्त के इस सम्बन्ध को जानलेते हैं। इसप्रकार वेद ने इस तथ्य को स्पष्ट कहा, कि चेतन के सामर्थ्य से जड़प्रकृति कार्य जगद्रूप में परिणत होती है, स्वतः नहीं।

इस अर्थ की दृढ़ता के लिए शिष्य की जिज्ञासा का आशय है, कि प्रकृति का ऐसा स्वभाव हो, कि वह जगत् के रूप में परिणत होजाती है, उसके लिये किसी चेतन की प्रेरणा अपेक्षित नहीं। किसी वस्तु के स्वभाव में कोई बाधा नहीं डाली जासकती। अयस्कान्त [चुम्बक] लोह धातु का आकर्षण करता है, यह उसका स्वभाव है, वहां कोई चेतन-प्रेरणा नहीं है। प्रकृति का स्वभाव है–जगद्रूप में प्रादुर्भूत होजाना; इसमें चेतन की प्रेरणा का कोई अवसर नहीं।

आचार्य ने समाधान किया, यह केवल तर्क पर आधारित कथन ठीक नहीं। कारण यह है, कि इसप्रकार जगत् की रचना न होपायेगी। इस रचना में एक निश्चित व्यवस्था देखी जाती है। ऐसी व्यवस्था विचारपूर्वक–ज्ञानपूर्वक कार्य किये जाने पर सम्भव होती है। जगत् की प्रत्येक रचना का कोई विशिष्ट प्रयोजन दिखाई देता है। लोक में चेतन मानवद्वारा की गई रचनाओं में यह सब [व्यवस्था व प्रयोजन आदि] अवश्य देखा जाता है। घर की रसोई में आटा दाल चावल घी मसाला लकड़ी बर्त्तन आदि सब व्यवस्था के साथ रक्खे हुए होते हैं, यह एक रचना है, और इसमें प्रत्येक

---

१. देखें–ऋग्वेद [१०।१२९।२–४], इन ऋचाओं की विस्तृत व्याख्या के लिये द्रष्टव्य –'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ३५२–३६१।

का विशिष्ट प्रयोजन है। व्यापारी की दूकान में सब सामान व्यवस्थितरूप से लगा है, सबका प्रयोजन है। एक मकान की रचना में प्रत्येक सामग्री की व्यवस्था और उसकी बनावट की विशेषताओं का प्रयोजन स्पष्ट देखा जाता है। यह न केवल मानवरचनाओं में, अपितु तिर्यक् प्राणियों की रचनाओं में भी यह व्यवस्था व प्रयोजन दृष्टिगोचर होते हैं। प्रसव से पूर्व सामान्य चिड़ियां अपने घोंसला बनाने में तत्पर देखी जाती हैं, बया नाम का छोटा-सा पक्षी, सुन्दर स्थायी घोंसला बनाता है। ऐसी रचना जिनमें व्यवस्था व प्रयोजन स्पष्ट दिखाई देते हैं, चेतनद्वारा की जाती हैं, यह लोकसिद्ध है। निश्चित है, कि व्यवस्था के साथ किसी विशेष प्रयोजन से रचना करना चेतन का धर्म है, जड़तत्त्व के स्वभाव से ऐसा होना सम्भव नहीं। विश्व की रचना विविध रूपों में हैं, और सबका एक विशिष्ट प्रयोजन है, ऐसी रचना विचारपूर्वक परीक्षण के साथ की-जासकती है। किसी जड़वस्तु का स्वभाव एकरूप रहता है, चुम्बक लोहे को केवल आकृष्ट कर सकता है, अन्य कुछ नहीं; फिर केवल लोहे को आकृष्ट करता है, अन्य वस्तु को नहीं। पर जड़ उपादानतत्त्व अगणनीय विविधरूपों में परिणत हुआ है, इसके लिये अयस्कान्त के स्वभाव की तुलना निराधार है। इससे निश्चित होता है, चेतन सह-योग के विना केवल जड़ उपादानतत्त्व से—उसका ऐसा स्वभाव मानकर—जगत् की रचना सिद्ध नहीं होपाती।

मकड़ी अपने देह से जाला बनाती है, पर देह से यह जाला तभी बनसकता है, जब वहां इस क्रिया का प्रेरक चेतन आत्मतत्त्व बैठा रहता है, मरा हुआ मकड़ी का देह जाला नहीं बनासकता, यद्यपि वे तत्त्व तब भी वहां विद्यमान रहते हैं। ऐसे ही कारणरूप में विद्यमान जगत् चेतन की प्रेरणा के विना जड़ उपादानतत्त्व के स्वभावमात्र से कार्य-रूप में परिणत नहीं होसकता; तब जगत् की रचना अनुपपन्न होजायगी, इसलिये तर्क पर आधारित उक्त कथन ठीक नहीं है ॥१॥

आचार्य सूत्रकार उक्त अर्थ [आनुमान के असांगत्य] में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

गतसूत्र से 'अनुपपत्तेः' पद की इस सूत्र में अनुवृत्ति है। [प्रवृत्तेः—अनुपपत्तेः] प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से [च] और। और प्रवृत्ति की अनुपपत्ति—असिद्धि से आनुमान कथन ठीक नहीं।

केवल जड़ उपादानतत्त्व से चेतन के अनुग्रह विना स्वतः जगत् की रचना तो दूर रही, जड़ में स्वतः प्रवृत्ति ही नहीं होसकती। किसी कार्यविशेष के लिये की जाने वाली विशिष्ट क्रिया का नाम 'प्रवृत्ति' है। जड़तत्त्व में ऐसी क्रिया चेतनसम्बन्ध से होपाती है स्वतः नहीं। लोक में अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध है, कि ऐसी क्रिया का

करना चेतन का धर्म है। चेतन आत्मा यह विचार करता है, कि अमुक कार्य मुझे करना है, इसके बनाने में क्या कारणसामग्री अपेक्षित होगी। वह उस सामग्री को एकत्रित करता है, और उसमें परिणाम के अनुकूल क्रिया–प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। उसके अनुसार अभिलषित परिणत-कार्य सामने आजाता है। घड़ा बनाने के लिये मट्टी चाक डण्डा जल धागा आदि सामग्री में घट कार्य के अनुकूल समस्त क्रिया कुम्हार द्वारा उत्पन्न कीजाती हैं, यह सामग्री स्वतः न घटरूप में परिणत होती, न उसके अनुकूल इसमें कोई क्रिया होती, यह सब व्यवस्था व क्रिया चेतन कर्त्ता द्वारा की जाती हैं। जड़तत्त्व में इसप्रकार का विवेचन आदि करना सम्भव नहीं, क्योंकि उसमें ज्ञानशक्ति का अभाव रहता है। जगत् का उपादानतत्त्व जड़ है, उसमें कार्य के लिये उक्त प्रेक्षण का होना असम्भव है, तब वह किसी तत्त्व में या अपने आपमें परिणाम के लिये क्रिया उत्पन्न नहीं करसकता। ऐसी क्रिया–प्रवृत्ति के अभाव में परिणाम कैसा? जब जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति सम्भव नहीं, तब उससे जगत् की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः अनुमानमात्र पर आधारित उक्त कथन संगत नहीं कहा जासकता।

लोक में कोई ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता, जहां जड़तत्त्व में स्वतः क्रिया का होना प्रतीत होता हो। रथ आदि जड़ पदार्थ एवं मृत शरीर आदि में स्वतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। प्रत्यक्ष के अनुसार ही इन्द्रियातीत पदार्थों के विषय में अनुमान करना संगत समझा जाता है। फलतः जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति का होना असामञ्जस्यपूर्ण है ॥२॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में देखा जाता है, कि अनेक जड़ पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति होती है। बछड़े के लिये दूध गाय आदि के थनों में स्वतः प्रवृत्त होजाता है, जल स्वतः बहते रहते हैं। जड़ उपादानतत्त्व में ऐसी ही प्रवृत्ति मानी जासकती है। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया—

पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि ॥३॥

[पयोऽम्बुवत्] दूध और पानी के समान [चेत्] यदि, [तत्र] वहां [अपि] भी। दूध और जल के समान जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति हो जायगी, ऐसा यदि कहो, तो वहां भी चेतन का सहयोग है, यह निश्चित समझना चाहिये।

आशंका का अभिप्राय है, कि दूध जैसे बच्चे के लिये स्वतः थनों द्वारा बहने लगता है, और एक नियत स्थितिवाले दही आदि की रचना करता है; तथा जल स्वतः स्रोतों नदी नालों में बहता रहता है, एवं एक नियत स्थितिवाले ओले आदि की रचना करता है; ऐसे जड़ उपादानतत्त्व जीवात्माओं के भोग आदि सम्पादन के लिये स्वतः प्रवृत्त हो जगत् की रचना करेगा। इसमें चेतन के सहयोग की अपेक्षा प्रतीत नहीं होती।

सूत्रकार ने समाधान किया, इन दृष्टान्तस्थलों में भी चेतन का सहयोग है'

स्तनों में दूध की प्रवृत्ति, देह में चेतन आत्मा के रहने पर सम्भव है। बच्चे के पोषण के लिये मातृवात्सल्य के साथ चेतनसंकल्प से दूध का प्रस्रव स्तनों में होता है, अन्यथा नहीं। बच्चे की चाहना पर भी अनेक बार वात्सल्य की शिथिलता अथवा दूध की कमी से दूध पिलाने में गाय भैंस को लात मारते देखा गया है। यदि दूध की स्वतः प्रवृत्ति हो, तो ऐसा होना सम्भव नहीं। उस प्रवृत्ति में निश्चित रूप से चेतन आत्मा निमित्त है। इसीकारण माता के मृत देह से क्षीरपायी बच्चा कभी दूध नहीं पासकता। कुछ समय पहले दूध पिलाकर अचानक मर जाने वाली गाय के अयन में दूध की मात्रा रहने पर भी बच्चे के लिये स्तनों में दूध स्रवित होता नहीं देखा जाता। शवच्छेदक्रिया से इस बात की परीक्षा की गई है, कि बच्चेवाली मादीन की दुग्ध पेशियों में अचानक मर जाने के बाद दूध की मात्रा रहती है। इससे यह निश्चित होता है, कि दुग्धस्राव में चेतनसहयोग आवश्यक है। दूध का दही परिणाम स्वतः नहीं होता, चेतनद्वारा की गई अनेक क्रियाओं के अनन्तर दूध का दही बनता है।

जल द्रव होने से स्वभावतः निम्नानुसारी [ढलान की ओर बहनेवाले] होते हैं। प्रत्येक द्रव पदार्थ ऐसा होगा। पदार्थों का ऐसा विशिष्ट स्वभाव किसी चेतनद्वारा व्यवस्थित है। उसी व्यवस्था के अनुसार निमित्तान्तरों से इनमें परिवर्त्तन भी देखा जाता है। अधिक शीत से जहां पानी जमकर ओला वा हिम के रूप में उपलब्ध होता है, वहां अधिक ताप से वाष्प बनकर अन्तरिक्ष में फैल जाता है; जल का रूप न रहने पर बहाव समाप्त होजाता है। तात्पर्य यह है, कि पदार्थों की इन नियमित व्यवस्थाओं के पीछे किसी चेतन के सहयोग को आवश्यक रूप से मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है, क्योंकि जड़तत्त्वों में उक्त हेतुओं के कारण इन नियमित व्यवस्थाओं के सम्पादन करने का सामर्थ्य नहीं रहता। क्योंकि वहां ज्ञान व विवेचना का अभाव है।

शास्त्र में तो इस तथ्य को स्पष्ट कहा है, कि विश्व का संचालन, लोक-गति का नियन्त्रण अन्तर्यामी चेतन ब्रह्मद्वारा होता है। बृहदारण्यक उपनिषद [३।७।४] में कहा—'योऽपोन्तरो यमयति' जो जलों के अन्दर रहता हुआ उनका नियन्त्रण करता है। ऐसा वह ब्रह्म है। आगे [बृ० ३।८।९] बताया—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते···प्रतीच्योऽन्याः' हे गार्गि! इस अविनाशी चेतनतत्त्व ब्रह्म के प्रशासन में पूरब और पश्चिम की तथा पुरानी और नई विभिन्न नदियां निरन्तर बहरही हैं। इससे जलों अथवा अन्य जड़ पदार्थों में चेतननिरपेक्ष स्वतः प्रवृत्ति का होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। फलतः ये दृष्टान्त जगत् के जड़ उपादान तत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध करने के लिये सर्वथा असमर्थ हैं ॥३॥

यदि दुर्जनतोषन्याय से जड़ उपादानतत्त्व में स्वभावतः प्रवृत्ति मानली जाय, तो निवृत्ति का होना असंभव है, तब सदा संसार इसी रूप में बना रहना चाहिये, प्रलय कभी न हो। पर संसार में बनना [illegible] इन दोनों अवस्था देखी जाती हैं। इस

आशय से सूत्रकार ने उक्त विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

[व्यतिरेकानवस्थितेः] व्यतिरेक–विपरीत की न अवस्थिति से [च] और [अनपेक्षत्वात्] न अपेक्षा होने से (आनुमान अयुक्त है)। सर्ग से विपरीत प्रलय की अवस्थिति न होने से आनुमान स्वतः कारण नहीं; और व्यवस्थापक चेतन की अपेक्षा न होने से प्रलय की अनवस्थिति होगी।

यदि यह मानलिया जाता है, कि जड़ उपादानतत्त्व स्वतः जगत् के सर्ग में प्रवृत्त होता है, यह उसका स्वभाव है; तो जगत् की सर्ग से विपरीत प्रलय अवस्था कभी न आनी चाहिये। कारण यह है, कि जड़तत्त्व का स्वभाव सदा एक रहता है। सर्ग की प्रवृत्ति यदि उपादानतत्त्व का स्वभाव है, तो उसमें स्वतः निवृत्ति धर्म नहीं हो-सकता। ऐसी दशा में जगत् की कभी प्रलय अवस्था न आयेगी। क्योंकि उपादानतत्त्व केवल प्रवृत्ति स्वभाव होने से किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं करता, तब जड़ होने से वह स्वतः अपने प्रवृत्तिस्वभाव का परित्याग नहीं करसकता। केवल चेतनतत्त्व में ज्ञान होने से यह सामर्थ्य रहता है, कि वह विपरीत क्रियाओं को उत्पन्न कर दे।

उपादानतत्त्व का विरूप परिणाम सर्ग है, अव्यक्त दशा से व्यक्त दशा में आजाना जगत्-सर्ग है, यह विरूप परिणाम हुआ। प्रलयदशा सरूप परिणाम है, उस दशा में अव्यक्त उपादानतत्त्व अपने अव्यक्त रूप में बना रहता है, कोई विकार उसमें नहीं आता। उपादानतत्त्व की ये दोनों अवस्था परस्पर विपरीत हैं। सर्ग और प्रलय की क्रमिक व्यवस्था चेतनसहयोग के विना जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः सम्भव नहीं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप विपरीत क्रियाओं को उत्पन्न करना केवल चेतन का धर्म देखा जाता है। जगत् का सर्ग के समान प्रलय भी होता है, यह जगत् में बनना-बिगड़ना दोनों देखे जाने से सिद्ध है। शास्त्र इसका स्पष्ट कथन करता है। ऋग्वेद[१०।१२६।१-२]की ऋचा इस विषय में प्रमाण हैं। मनु के प्रथम अध्याय [५२–७४] में सर्गवर्णन के अनन्तर ८।१८-प्रलय-सर्ग के क्रमिकरूप में होने का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग में गीता के [७।६; १९; ९।७; ११।२; १४।२] अनेक स्थल, तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् [३।२-३; ५।३]के सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं। इस विवेचन से प्रमाणित होता है, कि जड़ उपादानतत्त्व में स्वभावतः प्रवृत्ति नहीं है। चेतन की प्रेरणा से उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति हुआ करती हैं ॥४॥

शिष्य आशंका करता है, जड़ उपादानतत्त्व विना चेतन-अनुग्रह के स्वतः परिणत होता लोक में देखा जाता है। गाय आदि मादीन जानवर घास आदि खाते हैं, वह घास आदि उपादानतत्त्व स्वतः दूध के रूप में परिणत होजाते हैं। ऐसे ही मूलउपादान जड़तत्त्व स्वतः जगद्रूप में परिणत होसकता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

[अन्यत्र] दूसरी जगह [अभावात्] न होने से [च] भी [न] नहीं [तृणादिवत्] तृण आदि के समान। तृण–घास आदि के दूधपरिणाम के समान जड़ उपादान तत्त्व जगद्रूप में परिणत होजायगा, ऐसा भी नहीं कहसकते, क्योंकि गाय आदि मादा के अतिरिक्त बैल आदि का खाया गया घास दूध में परिणत नहीं होता।

चेतन की अपेक्षा के विना मूल जड़ उपादानतत्त्व के कार्यरूप में स्वतः परिणत होने की सिद्धि के लिये जो दृष्टान्त दिया गया है, वह अभिलषित अर्थ को सिद्ध नहीं करता। गाय का खाया गया तिनका पत्ता घास पानी आदि खाद्य यदि विना किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा के स्वतः दूध के रूप में परिणत होजाता है, तो बैल आदि अन्य नर पशुओं द्वारा खाया गया खाद्य भी दूधरूप में परिणत होना चाहिये; पर ऐसा नहीं होता, इसलिये मानना होगा, कि वहां कोई विशेष निमित्त अवश्य है, जिस कारण से गाय में दूधपरिणाम होता है, बैल आदि में नहीं। गाय आदि मादा पशुओं में भी सदा ऐसा नहीं होता, केवल प्रसूता मादा में ऐसा देखा जाता है, इससे निश्चित होता है, कि इसका विशेष निमित्त अवश्य है।

प्रत्येक प्राणी के द्वारा उपयुक्त खाद्य उसके देहांगों का पोषण करने वाले विभिन्न रसों के रूप में परिणत होजाता है। ऐसा ही विशिष्ट मादा प्राणियों में तथा विशेष अवस्थाओं में खाद्य का एक परिणाम दूध है। खाद्य के ये सब परिणाम प्राणियों की केवल जीवित दशा में होते हैं। इससे यह निश्चय होता है, कि खाद्य के इन परिणामों में चेतन का सहयोग आवश्यकरूप से रहता है, अन्यथा अजीवित अवस्था में भी ऐसा होता रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त विशेषरूप से खाद्य का दूधपरिणाम एक अतिसीमित अवस्था में देखा जाता है, वह मादा की केवल प्रसूतावस्था है। विचारणीय है, कि इसी अवस्था में ऐसा क्यों है ? यह स्थिति विचारशील व्यक्ति का ध्यान इस ओर आकृष्ट करती है, कि यह एक ईश्वरीय व्यवस्था है, जिसके द्वारा उस नवजात मासूम बच्चे की उपयुक्त खुराक का प्रबन्ध किया गया है। कौन बुद्धिमान् व्यक्ति इसे विना चेतन-अनुग्रह के स्वतः स्वभावतः होनेवाला कह देगा ? यदि घास आदि तृण स्वभावतः स्वतः दूध में परिणत हुआ करते, तो संसार में दूध की नदियां बहतीं। इसलिये मानना पड़ता है, कि यह अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म परमात्मा की अनुग्रहपूर्ण व्यवस्था का फल है, जो नियमितरूप से संसार में देखा जाता है। इसे स्वतः कहना अज्ञान का द्योतन करना है। फलतः जड़ उपादानतत्त्व का स्वतः सर्ग-प्रलय आदि परिणाम कहना असंगत है ॥५॥

दुर्जनतोषन्याय का आश्रयण कर सूत्रकार ने जड़ उपादानतत्त्व की स्वतः प्रवृत्ति का प्रकारान्तर से समाधान किया—

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

[अभ्युपगमे] स्वीकार करलेने पर [अपि] भी [अर्थाभावात्] प्रयोजन के न होने से। यदि मान भी लिया जाय, कि चेतन-अनुग्रह के बिना स्वभावतः जड़ उपादान-तत्त्व जगत् का कारण होता है, तो भी उससे सर्ग-प्रलय का होना समञ्जस नहीं होता, प्रयोजन के न होने से।

सूत्र में 'अर्थ' पद प्रयोजन का वाचक है। प्रत्येक प्रवृत्ति किसी प्रयोजन को लेकर होती है। जगत् की रचना जीवात्माओं के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिये है। जगद्रचना का यह प्रयोजन है। जड़ उपादानतत्त्व जगत् की रचना के लिये स्वतः प्रवृत्त होता है, यह मानने पर उसके साथ प्रयोजन का सामंजस्य नहीं होता। जगत् का प्रयोजन भोग जीवात्माओं के सांसारिक सुख-दुःखानुभव की अवस्था है। वह जीवात्माओं के कर्मानुसार व्यवस्थित होता है। इसप्रकार की व्यवस्था व विवेचन का करना जड़ उपादानतत्त्व के लिये असम्भव है, यह सब चेतनद्वारा किया जासकता है। जड़ उपादान-तत्त्व को जगत् का स्वभावतः कारण मानलेने पर भी जगत् के प्रयोजन का सामञ्जस्य नहीं बनता; इसलिये ऐसा मानना निर्दोष न होगा।

इस विषय में यह भी ध्यान देने की बात है, कि किसी कार्य के लिये जब कोई प्रवृत्त होता है, तो या तो उसका अपना कोई प्रयोजन होता है, या अन्य के प्रयोजन के लिये प्रवृत्त होता है। जड़ उपादानतत्त्व का अपना कोई प्रयोजन सम्भव नहीं, भोग और अपवर्ग के अतिरिक्त जगद्रचना का अन्य कोई प्रयोजन कल्पना नहीं किया जा-सकता। भोग और अपवर्ग जड़ उपादानतत्त्व के असंभव हैं, इसलिये अपने प्रयोजन के लिये जगद्रचना में उसकी प्रवृत्ति नहीं कही जासकती। मैं परप्रयोजन के लिये जगद्रचना में प्रवृत्त होऊं—ऐसी भावना जड़ उपादानतत्त्व में असंभव है, यह केवल चेतन का धर्म है; इसलिये अपना और पराया दोनों प्रयोजन न रहने से जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः सर्ग-प्रलय की प्रवृत्ति का कहना सर्वथा असंगत है।

जड़ उपादानतत्त्व में जगत्सर्ग की प्रवृत्ति का जनक चेतन ब्रह्म को मानकर उसके विषय में भी प्रयोजन की जिज्ञासा प्रथम [वे० सू० २।१।३२-३३] की गई है। वहां ब्रह्म का निजी प्रयोजन न रहते हुए 'भूतानुग्रह' प्रयोजन कहा गया है, जो जीवात्माओं के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिये सुविधा देना है। सबका नियन्ता व व्यवस्थापक होने से सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म के लिये जड़ उपादानतत्त्व में जगत्-सर्ग की प्रवृत्ति का जनक होना सर्वथा उपयुक्त है ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं, जिनके आधार पर जड़तत्त्व की प्रवृत्ति परप्रयोजन के लिये सिद्ध होती है। एक शल्यविद्ध पुरुष के शल्य को अयस्कान्त [चुम्बक] मणि सामने लाकर बाहर निकाल लिया जाता है। अयस्कान्त जड़-

तत्त्व ने चेतन की अपेक्षा के विना लोहमय शल्य में प्रवृत्ति उत्पन्न कर शल्य के बाहर निकल आने से विद्ध पुरुष का प्रयोजन सिद्ध किया। ऐसे ही चेतन निरपेक्ष जड़ उपादानतत्त्व स्वतः जगत्सर्ग में प्रवृत्त हो जीवात्माओं के भोगादि प्रयोजन का साधक मानलेना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

पुरुषाश्मवदिति चेत् तथाऽपि ॥७॥

[पुरुषाश्मवत्] पुरुष–अश्म (अयस्कान्त) के समान [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो), [तथापि] तो भी (उक्त कथन असंगत है)। पुरुष के लगी सुई को चुम्बक सामने कर निकाल लेने के समान चेतननिरपेक्ष जड़ उपादान स्वतः प्रवृत्ति से जीवात्माओं का भोग आदि प्रयोजन सिद्ध करेगा; ऐसा कहना भी दोषरहित नहीं है।

देह के किसी भाग में सुई घुस जाती है, अथवा बाण का लोहमय अग्रभाग बिंध जाता है, जिनका सुखपूर्वक निकालना कठिन होता है। अयस्कान्त [चुम्बक] मणि उसके सामने लाकर रखदी जाय, तो वह सुई व शल्य को अनायास बाहर खींच लेती है। चेतननिरपेक्ष चुम्बक स्वतः स्वभावमात्र से सुई व शल्य में प्रवृत्ति उत्पन्न कर पुरुष [सूची–शल्यविद्ध] के सुख अथवा दुःखनिवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करता है। इसीप्रकार चेतन की अपेक्षा किये विना मूल जड़ उपादानतत्त्व स्वतः स्वभावतः जगद्रचना में प्रवृत्त हो जीवात्माओं के भोग आदि प्रयोजन को सिद्ध किया करता है। जड़ उपादानतत्त्व की स्वतः प्रवृत्ति का यह परप्रयोजन बन जाता है, तब वहां प्रयोजन का अभाव नहीं, फिर जड़ उपादानतत्त्व की जगत्सर्ग के लिये स्वतः प्रवृत्ति युक्तियुक्त मानी जानी चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने कहा, यह दृष्टान्त भी उक्त कथन को निर्दोष सिद्ध नहीं करता, इसपर गंभीरता से विचार करें। चुम्बक का स्वभाव लोह का केवल आकर्षण करना है, यह उसका नियत स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु का अपना एक स्वभाव होता है, वही उसका वैशिष्ट्य है, उसमें किसी रद्दोबदल की संभावना नहीं। प्रकाश अंधेरे को हटाता है, चक्षु रूप को देखता है, इनमें कोई परिवर्त्तन नहीं। फलतः चुम्बक लोहे का आकर्षक है, निवर्त्तक व अवरोधक नहीं। यह उसका स्वभाव है। ऐसे ही यदि जड़ उपादानतत्त्व का सर्ग-प्रवृत्ति स्वभाव है, तो वहां निवृत्ति की संभावना नहीं। यदि निवृत्तिस्वभाव है, तो प्रवृत्ति की संभावना नहीं होसकती। तब जगत् के सर्ग और प्रलय की व्यवस्था नहीं रहेगी, चौथे [वे० सू० २।२।४] सूत्र में इसका विवेचन किया गया है। यदि मूल जड़ उपादान में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों स्वभाव माने जायें, तो ये स्वभाव होने के कारण जगत् का सर्ग कभी संपन्न न होगा, फिर कहां जगत् और कहां उसका प्रयोजन ? सब आधार ही विलीन होजाता है। इसलिये जड़ उपादानतत्त्व में स्वभावतः प्रवृत्ति मानना दोषयुक्त है।

चुम्बक के दृष्टान्त में एक बात और ध्यान देने की है, जहां लोहे को आकर्षण

करने की आवश्यकता है, वहां चुम्बक स्वयं आकर उपस्थित नहीं होता। कोई चेतन व्यक्ति उसे वहां लेकर आता है, और उसका उपयोग करता है। चुम्बकद्वारा लोहे की आकर्षण क्रिया में चेतन के उस प्रयास की उपेक्षा नहीं कीजानी चाहिये। तब इस आकर्षण क्रिया को सर्वथा चेतननिरपेक्ष नहीं कहा जासकता। चेतन का इसमें सहयोग अवश्यम्भावी है। ऐसे ही जड़ उपादान की प्रवृत्ति चेतन की अपेक्षा के विना असंभव है। समस्त जड़ पदार्थों में जो उनकी अपनी विविध विशेषताएं हैं, जिन्हें उनका 'स्वभाव' कहा जासकता है, उनका विधाता भी वही चेतनतत्त्व है, चुम्बक में आकर्षण स्वतः उत्पन्न होगया हो, ऐसा कहना या मानना तथ्य से परे है।

सूत्र के 'पुरुषाश्मवत्' पद की व्याख्या में आचार्य शंकर ने 'पुरुष' और 'अश्म' पद के पृथक् दृष्टान्त दिये हैं। 'पुरुष' पद से अन्धपंगुन्याय का अवतार किया है। अन्धा पंगु को अपने ऊपर बिठाता है और पंगु उसे मार्ग दिखाता है, दोनों परस्पर सहयोग से अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसे प्रकृति और पुरुष के परस्पर सहयोग की तुलना में सांख्यसिद्धान्त बताकर दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया है।

वस्तुस्थिति यह है, कापिल सांख्यसूत्रों [षडध्यायी तथा तत्त्वसमास] में अन्धः पंगु दृष्टान्त का कोई संकेत नहीं मिलता। महाभारत के लम्बे सांख्यविषयक वर्णनों में इसका कहीं उल्लेख नहीं हैं। बौद्धकाल में कतिपय सांख्यसिद्धान्तों को अन्यथा प्रस्तुत करने की भावनाओं का पता लगता है। संभवतः उसी काल में जगत्सर्गविषयक सांख्य-सिद्धान्त को अपने अभिलषितरूप में प्रस्तुत करने की भावना से उक्त न्याय की उद्भावना की गई। ईश्वरकृष्ण ने उन्हीं संस्कारों के वशीभूत हो 'सांख्यसप्तति' नामक अपनी रचना में इस न्याय का आश्रय लेकर जगत्सर्ग का उल्लेख किया। आचार्य शंकर ने उस आधार पर यहां सांख्य का खण्डन किया।

प्रस्तुत प्रसंग में मुख्य विचारणीय विषय यह है, कि जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति होती है, अथवा चेतन की प्रेरणा से ? स्वतः प्रवृत्ति को बताने के लिये अन्ध-पंगु दृष्टान्त दिया गया है। सोचिये, यह दृष्टान्त इस विषय में कहां तक सहयोग देता है। अन्धस्थानीय जड़ प्रकृति है, पंगुस्थानीय चेतन पुरुष। यह स्पष्ट है, कि अन्धे पर सवार होकर पंगु उसे मार्ग दिखाता है। इसरूप में यह दृष्टान्त उल्टा यह सिद्ध करता है, कि जड़ उपादानतत्त्व को चेतन पुरुष प्रेरित करता है। अन्धे को मार्ग दिखाना, उसे प्रेरित करने के अतिरिक्त और क्या होसकता है ? आचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या में पुरुष का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह वस्तुस्थिति में सांख्य का अभिमत नहीं। आचार्य यह समझता है, कि कपिल ने जड़ उपादानतत्त्व में चेतन के सहयोग विना प्रवृत्ति को माना है, यह समझना ही मूलतः भ्रान्त है[१]। इसके आधार पर

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें, 'सांख्यसिद्धान्त' पृ० १७६–१८४।

आचार्यद्वारा किया गया कापिलसांख्य का प्रत्याख्यान सब असंगत होजाता है। सूत्रकार का यहां यह आशय प्रतीत नहीं होता, कि जगत् के जड़ उपादानतत्त्व की जगह चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादान बताया जाय; इन सूत्रों का केवल यह निर्णय करने में तात्पर्य है, कि जड़ उपादानतत्त्व में चेतन की प्रेरणा के विना स्वभावतः प्रवृत्ति होना संभव नहीं। इसी आधार पर चेतन ब्रह्म का अस्तित्त्व स्पष्ट होता है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जड़ उपादानतत्त्व की अपनी शक्तियां क्यों न मानली जायें, जिसकी शक्ति होती है, वह उसका स्वामी–अध्यक्ष–व्यवस्थापक रहता है। अपनी शक्ति होने से प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यवस्था जड़उपादानतत्त्व स्वयं कर लेगा, अन्य व्यवस्थापक अनावश्यक है। तब जड़ उपादान में स्वतः प्रवृत्ति-निवृत्ति होने से सर्ग-प्रलयपरिणाम होता रहेगा। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

[अङ्गित्वानुपपत्तेः] अङ्गी-स्वामी होने की अनुपपत्ति–असिद्धि से [च] भी। जड़ उपादानतत्त्व का अङ्गी-व्यवस्थापक होना असिद्ध होने से उसका स्वतः सर्ग-प्रलय-परिणाम अयुक्त है।

जड़ उपादानतत्त्व के जगद्रूप में परिणत होने से परिणामरूप शक्ति जड़ उपादान में है, यह ठीक है, पर वह स्वयं उसका व्यवस्थापक अधिष्ठाता नहीं होसकता; क्योंकि वह जड़ है अचेतन है। शक्ति अपनी हो या पराई, उसकी व्यवस्था करना चेतन का कार्य है। मूलउपादानतत्त्व जड़ होने से सर्ग-प्रलयपरिणाम की शक्ति को व्यवस्थित कैसे करपायेगा। व्यवस्था के लिये सर्ग-प्रलय के अवसर को जानना आवश्यक है। जो जड़ है, कुछ भी नहीं जानपाता, वह यथार्थरूप से उस अवसर एवं कालविशेष को जान सकेगा, यह कैसे माना जासकता है। पर सर्ग-प्रलयपरिणाम यथावसर सुव्यवस्थितरूप से होता रहता है, यह शास्त्रद्वारा निश्चित है। इससे ज्ञात होता है, इस सब व्यवस्था का व्यवस्थापक कोई सर्वज्ञ चेतनतत्त्व होना चाहिये; जड़ उपादान का अङ्गी–स्वामी–व्यवस्थापक–अधिष्ठाता होना अनुपपन्न है, इसलिये वह चेतननिरपेक्ष रहकर स्वतः सर्ग-प्रलयरूप में परिणत नहीं होसकता।

जगत् का मूलउपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है। यद्यपि ये त्रिगुण चेतन ज्ञाता के साक्षात् अङ्ग नहीं हैं, पर त्रिगुण का स्वामी अधिष्ठाता व्यवस्थापक होने से उस ज्ञाता को शास्त्र में 'गुणी' कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।१६] में बताया–'स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः' वह विश्वकर्त्ता सर्वान्तर्यामी नित्य ज्ञाता है, जो काल का काल, गुणी और सर्वज्ञ है। गुणों का स्वामी होने से गुणी, एवं अंगों का स्वामी होने से वह अङ्गी है। ऐसे आधार पर सूत्र के 'अङ्गी' पद का यहां स्वामी, अधिष्ठाता, व्यवस्थापक अर्थ किया गया है। ऐसा अङ्गी जड़ उपादानतत्त्व स्वयं

नहीं होसकता, क्योंकि वह 'ज्ञः' ज्ञाता–चेतन होना चाहिये। जड़तत्त्व में दो विरोधी धर्मों का होना शास्त्रद्वारा सर्वथा असंगत है। इसलिये भी प्रकृति को प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप दोनों धर्मवाली मानाजाना किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं। प्रसंगानुसार सूत्रकार का यही आशय प्रतीत होता है। इस सूत्र की अन्य व्याख्या चिन्तनीय है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपादानतत्त्व व्यवस्थापक न रहो, पर उस अवसर–काल को ही व्यवस्थापक अनुमान कर लिया जाय, तो कैसा है ? विशेष ऋतुओं में ओषधि वनस्पति आदि का फूलना-फलना देखा जाता है, जो कालद्वारा व्यवस्था होने का अनुमान कराता है। जो वस्तु जिस काल में उत्पन्न होनी चाहिये, उसमें उत्पन्न होजाती है, और नियत काल में उसका प्रलय। इससे कालकृत व्यवस्था का अनुमान होता है। कहा भी है–'कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः' [म० भा०, १।२४८; गो० पु० सं०]। आचार्य ने समाधान किया–

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

[अन्यथा] अन्यप्रकार से [अनुमितौ] अनुमान करने पर [च] भी, [ज्ञशक्ति-वियोगात्] ज्ञातृशक्ति के वियोग–अभाव से। अन्यप्रकार से–काल को व्यवस्थापक मानने के रूप में–अनुमान करने पर भी सर्ग-प्रलय की व्यवस्था सम्भव नहीं, क्योंकि काल में ज्ञातृशक्ति का अभाव है।

जड़ उपादानतत्त्व के सर्ग-प्रलयपरिणाम की व्यवस्था के लिये काल का अनुमान करना युक्त नहीं है, क्योंकि वहां भी ज्ञातृशक्ति का अभाव है, उपादानतत्त्व के समान काल भी ज्ञाता नहीं, अपितु जड़ है, सर्ग-प्रलयपरिणाम की व्यवस्था करना उसके लिये अशक्य है। व्यवस्था चेतन का धर्म है, यह एक नियत सिद्धान्त है। ऋतु के अनुसार विविध ओषधि वनस्पति फूलती-फलती हैं, यह व्यवस्था परब्रह्म परमात्मा की है, इस व्यवस्था का कारण काल नहीं कहा जासकता। ऋतु आदि रूप में व्यवहृत काल स्वतः क्या वस्तु है ? इसका गम्भीर विवेचन इस निर्णय पर पहुंचाता है, कि जगत् की व्यवस्था के कारण होने में इसका कहीं अवकाश नहीं[1]। दर्शन की प्रारम्भिक प्रक्रिया में काल का कारणरूप में वर्णन तत्त्व की यथार्थता को समझने के लिये एक साधनमात्र है। इसकी गणना जड़वर्ग में है, इन सबका अधिष्ठाता–व्यवस्थापक एकमात्र चेतन ब्रह्म है–'यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः' [श्वे० १।३] एकमात्र परब्रह्म परमात्मा विश्व के समस्त प्रकृति आदि कारणों का अधिष्ठाता है। काल आत्मा आदि सबका उसीमें समावेश समझना चाहिये।

---

१. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखें–सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य, [उदयवीर शास्त्री-कृत], अध्याय २, सूत्र १२ की व्याख्या।

श्रुति-स्मृति में 'काल' पद का प्रयोग परब्रह्म परमात्मा के लिये होता रहा है, 'काल' को कारण बताये जाने की भावना में यह भी एक रहस्य है। अथर्ववेद में कहा–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः' [१९।५३।१] रथ को अश्व के समान इस समस्त विश्व को चलानेवाला सर्वज्ञ परमात्मा [कालः] है। महत् अहंकार और पांच सूक्ष्मभूत ये सात इसकी डोर हैं, जिससे समस्त विश्व को बांधकर यह संचालित करता है। जगत् के इस संचालन में सहस्रों धुरे हैं, जो लोकरूप हैं। ऐसा वह नित्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा है। इसीप्रकार 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' [श्वे० ६।१६] वह ज्ञाता सबका स्वामी काल का भी काल है। गीता [११।३२] में कहा–'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' इत्यादि। 'कालः सृजति' आदि वचन इसी आधार पर कहे गये हैं। फलतः ऋतु आदि का द्योतक काल सर्ग-प्रलयपरिणाम का व्यवस्थापक नहीं होसकता। ज्ञाता की अवस्था में वह ब्रह्मरूप होने से व्यवस्थापक है। तब मूल जड़ उपादानतत्त्व के स्वतः सर्ग-प्रलयरूप में परिणत होने का प्रश्न नहीं उठता ॥९॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा–

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

[विप्रतिषेधात्] विप्रतिषेध से [च] भी [असमञ्जसम्] अयुक्त है। विप्रतिषेध से भी जड़ उपादानतत्त्व का स्वतः स्वभाव परिणत होना अयुक्त है।

सूत्र के 'विप्रतिषेध' पद का अर्थ यहां विशिष्ट निन्दा के साथ किया गया प्रतिषेध है। अनीश्वरवाद का प्रतिषेध शास्त्र में इसी भावना से किया गया उपलब्ध होता है। सूत्रकार इस अर्थ में इस पद का प्रयोगकर यह प्रकट करना चाहता है, कि शास्त्र अनीश्वरवाद को निन्दनीय समझता है। चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना जड़ उपादानतत्त्व से स्वभावतः जगत् के सर्ग-प्रलय मानना, अथवा चेतनब्रह्म को जड़ उपादानतत्त्व की जगह बैठाकर उसीका परिणाम जगत् को मानना, यह दोनों अनीश्वरवाद हैं। इनमें सर्वज्ञ सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी चेतन ब्रह्म को चुनौती दीजाने की भावना स्पष्ट है। इसका विप्रतिषेध शास्त्र में किया गया–'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' [तै० २।६] जो यह कहता है, कि ब्रह्म नहीं है, यह जगत् अपने जड़ मूलउपादानतत्त्व से चेतन की अपेक्षा विना स्वभावतः उत्पन्न होजाया करता है, ऐसा कहने या माननेवाले का स्वयं अस्तित्व नहीं रहता। इन शब्दों में एक गहरी निन्दा की भावना के साथ अनीश्वरवाद का प्रतिषेध स्पष्ट है। उपनिषत्कार यह प्रकट करना चाहता है, कि ब्रह्म के अस्तित्व को न मानना अपने अस्तित्व को खो देना है, क्योंकि जगत् का यह स्वरूप ब्रह्म की सत्ता स्वीकार किये विना असम्भव है। ऐसी विचारधारा को–जिसमें ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता–गीता [१६।८] में आसुरी विचारधारा बताया है–'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' यह जगत् असत्य है, अप्रतिष्ठित है, ईश्वर आदि कोई

इसका अधिष्ठाता नहीं है। ऐसे विचारवालों को जगत् का अहितकर बताया है [१६।६]। यह भी उक्त विचारों की निन्दा का द्योतक है। इसप्रकार के विप्रतिषेध से—जड़ उपादान-तत्त्व में स्वभावतः जगत्सर्ग आदि की प्रवृत्ति मानकर—चेतन नियन्ता ब्रह्म की सत्ता से नकार करना असमञ्जस है, सर्वथा अयुक्त है। श्रुति-स्मृति जिस अर्थ का प्रतिपादन करें, उसे अवश्य स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि यथार्थता का ज्ञान उनके आधार पर होता है। उसका न मानना व्यक्ति को नास्तिक की कोटि में पटक देता है [मनु० २।१०-११]।

आचार्य शंकर ने इन सूत्रों [१–१०] की व्याख्या कापिलसांख्य के प्रतिवादरूप में की है। अन्तिम सूत्र की व्याख्या से प्रतीत होता है, कि सच-झूठ की चिन्ता न कर किसी तरह सांख्य का प्रत्याख्यान किया जाना चाहिये, और आचार्य इसके लिये पिल पड़ा है। निश्चित ही सूत्रकार का ऐसा आशय रहा हो, इसके लिये सूत्रों में कोई संकेत नहीं मिलता।

सबसे पहली बात यह है, कि कपिल ने अपनी रचना में कहीं ऐसा संकेतमात्र तक नहीं दिया, जिससे यह प्रकट होता हो, कि वह मूलउपादानतत्त्व को चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना स्वभावतः जगत्सर्ग आदि के लिये प्रवृत्त हुआ मानता है। इसके विपरीत उसने अपनी रचना में अधिष्ठाता सर्वान्तर्यामी सर्वकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार किया है[1]। यह सत्य है, कि वह ऐसे किसी ईश्वर को नहीं मानता, जो स्वयं चेतन होकर जड़ जगत् के रूप में परिणत होजाता हो[2]। आचार्य शंकर ने अपनी अशास्त्रीय विचारधारा को ऐसे निराधार प्रत्याख्यानों के सहारे मांजने चमकाने का प्रयास किया है।

भारत के प्राचीन दार्शनिकों में केवल दो [वार्षगण्य और बृहस्पति] आचार्य ऐसे हैं, जो जगद्रचना में किसी ईश्वर या ब्रह्म जैसे माने गये चेतनतत्त्व के सहयोग की अपेक्षा बतलाते हैं। वार्षगण्य का एक सन्दर्भ है—'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणा आदिसर्गे[3] वर्त्तते' आदिसर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति विना चेतन के [अप्रत्यया], पुरुष के द्वारा परिग्रह-अनुग्रह की अपेक्षा न रखती हुई होती है। वेदान्त के उक्त सूत्रों [१–१०] में वार्षगण्य अथवा बृहस्पति के विचारों का विवेचन यथाकथञ्चित् कहा जासकता है, कापिलसांख्य से इनका कोई सम्पर्क नहीं।

---

१. देखें—(१) सांख्यदर्शन, [३।५६-५७ तथा १।६१। प्रथमाध्याय की यह सूत्रसंख्या उदयवीर शास्त्रीकृत 'सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य' के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर अन्य किसी संस्करण में सूत्र देखा जासकता है। (२) सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ ५३–६०।

२. देखें—सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य, १।५७। इस सूत्रसंख्या में ३५ जोड़कर अन्य किसी संस्करण में देख सकते हैं। तथा 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४१।

३. इसके अधिक विवरण के लिये देखें— सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ ६१, तथा १७८-७९।

आचार्य शंकर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में जिसप्रकार सांख्य का प्रत्याख्यान किया है, वह न प्रकरण के अनुकूल है, न सूत्र में वैसा भाव है। आचार्य की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूत्रकार सांख्य के प्रत्येक कथन का प्रत्याख्यान करने के लिये तत्पर होकर इन सूत्रों की रचना कररहा है। पर सूत्रों में कोई ऐसा संकेत नहीं, जिससे सूत्रकार का यह आशय प्रतीत हो। आचार्य शंकर ने इस सूत्र का व्याख्यान प्रारम्भ किया–'सांख्यों का सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध है; कहीं सात इन्द्रियां बताई, कहीं ग्यारह। तथा कहीं महत् से तन्मात्र का सर्ग कहा कहीं अहंकार से। इसीप्रकार कहीं तीन अन्तः-करण बताये, कहीं एक।' अपनी इस स्थापना के लिये आचार्य ने इस विषय में सांख्य का कोई वचन उद्धृत नहीं किया। फिर सूत्रकार ने यदि इसी आशय से यह सूत्र लिखा, तो सूत्रकार के समय में विद्यमान सांख्य के उन ग्रन्थों का यहां निर्देश होना चाहिये, जिनमें ऐसा उल्लेख हो। आचार्य ने इस विषय में कोई निर्देश नहीं किया। इन विचारों के अनुयायी यदि आज भी आचार्य के लेख का सूत्रकारानुमत आधार बता सकते हों, तो बतावें। वस्तुतः आचार्य का यह लेख सर्वथा स्वकल्पित है[1]। व्याख्या के अगले अंश में सांख्य की ओर से जिस पूर्वपक्ष को उभारकर आचार्य ने अपने सिद्धान्त में आनेवाले विरोध का परिहार किया है, वह केवल व्याख्या की कलेवरवृद्धि है ॥१०॥

श्रुति-स्मृति के प्रामाण्य की उपेक्षा करनेवाले के प्रति सूत्रकार जगत्सर्ग का अन्य प्रक्रिया के दृष्टान्तद्वारा चेतननिरपेक्ष जड़ उपादानतत्त्व की स्वाभाविक प्रवृत्ति आदि में असामञ्जस्य को प्रकट करता हुआ कहता है–

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

[महद्दीर्घवत्] महत् और दीर्घ के समान [वा] अथवा [ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्] ह्रस्व और परिमण्डल से। यहां पहले सूत्र से 'असमञ्जस' पद की अनुवृत्ति है। अथवा ऐसे समझें, कि ह्रस्व और परिमण्डल से महत् और दीर्घ की उत्पत्ति के समान चेतन-निरपेक्ष उपादान से जगत्सर्ग होना असमञ्जस है।

सूत्र में 'महत्' पद का प्रयोग त्रसरेणु के लिये हुआ है, दीर्घ और ह्रस्व दोनों पद द्व्यणुक के वाचक हैं, 'परिमण्डल' परमाणु को कहते हैं। जगत्सर्ग की एक प्रक्रिया के अनुसार जगत् के मूलउपादानतत्त्व पृथिवी आदि रूप में चार प्रकार के परमाणु हैं। दो परमाणु मिलकर एक द्व्यणुक को और तीन द्व्यणुक मिलकर एक त्रसरेणु को उत्पन्न करते हैं। इस प्रक्रिया में जैसे चेतन की अपेक्षा विना दो परमाणु से द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकों से त्रसरेणु का उत्पन्न होना असमञ्जस है; ऐसे ही त्रिगुणात्मक मूलउपादान से

---

१. द्रष्टव्य, वाराणसी से प्रकाशित 'वेदवाणी' मासिक पत्र, [वर्ष ८, अंक १२] में हमारा–'सांख्य क ग्यारह इन्द्रियां और वेदान्त' शीर्षक लेख।

स्वभावतः जगत्सर्ग का होना असमञ्जस है। सूत्रकार अगले सूत्रों में इस प्रक्रिया से कहे गये जगत्सर्ग का विवेचन करना चाहता है, इसलिये सूत्र में दृष्टान्तरूप से उसका अवतरण किया है। यह प्रक्रिया क्या है, जगत्सर्ग के लिये इसका अवलम्ब क्यों लिया गया, तथा इसमें क्या असामञ्जस्य है, यह सब विवेचन अगले सूत्रों की व्याख्या में द्रष्टव्य हैं।

आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार यह सूत्र सिद्ध करता है, कि जगत् का उपादानकारण ब्रह्म है। आचार्य ने कहा—दो परमाणु मिलकर द्वयणुक को उत्पन्न करते हैं। कारणद्रव्य के गुण कार्यद्रव्य में अपने सजातीय गुण को उत्पन्न करते हैं। कारण परमाणु में 'परमाणु परिमाण' है, कार्य द्वयणुक में 'अणु परिमाण' है। आगे तीन द्वयणुकों से त्रसरेणु बनता है, उसमें 'महत्परिमाण' है। आचार्य का सिद्धान्त है—जड़ जगत् का उपादानकारण चेतन ब्रह्म है। इस मन्तव्य में यह आपत्ति है, कि ब्रह्म का चैतन्य जगत् में क्यों नहीं आता, जब यह नियम है कि कारणद्रव्य के गुण कार्यद्रव्य में समानजातीय गुण को उत्पन्न करते हैं। आचार्य ने अपने सिद्धान्त के इस दोष का निवारण सूत्रप्रदर्शित दृष्टान्त के आधार पर किया है। आचार्य का कहना है, कि 'परमाणु-परिमाण' द्वयणुक में जैसे समानजातीय परिमाण उत्पन्न नहीं करता, और द्वयणुक का परिमाण त्रसरेणु में समानजातीय परिमाण को उत्पन्न नहीं करता; ऐसे ही जगत् में ब्रह्म का चैतन्य नहीं आता। इसलिये ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर यह दोष नहीं देना चाहिये, कि जगत् में चैतन्य क्यों नहीं आता।

इस विषय में यह ध्यान देने की बात है, कि परमाणु, द्वयणुक और त्रसरेणु तीनों में 'परिमाण' गुण विद्यमान है। यह निश्चित है, कि परमाणु में यदि 'परिमाण' गुण न होता तो वह द्वयणुक में आ नहीं सकता था, और न आगे त्रसरेणु में आता। आचार्य का अभिप्राय है, कि परमाणु का परिमाण द्वयणुक में नहीं है और द्वयणुक का परिमाण त्रसरेणु में नहीं। यदि आचार्य के अभिप्राय के अनुसार परमाणु का परिमाण ही द्वयणुक में आजाता है, और द्वयणुक का त्रसरेणु में; तो उसे समानजातीय परिमाण नहीं कहा जासकता, वह तो 'वही परिमाण' है। साजात्य का अर्थ है—वैशिष्ट्य के साथ समानता का होना। द्वयणुक और त्रसरेणु में परिमाण अपने कारणद्रव्यगत परिमाण का समानजातीय ही उत्पन्न होता है, वही परिमाण अथवा कोई गुणान्तर नहीं होता। उस परिमाण में जो वैशिष्ट्य है, वह कारणगत परिमाण के सहयोगी गुण संख्या-निमित्त से है। कार्यद्रव्य में परिमाण कारणद्रव्यगत परिमाण से ही आता है, परिमाण होने के कारण वह उसका समानजातीय है, यह निश्चित है। यदि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है, तो जगत् में समानजातीय चैतन्य होना चाहिये, भले ही वह किसी वैशिष्ट्य के साथ हो, कुछ भी वैशिष्ट्य न होने पर तो समानजातीयता ही नष्ट होजाती है। जगत् में उपादानकारण के समान छोटा-बड़ा, थोड़ा-बहुत कुछ तो चैतन्य होना ही चाहिये था। पर जगत् की स्थिति तो चैतन्य से सर्वथा विरोधी है। फलतः सूत्रगत दृष्टान्त के आधार पर

चेतन ब्रह्म का जड़ जगत् का उपादान सिद्ध करना दुराग्रहमात्र है।

यह भी एक ध्यान देने की बात है—यह प्रकरण चेतननिरपेक्ष जड़ उपादानतत्त्व की स्वाभाविक जगत्सर्गप्रवृत्ति के प्रत्याख्यान के लिये प्रारम्भ किया गया है, स्वयं चेतन को जगत् का उपादान या परिणामशील बताना प्रकरण का तात्पर्य नहीं है। गत तथा आगामी सूत्रों में उसी अर्थ का विवेचन है। अतः प्रस्तुत सूत्र की आचार्यकृत व्याख्या उत्प्रकरण एवं उत्सूत्र प्रतीत होती है ॥११॥

इस प्रकरण के प्रारम्भिक सूत्र [२।२।१] की व्याख्या में कहा गया है, कि विभिन्न आचार्यों ने जगत्सर्ग की विवेचना के लिये सत्त्वरजस्तमोमय त्रिगुणात्मक प्रकृति और उसके विविध कार्यस्तरों को अधिकारी जिज्ञासुओं के भेद से जगत् के उपादानतत्त्व के रूप में विवृत किया है। प्रकरण के गतसूत्रों [१—११] में यह विवेचन किया गया, कि जगत् का मूलउपादानतत्त्व त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के बिना स्वतः स्वभावतः जगत्सर्ग आदि के लिये प्रवृत्ति नहीं करसकता, अतः उस प्रवृत्ति का कर्त्ता नियन्ता ब्रह्म अवश्य स्वीकर्त्तव्य है।

जगत्सर्ग की व्याख्या के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं को कतिपय क्रान्तदर्शी आचार्यों ने उस मार्ग पर प्रबुद्ध करने के लिये प्रकृति के विशिष्ट कार्यस्तरों को मूलउपादान मानकर जगत्सर्ग की व्याख्या का मार्ग प्रशस्त किया है।

संसार में जीवन के सीधे सम्पर्क में आने वाले चार प्रकार के पदार्थ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु। प्राणी इन्द्रियों द्वारा इनका साक्षात् अनुभव करता है। इनकी वर्त्तमान स्थिति में परिवर्त्तन देखकर यह निश्चय किया गया, कि ये अपने मूलतत्त्वों से परिवर्त्तित होकर इस अवस्था में हैं, जो प्राणी के अनुभव का विषय हैं। आचार्यों ने जाना, इनके मूलतत्त्व अतिसूक्ष्म अदृश्य कण हैं, जो पृथिवी-जल-तेज-वायुरूप हैं। यह जानकर भी कि ये तत्त्व मूलउपादान प्रकृति की कार्य-परम्परा में एक विशिष्ट स्तर पर हैं, आचार्यों ने इन्हें नित्य कहा। यह केवल इसलिए कहा, कि उन्हें प्रारम्भिक जिज्ञासु अधिकारियों की स्थिति के अनुसार इस दिशा में यहीं तक विवेचन प्रस्तुत करना अपेक्षित था। यदि उन पृथिवी आदि के आद्य कणों को वे अनित्य कहते, तो उनके कारणों का विवरण देना उन्हें आवश्यक होजाता। जिस सीमा तक उन्हें तत्त्वों का विवेचन करना अभिप्रेत था, उसका उल्लंघन होजाता, जो जिज्ञासु अधिकारियों की प्रवृत्ति के कारण सर्वथा अवाञ्छनीय था।[1]

जगत्सर्ग की ऐसी व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने दो रूप में प्रस्तुत की है। गौतम

---

१. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखें, हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ १९९—२०४। इस विषय का संकेत प्रस्तुत व्याख्या के प्रारम्भिक पृष्ठों में भी है।

और कणाद ने यह माना है, कि इन पृथिव्यादि कणों [परमाणुओं[1]] में जगत्सर्ग के लिये क्रिया ईश्वर की प्रेरणा से होती है। परन्तु आचार्य बृहस्पति इसे स्वीकार नहीं करता। वह इन कणों में प्रवृत्ति स्वभावतः मानता है। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य ने जिज्ञासा की, गतसूत्र में परमाणु तथा द्वचणुक से यथाक्रम द्वचणुक और त्रसरेणु की उत्पत्ति का दृष्टान्तमुद्रा से उल्लेख किया गया, पर यह उत्पत्ति किस प्रकार होती है और इसमें क्या दोष है? यह स्पष्ट होना चाहिये। इस विवेचन के लिये आचार्य सूत्रकार ने कहा—

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

[उभयथा] दोनों प्रकार से [अपि] भी [न] नहीं, [कर्म] क्रिया, [अतः] इसलिये [तदभावः] उसका—सर्ग का अभाव। चेतन की प्रेरणा के विना परमाणुओं में दोनों प्रकार से क्रिया का होना संभव नहीं, इसलिये सर्ग का अभाव होगा, सृष्टि की रचना न हो सकेगी।

परमाणुओं[2] से द्वचणुक की उत्पत्ति दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होने पर होती है। संयोग क्रिया होने पर संभव है। एक या दोनों परमाणुओं में क्रिया होने पर जब वे परस्पर मिलेंगे, तब द्वचणुक बनेगा। क्रिया की उत्पत्ति दो कारणों से कही जाती है, एक अभिघात दूसरा प्रयत्न। अभिघात [धक्का] स्वयं संयोगरूप है, तब वह भी अन्य क्रिया के विना नहीं होसकता। ऐसी स्थिति में क्रिया को उत्पन्न करने वाला एकमात्र कारण प्रयत्न रहजाता है। यह चेतन का धर्म है, जड़ परमाणुओं में इसका होना असंभव है। सृष्टि से पूर्व जीवात्मचेतन देहरहित हैं, उस दशा में मन आदि के सम्बन्ध

---

१. पृथिवी का सबसे छोटा कण होने के कारण इसे 'परमाणु' कहा है, इसीकारण निरवयव। आगे विश्लेषण करने पर वह पृथिवी न रहेगा। इसीप्रकार अन्य परमाणु भी।

२. न्याय-वैशेषिकवर्णित परमाणु स्वयं नित्य पदार्थ नहीं है। इसका निर्देश योगदर्शन [१।४४] की तत्त्ववैशारदी टीका में उपलब्ध है। न्याय व्यक्त जगत् की उत्पत्ति व्यक्त परमाणुओं से मानता है, 'व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात्' [न्या० द० ४।१।११] वैशेषिकदर्शन का यह नाम यही प्रकट करता है। सांख्यवर्णित 'विशेष' संज्ञक तत्त्व को मूल मानकर जगत् की व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण दर्शन का नाम 'वैशेषिक' है। ये 'विशेष' पृथिवी आदि के आद्य कण हैं, जो तन्मात्रों से परिणत होते हैं—'अविशेषाद् विशेषारम्भः' [सां० सू० ३।१]।

इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें, हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ १७१–७६, तथा २०२।

के विना जीवात्मा का प्रयत्न संभव नहीं। चेतन ब्रह्म को उपादानतत्त्व का प्रेरयिता न मानने पर सर्गादिकाल में अभिघात तथा प्रयत्न दोनों के संभव न होने से परमाणु में क्रिया उत्पन्न न होगी, तब परमाणुओं का संयोग न होगा, और द्व्यणुक उत्पन्न न हो-सकेगा, आगे जगत् भी न बन सकेगा। फलतः चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना पर-माणु उपादान में स्वतः क्रिया होना असंभव है ॥१२॥

शिष्य आशंका करता है, जिन जीवात्माओं के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये परमाणुओं से द्व्यणुकादि क्रमपूर्वक पृथिवीपर्यन्त जगत् की रचना होती है, उन आत्माओं में समवेत अदृष्ट [धर्माधर्म] परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर देते हैं, ऐसा क्यों न मानलिया जाय ? जीवात्म-कर्मों को जगत् का कारण माना गया है। क्रिया होने पर जगत् के अभाव की संभावना नहीं रहती। आचाय सूत्रकार ने समाधान किया—

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

पहले सूत्र से 'न, कर्म, तदभावः' इन पदों की अनुवृत्ति है।

[समवायाभ्युपगमात्] समवाय के स्वीकार से [च] और [साम्यात्] सम होने के कारण [अनवस्थितेः] अनवस्थिति–अव्यवस्था होजाने से। अदृष्ट का आत्माओं में समवायसम्बन्ध स्वीकार होने से परमाणु में क्रिया नहीं होसकती, और परमाणुओं से आत्मा का सम्बन्ध सदा समान होने के कारण सर्ग-प्रलय की व्यवस्था न रहने से जगद्रचना असंभव होगी।

जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट जीवात्माओं में समवायसम्बन्ध से रहता है, परमाणुओं में नहीं। तब वह परमाणुओं में क्रिया का उत्पादक नहीं हो-सकता। यदि यह कहा जाय, कि अदृष्ट वाले आत्माओं का परमाणुओं से सम्बन्ध रहता है, इसकारण आत्मगत अदृष्ट परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सकेगा; तब जगत् के सर्ग और प्रलय की व्यवस्था नहीं रहेगी, क्योंकि आत्माओं का सम्बन्ध तो पर-माणुओं के साथ सदा समानरूप से बना रहता है, तब या तो सदा सर्ग रहे, या कभी सर्ग न होना चाहिये, नियत अवधि में सर्ग और प्रलय का होना असंभव होगा। परन्तु सर्ग-प्रलय का क्रम नियमपूर्वक होना स्वीकार किया गया है, इसकारण अदृष्टवाले आत्माओं का परमाणुओं से सम्बन्ध, परमाणुओं में अदृष्टद्वारा क्रिया की उत्पत्ति का जनक नहीं माना जासकता। अदृष्ट के स्वयं अचेतन होने से यह कहना अप्रा-माणिक होगा, कि वह स्वयं सर्ग-प्रलय की क्रमिक व्यवस्था का नियमन कर सकेगा। फलतः जीवात्माओं का अदृष्ट परमाणुओं में क्रिया का निमित्त न बन सकने के कारण द्व्यणुकादि क्रम से जगत् का उत्पन्न होना असंभव होगा, अतः उपादानतत्त्वों में क्रिया के जनक चेतन सर्वज्ञ ब्रह्म को स्वीकार करना आवश्यक है। वही सर्ग आदि का व्यव-स्थापक व नियामक है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यह क्यों न मानलिया जाय, कि परमाणुओं में क्रिया स्वभावतः होजाती है। उनका ऐसा स्वभाव मानलेने पर क्रिया होने में कोई बाधा न होगी, द्वयणुकादि क्रम से जगद्रचना संभव होजायगी। सूत्रकार ने समाधान किया—

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

पूर्व सूत्रों से 'तदभावः, अनवस्थितेः' पदों की यहां अनुवृत्ति है।

[नित्यम्] नित्य–सदा [एव] ही [च] तथा [भावात्] होने से। तथा स्वभाव के सदा ही रहने से सर्गादि क्रम की अव्यवस्था से रचना का अभाव होगा।

जगत् के उपादानकारण की स्थिति में परमाणु को नित्य स्वीकार किया गया है। क्रिया यदि उसका स्वभाव है, तो वह नित्य होती रहेगी। क्रिया के सर्गानुकूल होने पर सदा सर्ग ही होना चाहिये। यदि क्रिया प्रलय के अनुकूल है तो सदा प्रलय रहेगा। यदि दोनों प्रकार की क्रिया उसका स्वभाव है, तो निरन्तर उनके रहने से न सर्ग रहेगा, न प्रलय। विरुद्ध क्रियाओं का स्वभावतः किसी में निरन्तर रहना संभव नहीं। तब द्वयणुकादि क्रम से जगत्सर्ग का अभाव होगा, फिर सर्ग-प्रलय की व्यवस्था का तो प्रश्न ही नहीं।

यदि कहा जाय, परमाणुओं का क्रिया-स्वभाव होने पर जिस क्रिया की जब अपेक्षा होगी, तभी वह होगी। सृष्टि के समय सर्गानुकूल क्रिया होगी, प्रलय के समय प्रलय के अनुकूल। वस्तुतः ऐसी व्यवस्था किसी चेतन नियामक के विना संभव नहीं। जीवात्मा नितान्त अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने के कारण अनन्त जगत् के सर्ग-प्रलय आदि की व्यवस्था में सर्वथा असमर्थ है। अनेक जीवात्मा विभिन्नप्रवृत्तिक होने से नियमित सर्ग-प्रलय की व्यवस्था के लिये अनुपयुक्त हैं। इसलिये चेतननिरपेक्ष जड़ परमाणुओं में क्रिया असंभव होने से द्वयणुकादि की उत्पत्ति न होगी, और न पृथिव्यादि जगत् बन सकेगा। अतः उपादानतत्त्व में क्रिया के जनक चेतन ब्रह्म को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। वही सर्ग-प्रलय के क्रम का नियन्ता है। जगत् के सर्ग, स्थिति और प्रलय कब तथा कितने समय तक रहते हैं, इस सब व्यवस्था का नियामक सर्वज्ञ चेतनतत्त्व संभव है। अतः ब्रह्म को स्वीकार करना आवश्यक है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रस्तुत प्रकरण में अभी तक यह बताया गया, कि चेतननिरपेक्ष परमाणु में क्रिया सम्भव न होने से द्वयणुकादि क्रमद्वारा जगत्सर्ग न होसकेगा। यह सब उस प्रतिपादन के समान है, जहां चेतननिरपेक्ष–जगत् के मूलउपादानतत्त्व जड़–प्रकृति में प्रवृत्ति का न होना सिद्ध किया गया है। क्या पृथिव्यादिरूप में 'परमाणु' को जगत् का मूलउपादान कहने में और भी कोई दोष है? आचार्य सूत्रकार ने पृथिवी आदि के रूप में 'परमाणु' के वास्तविक स्वरूप को बतलाने की भावना से समाधान किया—

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

[रूपादिमत्त्वात्] रूप आदि गुणों वाला होने से [च] और [विपर्ययः] उलटा है, [दर्शनात्] देखे जाने से। घट आदि के समान परमाणु रूप आदि गुणों वाले हैं, इसलिये नित्य न होकर अनित्य हैं, क्योंकि लोक में रूपादि गुणो वाला पदार्थ अनित्य देखा जाता है।

जिन आचार्यों ने पृथिवी आदि के रूप में परमाणु को जगत् का उपादान कहा है, उन्होंने उसे नित्य भी कहा है। उनका तात्पर्य है, यह स्थूल पृथिवीतत्त्व अनेक अति-सूक्ष्म पृथिवीरूप तत्त्वों से मिलकर बना है। वह अतिसूक्ष्म पृथिवीतत्त्व अपने रूप में एकमात्र कण अथवा अवयव है, पृथिवीरूप में उसका आगे विभाग नहीं होसकता। यदि आगे उसका विश्लेषण किया जायगा, तो वह पृथिवीरूप न रहकर अपने कारण-तत्त्वों में बिखर जायगा। केवल इतने अंश में उसे एकमात्र अवयव अथवा निरवयव कहा गया है। उसको 'परमाणु' कहा, निस्सन्देह पृथिवीरूप में वह 'परम-अणु, है, अत्यन्त छोटा कण है, उससे और छोटा होना सम्भव नहीं। उसको नित्य इसलिये कहा, क्योंकि उन आचार्यों ने तत्त्व के इसी स्तर से जगत्सर्ग की व्याख्या करना उपयुक्त समझा। उनका लक्ष्य तत्त्वजिज्ञासुओं में प्रारम्भिक अधिकारियों को इस दिशा में प्रबुद्ध करना था[1]। परमाणु की इस स्थिति को वस्तुतः नित्य नहीं समझना चाहिये, प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार का यही अभिप्राय है।

लोक में देखा जाता है, रूप आदि विशेषताओं से युक्त समस्त पदार्थ व्यक्त एवं अनित्य हैं। पृथिवी आदि के आद्य कण भी व्यक्त एवं अनित्य हैं। सिद्धान्त पक्ष में समस्त पृथिव्यादि जगत् का मूलउपादानकारण त्रिगुणात्मक प्रकृतितत्त्व है, वह अव्यक्त है। व्यक्त तत्त्व मूल उपादान होना सम्भव नहीं।

गत [१४] सूत्रद्वारा परमाणु में स्वभावतः क्रिया के माने जाने पर क्रिया के नित्य निरन्तर होने की आपत्ति की है। उससे क्रिया के आधारभूत परमाणु को वास्त-विकरूप से नित्य माने जाने की भ्रान्ति किसी को न हो, इस आशय से भी सूत्रकार ने पृथिव्यादिरूप परमाणु की वास्तविक स्थिति को प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट किया है। इस स्पष्टीकरण से सूत्रकार का तात्पर्य पृथिव्यादिरूप में उपलब्ध तथाकथित परमाणु को जगत् का मूलउपादानकारण स्वीकार न करना है। चेतननिरपेक्ष परमाणु से जगत्सर्ग मानने में यह एक अतिरिक्त दोष है, कि वह जगत् का मूलउपादान सम्भव नहीं ॥१५॥

गतसूत्र में प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि के लिये उक्त तथाकथित परमाणु की

---

१. गत सूत्रों की व्याख्या में इस विवरण के मूल आधारों का निर्देश कर दिया गया है, अधिक जानकारी के लिये उनको देखना अपेक्षित है।

नित्यता में सूत्रकार ने अन्य दोष प्रस्तुत किया—

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

[उभयथा] दोनों प्रकार [च] और [दोषात्] दोष से। तथा दोनों प्रकार दोष से परमाणु नित्य नहीं।

लोक में प्रत्येक विचारशील व्यक्ति यह देखता जानता है, कि पृथ्वी में गन्ध रस रूप स्पर्श चारों गुण रहते हैं। जल में गन्ध को छोड़कर शेष तीन, तेज में अन्तिम दो और वायु में केवल एक स्पर्श गुण रहता है। इन्हीं के अनुसार जलादि की अपेक्षा पृथिवी स्थूल, उससे सूक्ष्म जल, उससे सूक्ष्मतर तेज तथा सबकी अपेक्षा सूक्ष्मतम वायु होता है। इनके उपादानकारण परमाणुओं को भी लोकानुभूत पृथिवी आदि के समान माना जाना चाहिये। तात्पर्य यह, कि चार गुणों वाला पृथिवी परमाणु न्यून गुणवाले जलादि परमाणुओं से स्थूल होना चाहिये, तीन गुण वाला जल का परमाणु उससे सूक्ष्म, दो गुणवाला तैजस परमाणु सूक्ष्मतर और एक गुणवाला वायवीय परमाणु सूक्ष्मतम होना चाहिये। परमाणुओं की ऐसी अवस्था उनकी नित्यता में बाधक है। स्थूल सूक्ष्म का तारतम्य उनके सावयव होने को प्रकट करता है, तथा यह स्थिति उनके विभिन्न उपादान-कारणों का बोध कराती है।

यदि यह कहा जाय, पृथिवी परमाणु में केवल गन्ध गुण रहता है, जलीय में रस, तैजस में रूप और वायवीय में स्पर्श। इसप्रकार उनका कलेवर समान रहता है, तब परमाणु का निरवयव और नित्य होना बनसकता है। ऐसा मानने पर भी दोष उसीप्रकार बना रहता है। कारण यह है, कि उस अवस्था में एक गन्ध गुणवाले पृथिवी परमाणु से चार गुणवाली पृथिवी की उत्पत्ति कैसे होजाती है? यह सिद्ध करना कठिन है। ऐसे ही केवल रस गुणवाले जलीय परमाणुओं से तीन गुणवाला स्थूल जल उत्पन्न न होसकेगा, अग्नि में भी स्पर्श गुण का आना असम्भव होगा। तात्पर्य यह, कि जिस कारण में जो गुण नहीं है, उसके कार्य में वह गुण नहीं आसकता। तब वर्त्तमान-रूप में पृथिव्यादि की उत्पत्ति असम्भव होगी। तथाकथित परमाणु में दोनों प्रकार दोष होने से उसका नित्य होना प्रमाणित नहीं होता॥१६॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने कहा—

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

[अपरिग्रहात्] परिग्रह–स्वीकार न करने से [च] और [अत्यन्तम्] अत्यन्त [अनपेक्षा] अपेक्षा नहीं। विवेचित सिद्धान्त वैदिक ऋषियों द्वारा स्वीकार न करने से इसकी सर्वथा उपेक्षा करना उपयुक्त है।

जड़ उपादानतत्त्व चेतन ब्रह्म की प्रेरणा बिना स्वतः जगत्सर्ग आदि के लिये

प्रवृत्त हुआ करता है, इस विचार को पारदर्शी ऋषियों विद्वानों ने कभी स्वीकार नहीं किया, इसलिये इसकी सर्वथा उपेक्षा करनी चाहिये। ऐसा उपादानतत्त्व चाहे मूल-त्रिगुणात्मक प्रकृति हो, अथवा उसके कार्यस्तर का कोई तत्त्व हो। यह भी ज्ञातव्य है, कि कार्यस्तर के किसी तत्त्व को आचार्यों ने वास्तविक स्थिति में कभी नित्य स्वीकार नहीं किया, इसलिये पृथिवी परमाणु आदि को नित्य कहे जाने की उपेक्षा करनी चाहिये। तथाकथित 'परमाणु' कार्यस्तर का तत्त्व है, इसका उपपादन किया जाचुका है।

जिन व्याख्याकारों ने इन सूत्रों [१२–१७] द्वारा न्याय औरवैशेषिकप्रतिपादित परमाणुकारणवाद का प्रत्याख्यान किया है, तथा उसकी अत्यन्त उपेक्षा के लिये अनुमति दी है, वे भी उस प्रक्रिया से शास्त्र में प्रवेश पाये बिना तत्त्वज्ञान में पूर्णता प्राप्त न करसके। ये वैदिक दर्शन हैं। इनके प्रत्याख्यान में सूत्रकार का तात्पर्य रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत शास्त्र के लक्ष्य के अनुसार सूत्रकार केवल यह प्रकट करना चाहता है, कि जड़ उपादानतत्त्व किसी दशा में जगत्सर्ग आदि के लिये स्वतः प्रवृत्ति में समर्थ नहीं होसकता। चेतन ब्रह्म उसका नियन्ता अधिष्ठाता है, इसी रूप में ब्रह्म को जानना अभीष्ट है। इसीमें ब्रह्मजिज्ञासा की पूर्ति होती है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, नियन्ता चेतन ब्रह्म को उसी दशा में मानने की आवश्यकता है, जब उपादानतत्त्व से कार्य परिणत किया जाना माना जाता है, उपादान-तत्त्व चाहे जड़ प्रकृति हो, या उसके कार्यस्तरों के 'पृथिवी-परमाणु' आदि। इसलिये यदि ऐसा मानलिया जाय, कि परमाणु उपादानतत्त्व से द्व्यणुकादि क्रम द्वारा पृथिव्यादि जगत् उत्पन्न न होकर यह परमाणुओं का समुदायमात्र है, परमाणुपुञ्ज ही विशिष्ट जगत् के रूप में प्रतीत होते हैं, तो कैसा है? समस्त जगत् आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप में विभाजित है। पृथिव्यादि आधिभौतिक जगत् कठिन, स्निग्ध, उष्ण और गति-स्वभाव के चार प्रकार के परमाणुओं का समुदाय है। दूसरा आध्यात्मिक भाग देह के अन्दर है–चित्त, इन्द्रियां तथा उनसे होने वाली सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि की अनुभूति। यह बाह्य और आन्तररूप में परमाणुसमुदायमात्र जगत् किसी नियन्ता चेतन ब्रह्म की अपेक्षा नहीं रक्खेगा। शिष्यजिज्ञासा को सूत्रपदों द्वारा प्रकट करते हुए आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

[समुदाये] समुदाय में [उभयहेतुके] दोनों कारणों वाले में [अपि] भी [तदप्राप्तिः] उसकी अप्राप्ति–असिद्धि है। दोनों कारणों वाले समुदाय में भी समुदाय की असिद्धि होगी, अर्थात् चेतन के बिना समुदाय न बन सकेगा।

समस्त भूत-भौतिक बाह्य जगत् और चित्त-चैत्त आन्तर जगत् उपादानतत्त्व परमाणुओं का समुदायमात्र है, तो इसका यह तात्पर्य प्रकट होता है कि परमाणुओं

से किसी विशिष्ट स्थायी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती । तब यह सोचना होगा, कि अदृश्य परमाणुसमुदाय दृश्य जगत् के रूप में कैसे भासता है ? इसके लिये स्वीकार करना होगा, कि परमाणुसमुदाय प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। परमाणुपुञ्ज के क्षणिक परिवर्त्तन-स्वभाव की प्रक्रिया का यह चमत्कार है, कि वह पृथिव्यादि बाह्य जगत् के रूप में भासता है, तथा पृथिव्यादिसमुदाय देहादि के रूप में । तात्पर्य यह, कि आधिभौतिक पृथिवी आदि समुदाय का हेतु परमाणु हैं, और देहरूप समुदाय का हेतु पृथिवी आदि भूत हैं । इसप्रकार परमाणुहेतुक समुदाय पृथिव्यादि और पृथिव्यादिहेतुक समुदाय शरीर, ये दोनों प्रकार के समुदाय असिद्ध हैं, बन नहीं सकते । कारण यह है, कि परमाणु और उनका समुदाय पृथिव्यादि भूत दोनों अचेतन हैं । किन्हीं भी वस्तुओं का समुदाय उनके एकत्रित हुए विना नहीं बनसकता । एकत्रित होने के लिये उनमें क्रिया का होना आवश्यक है । अचेतन वस्तु में स्वतः क्रिया का होना असम्भव है । अतः परमाणुसमुदाय बन नहीं सकता ।

परिवर्त्तन एक क्रिया है, जड़परमाणु में स्वभावतः उसका होना सम्भव नहीं । यदि परमाणु का यह स्वभाव माना जाता है; तो जड़वस्तु का स्वभाव एकरूप देखा जाने से ज्ञानपूर्वक विविधता लाने का सामर्थ्य जड़तत्त्व में सम्भव न होगा । तब परमाणु-समुदायमात्र के स्वभावतः विविध जगद्रूप में परिवर्त्तित होने अथवा प्रतीत होने का कोई कारण नहीं जाना जाता । फलतः न तो परमाणु आदि का समुदाय सिद्ध होता है, और न इस प्रक्रिया के अनुसार जगत् का वैविध्य सिद्ध होता है । सर्वज्ञ नियन्ता चेतन की प्रेरणा से उपादानतत्त्वों में क्रिया का होना सम्भव है । ऐसे चेतन ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है ।।१८।।

शिष्य आशंका करता है, परमाणु में स्वभावतः विभिन्न क्रिया मानलेने से वह एक-दूसरे में क्रिया उत्पन्न कर देगा, तथा एक समुदाय आगे होनेवाले समुदाय में । इसप्रकार समुदाय की सिद्धि होजायगी, और विविध जगत् के प्रतीत होने में कोई बाधा नहीं रहेगी । आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।।१९।।

[इतरेतरप्रत्ययत्वात्] एक-दूसरे का कारण होने से [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह) [न] नहीं, [उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्] उत्पत्तिमात्र का निमित्त होने से । एक-दूसरे का कारण होने से समुदाय सिद्ध होजायगा, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह तो केवल उत्पत्ति का कारण होगा, समुदाय का नहीं ।

इस मान्यता में भोक्ता या नियन्ता के रूप में किसी स्थायी तत्त्व के माने जाने की संभावना नहीं । अन्य कोई वस्तु भी स्थायी नहीं । मूलतत्त्व परमाणु भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं । इसका यही तात्पर्य होगा, कि एकक्षणवर्त्ती परमाणु भाविक्षणवर्त्ती

परमाणु के रूप में परिवर्त्तित होता है। इस परिवर्त्तन को कहा जाता है, कि पूर्वक्षण-वर्त्ती परमाणु उत्तरक्षणवर्त्ती परमाणु को उत्पन्न करदेता है। सूत्र में 'प्रत्यय' पद का अर्थ 'कारण' है। इससे स्पष्ट हुआ कि वस्तु का पहला क्षण अगले का कारण है, इसीप्रकार वह अपने से अगले का। सूत्रकार के समाधान का आशय है, कि इस व्यवस्था में पूर्व-क्षणवर्त्ती परमाणु उत्तरक्षणवर्त्ती परमाणु की केवल उत्पत्ति का निमित्त होगा, अनेक परमाणुओं के समुदाय का नहीं। अचेतन होने से परमाणु में यह विवेचनासामर्थ्य नहीं माना जासकता, कि वह अन्य परमाणु को उत्पन्न करे, और यह सोचे, कि मैं अपने अन्य साथियों को इकट्ठा कर समुदाय को बनाऊँ। उस दशा में प्रत्येक परमाणु का ऐसा स्वभाव होने पर समुदाय का नियमन असंभव होगा। इतने नियत परमाणुओं का कोई समुदाय बने, यह व्यवस्था न होसकेगी। तब भी समुदाय का बनना असिद्ध होगा।

इस विषय में यह भी विचारणीय है, कि एक परमाणु जब अन्य परमाणु को उत्पन्न करने में प्रवृत्त होता है, तब वह सदृश उत्पत्ति करेगा, या विसदृश ? अथवा अनियम से कभी सदृश कभी विसदृश ? पहले विकल्प में वह केवल परमाणु बना रहेगा। द्वितीय में प्रत्येक परमाणु का ऐसा स्वभाव होने से विसादृश्य की कोई व्यवस्था न होगी। अन्तिम विकल्प में कब सदृश और कब असदृश होता है, इसका नियमन असभव होगा, तथा जड़ का ऐसा स्वभाव मानना भी अतर्क्य है। यही स्थिति समुदाय के लिये है। एक समुदाय सदृश, विसदृश अथवा अनियम से अन्य समुदाय को उत्पन्न करता है, तो पहले में वस्तु सदा एकसमान प्रतीत होती रहनी चाहिये। दूसरे में प्रतिक्षण नियम से बदल जानी चाहिये। तीसरे में एक वस्तु कभी कुछ और कभी कुछ अन्य दीखनी चाहिये। घोड़ा अभी हाथी होजाय, वह अभी मनुष्य तथा फिर और कुछ। यह सब लोकस्थिति के विरुद्ध है, तथा इस मान्यता के अनुसार कल्पना कीजाने वाली व्यवस्था के भी विरुद्ध है।

सूत्र के हेतुपद से यह भावना भी ध्वनित होती है, कि यदि परमाणु को उत्पत्ति-स्वभाव माना जाय, क्योंकि इसके बिना वह उत्तरक्षणवर्त्ती परमाणु का कारण नहीं बन-सकता, तो वह केवल उत्पत्ति का निमित्त रहेगा, तब जगत् सदा इसी रूप में दीखता रहना चाहिये, प्रलय की कभी सम्भावना न रहेगी; ऐसा होना प्रमाणविरुद्ध है। इस-लिये परमाणु में स्वभावतः उत्पाद आदि क्रिया का मानना असंगत है। तब समुदाय सिद्ध न होसकेगा। जगत् का होना असम्भव होगा, जो सब प्रमाणों से असिद्ध है।

यदि प्रत्येक परमाणु में क्रिया की विभिन्नता स्वीकार कर उसके आधार पर जगत् के वैविध्य का समाधान किया जाय; तो भी अव्यवस्था से छुटकारा मिलना कठिन है। प्रत्येक परमाणु की विभिन्न क्रिया उत्तरक्षण को उत्पन्न करेगी, परमाणु का ऐसा स्वभाव मानने पर उत्तरक्षण किस्वरूप होगा, इसकी व्यवस्था अशक्य होगी। क्योंकि प्रत्येक परमाणु की अपनी क्रियात्मक विशेषता होने से वह उसी परिवर्त्तन के

लिये बाध्य होगा। जड़ परमाणुओं की विभिन्न क्रिया चेतन प्रेरयिता के विना जगत् के वैविध्य का स्वतः उद्भावन करने में सर्वथा अक्षम हैं। तब किसी समुदाय का सिद्ध होना संभव नहीं ॥१९॥

पूर्वक्षण उत्तरक्षण की उत्पत्ति में कारण है, यह मानकर आचार्य ने समुदाय की असिद्धि का गतसूत्र से उपपादन किया। पूर्वक्षण उत्तरक्षण की उत्पत्ति में कारण नहीं होसकता, इस भावना से सूत्रकार समुदाय की असिद्धि को पुष्ट करता है—

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

[उत्तरोत्पादे] अगले की उत्पत्ति में [च] और [पूर्वनिरोधात्] पहले का निरोध—नाश होने से। अगले क्षण की उत्पत्ति के समय में पहला नष्ट होचुका होता है, तब वह अगले को उत्पन्न ही नहीं करसकता।

पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण है, इस वाक्य में 'क्षण' पद उस क्षण में रहनेवाली वस्तु का द्योतक है। जब प्रत्येक वस्तु एकमात्रक्षणवर्त्ती है, तो यह निश्चित है, कि उत्तरक्षण के उत्पत्तिकाल में पूर्वक्षण नष्ट होजाता है। यदि पूर्वक्षण के उत्पत्तिकाल में ही उत्तरक्षण की उत्पत्ति मानली जाय, तो दोनों के एकसाथ उत्पन्न होने के कारण, उनमें से एक को कारण और दूसरे को कार्य नहीं माना जासकता। यह एक व्यवस्था है, कि एकसाथ उत्पन्न दो वस्तुओं में कार्यकारणभाव नहीं होसकता। इस व्यवस्था का आधार यह है, कि कारण कार्य की उत्पत्ति से नियतपूर्व होना चाहिये, यदि नियमितरूप से कारण कार्य के पूर्व न होगा, तो कार्य उत्पन्न कहां से होगा? इसलिये पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण है, यह मानने पर पूर्वक्षण की स्थिति के अनन्तर उत्तरक्षण अस्तित्व में आयेगा। तब निश्चित है, उत्तरक्षण की उत्पत्ति के अवसर पर पूर्वक्षण नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ, कि कारण के न होने पर कार्य उत्पन्न होरहा है। यह माना जाना सर्वथा अप्रामाणिक एवं असंभव है। ऐसी दशा में कार्यकारणभाव की कोई व्यवस्था नहीं रहसकती। एक परमाणु दूसरे परमाणु का अथवा एक समुदाय दूसरे समुदाय का कारण है, यह कहना असंगत होगा। तब उपादानतत्त्व स्वतः समुदाय का निमित्त होगा, यह कहना तो दूर की बात है, वह उत्पत्तिमात्र का भी निमित्त न होसकेगा।

इस विषय में यह भी एक ध्यान देने की बात है, कि प्रत्येक कार्य कारण से अन्वित [सम्बद्ध] रहता हुआ ही उत्पन्न होता है, तन्तु से पट अथवा मट्टी से घट पैदा होते ही तन्तु और मट्टी नष्ट होते नहीं देखेजाते, प्रत्युत तन्तु और मट्टी का अन्वय पट और घट में बराबर दृष्टिगोचर होता है। यदि उत्तरक्षण के उत्पत्तिकाल में पूर्वक्षण का अन्वय [सम्बन्ध] नहीं है, तो पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण नहीं होसकता। तब वह समुदाय को सम्पन्न कर सकेगा, यह प्रश्न ही नहीं उठता ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि पूर्वक्षण कारण के न रहने पर उत्तरक्षण कार्य

की बलात् उत्पत्ति मानली जाती है, तो इसमें आपत्ति क्या है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

[असति] न होने पर [प्रतिज्ञोपरोधः] प्रतिज्ञा की बाधा है, [यौगपद्यम्] एक-साथ होना है [अन्यथा] नहीं तो। पूर्वक्षण कारण के न होने पर उत्तरक्षण कार्य होजाता है, यह मानने पर प्रतिज्ञा की बाधा होती है, अन्यथा दोनों का यौगपद्य होता है, तब भी प्रतिज्ञाहानि है।

यदि यह स्वीकार किया जाता है, कि पूर्वक्षण–कारण के न होने पर उत्तरक्षण–कार्य होजायगा, तो इस प्रतिज्ञा की बाधा होजाती है, कि पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण है। जब पूर्वक्षण के विना उत्तरक्षण उत्पन्न होजाता है, तो पूर्व उत्तर का कारण कैसे? इसका तो यह अभिप्राय होता है, कि कारण के विना कार्य होजाता है। ऐसी मान्यता होने पर यह भी एक आपत्ति है, कि प्रत्येक कार्य प्रत्येक जगह होसकता है, अथवा होजाना चाहिये, क्योंकि कारण का अभाव सर्वत्र समान है। इससे कार्य-कारण व्यवस्था की प्रतिज्ञा नष्ट होजायगी।

इस भय से यदि अन्यथा–उत्तरक्षण के उत्पत्तिकाल में पूर्वक्षण की सत्ता बनी रहती है, यह–माना जाय, तो पूर्वक्षण का उत्तरक्षणकाल में विद्यमान रहना सिद्ध होजाता है, अर्थात् कार्यक्षण में भी कारणक्षण बना रहता है, इससे यह प्रतिज्ञा बाधित होजाती है, कि प्रत्येक भाव क्षणिक है; क्योंकि कारणवस्तु [भाव] अपने क्षण में और अपने से अनन्तरवर्त्ती कार्यक्षण में विद्यमान रहजाता है। ऐसी मान्यता में न तो कार्य-कारणभाव निर्दोष बनता है और न समुदाय सिद्ध होपाता है। तब परमाणुरूप उपादान-तत्त्वों का समुदायमात्र जगत् को कहकर लोकव्यवहार सम्पन्न नहीं किया जासकता। इसलिये यह समुदायवाद असंगत है ॥२१॥

परमाणुतत्त्वों का समुदायमात्र जगत् को मान, लोकव्यवहार सम्पन्न नहीं होसकता; इसका निरूपण कर आचार्य सूत्रकार ने–जगत् के विनाश की असिद्धि से भी यह वाद असंगत है–बताते हुए कहा—

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

[प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या-निरोध-अप्राप्तिः] प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध की प्राप्ति–सिद्धि नहीं [अविच्छेदात्] विच्छेद न होने से।

प्रतिसंख्यानिरोध–'प्रति' का अर्थ है–प्रतिकूल, विरोधी; 'संख्या' का अर्थ है–बुद्धि, ज्ञान; 'निरोध' का अर्थ है–विनाश। 'विद्यमान भाव को मैं अविद्यमान करता हूं' इसप्रकार किसी भाव के प्रतिकूल बुद्धि 'प्रतिसंख्या' कही जाती है, ऐसी बुद्धि से जो भाव

[वस्तु] का विनाश है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है। इसके विपरीत भावों का जो स्वभावतः विनाश होता रहता है, वह दूसरा निरोध है।

जगत् परमाणुओं का समुदायमात्र है, इस मान्यता में परमाणु एवं समुदाय को अनिवार्यरूप से प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मानना पड़ता है; इसमें परमाणु समुदाय को तथा पूर्वसमुदाय परसमुदाय को परिवर्त्तित किया करता है, यह प्रक्रिया स्वीकार कीजाती है। न्यूनाधिकता का कोई नियामक न होने से यह परिवर्त्तन प्रतिक्षण होता माना जासकता है। गतसूत्रों में बताया गया, कि इस मान्यता के अनुसार पूर्वसमुदाय के सर्वथा नष्ट होने पर उत्तरसमुदाय का उत्पन्न होना संभव नहीं होसकता; क्योंकि कारण के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति माना जाना सर्वथा अप्रामाणिक है। प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है, कि किसी भाव [वस्तु] का सर्वथा विनाश सम्भव नहीं। वस्तु का विनाश या अभाव दो प्रकार से कहा जाता है, एक—वस्तु सत्ता को बुद्धिपूर्वक वस्तु-असत्ता के रूप में समझना। यह उन बुद्धिमान् विद्वान् ज्ञानियों के विषय में है, जो जगत् की क्षणिक अस्थायी सत्ता को वास्तविक असत्ता के रूप में समझसकते हैं। दूसरा प्रकार—वस्तु की वह स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसे समुदायवाद में इसरूप से माना जासकता है, कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील होने से विनाश को प्राप्त होजाती है। इन दोनों प्रकारों में वस्तु के सत्ताक्षण के अनन्तर उस वस्तु का किसीप्रकार का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

सूत्रकार ने इस विचार को यह हेतु देकर असंगत बताया, कि किसी वस्तु का सर्वथा उच्छेद [विच्छेद—विनाश] नहीं होता। उत्पत्ति के समान विनाश भी एक परिवर्त्तन है, परिवर्त्तन-क्रिया आश्रय के विना असंभव है। जैसे उत्पत्ति में कार्य कारणतत्त्वों से अन्वित [संबद्ध—युक्त] रहता है, कारण से अनन्वित कार्य नहीं होसकता, ऐसे ही कार्य का विनाशरूप परिवर्त्तन कारण से अन्वित रहता है। कपड़े के फट जाने पर या घड़े के फूट जाने पर उनके कारणतत्त्व तन्तुओं तथा मृण्मय टुकड़ों को पहले के समान उपलब्ध किया जाताहै।

वस्तु की सामान्य दशा में भी उस वस्तु को पूर्वापरकाल में एकरूप से पहचाना जाता है। यद्यपि वस्तु की क्षणिकता में यह युक्ति दी जासकती है, कि बालकशरीर युवा और युवाशरीर वृद्ध अथवा जीर्ण होजाता है, यह परिवर्त्तन एकसाथ नहीं होता, प्रतिक्षण धीरे-धीरे होता हुआ कालान्तर में अनुभूत होता है; फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है, कि इसमें एक अन्वित धर्मी आवश्यकरूप से विद्यमान रहता है। बाल-युवा-वृद्धशरीर में धर्मों का उपचय-अपचय अवश्य रहता है, जो इस अनुभूत परिवर्त्तन का निमित्त है; पर वहां उस अन्वित धर्मी से नकार नहीं किया जासकता, जिसके आधार पर बालक-युवा-वृद्ध देवदत्त को कालान्तर व देशान्तर में एकरूप से बराबर पहचाना जाता है। दार्शनिक भाषा में इसका नाम 'प्रत्यभिज्ञा' है। इसके आधार पर लोकव्यवहार सम्पन्न होता है, अन्यथा समस्त वैयक्तिक पारिवारिक सामाजिक आर्थिक

आदि सम्बन्धों का विच्छेद होकर लोकव्यवहार असम्भव होगा। यह स्थिति प्रत्येक वस्तु के विषय में स्वीकार्य है। देशान्तर व कालान्तर में उसी वस्तु का होना व पहचाना-जाना इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि प्रत्येक क्षण में वस्तु का विनाश माना जाना सर्वथा असंगत है। अग्नि आदि से दग्ध वस्तुओं में जहां अन्वयी धर्मी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, वहां भी अन्य प्रकारों [विज्ञान आदि प्रक्रियाओं] से उसका जान लेना अशक्य नहीं है। इसलिये समुदायवाद में विभिन्न प्रकारों से वस्तुओं का तथाकथित अभाव [निरोध] सिद्ध न होने के कारण भी यह वाद अमान्य है ॥२२॥

उक्त प्रकार से कहे जाने वाले वस्तुओं के निरोध के प्रत्याख्यान में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

[उभयथा] दोनों प्रकार से [च] और [दोषात्] दोष से। तथा दोनों प्रकार दोष होने से पूर्वोक्त वस्तु-निरोध असंगत है।

जगत् को परमाणुओं का समुदायमात्र मानकर दो प्रकार से जो वस्तु का अभाव होना बताया गया, वहां यह देखना है, कि वह अभाव किसी कारण से होता है, अथवा विना कारण होजाता है? पहले विकल्प के अनुसार समुदायवाद के अपने विचार का विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि वहां उसप्रकार के वस्तु के अभाव का कोई कारण नहीं बताया गया। यदि कोई कारण माना जाता है, तो वह कारण कोई क्षणिक भाव होगा, अथवा अक्षणिक भाव? यह ज्ञातव्य है। यदि वह क्षणिक भाव है, तो उसका भी सकारण निरोध आवश्यक होने से उसके अन्य कारण की कल्पना करनी होगी, उसके भी आगे उसके निरोधकारण की; तब अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि वह कारण अक्षणिक भाव है, तो समस्त भाव क्षणिक हैं, यह कहना असंगत होगा। द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि निरोध को विना कारण स्वीकार किया जाता है, तो सब क्षणिक है सब निरात्म है, इस भावना को जागृत करने के लिये उपदेश करना व्यर्थ है; क्योंकि वस्तु का निरोध [अभाव, नैरात्म्य] विना कारण स्वभावतः होजायगा, उसके लिये अन्य प्रयत्न करना बेकार है। इसलिये दोनों प्रकार से दोषपूर्ण होने के कारण पूर्वोक्त वस्तु-निरोध असंगत है। फलतः समुदायवाद में न तो उत्पत्ति संभव होती, और न तथाकथित वस्तु का विनाश सिद्ध होता, ऐसी दशा में यह वाद सर्वथा अमान्य है ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सिद्धान्तपक्ष में पृथिवी आदि पांच भूत भावरूप से स्वीकार किये गये हैं। समुदायवाद की कल्पना में पृथिवी जल तेज वायु के केवल चार प्रकार के परमाणु बताये, उन्हींका समुदाय समस्त भाव है। इसका तात्पर्य यह हुआ, कि समुदायवाद की कल्पना में आकाश का कोई भाव नहीं है। यह कहां तक संगत माना जासकता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

[आकाशे] आकाश में [च] तथा [अविशेषात्] अविशेष से–समानता से। तथा पृथिव्यादि की समानता से आकाश में वस्तुत्व सिद्ध होता है; इसे अभाव मानना असंगत है। गत सूत्र से 'अप्राप्ति' पद की अनुवृत्ति है, आकाश के अभाव माने जाने की अप्राप्ति–असिद्धि है।

पृथिवी आदि के चार प्रकार के परमाणु और उनसे बना समुदाय एक आवरण की तरह है। आकाश ऐसे आवरण का अभावमात्र है, यह समझना ठीक नहीं है। जैसे गन्ध आदि गुणवाले पृथिवी आदि भाव हैं, ऐसे ही शब्दगुण का आश्रय आकाश भाव पदार्थ है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अभाव का निरूपण अनुयोगी और प्रतियोगी के आधार पर होता है, जिस वस्तु का अभाव हो, वह अभाव का प्रतियोगी, और जिसमें अभाव कहा जाय, वह अभाव का अनुयोगी है। आवरण का अभाव है आकाश, यह कहने पर अभाव का प्रतियोगी आवरण है, अनुयोगी कौन होगा? जहां आवरण का अभाव बताया जारहा हो। इसप्रकार अनुयोगी की भावरूप सत्ता को स्वीकार किया जाता है, आवरणाभाव का अनुयोगी आकाश भाव पदार्थ होगा, अभाव नहीं। जैसे कहा जाता है–यहां घट का अभाव है; इसमें 'यहां' पद से जिस प्रदेश का निर्देश होता है, उसकी सत्ता निश्चित है। ऐसे ही आवरणाभाव के अनुयोगी आकाश की सत्ता से नकार नहीं किया जासकता।

समस्त वैदिक अवैदिक शास्त्रों में आकाश को भाव पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इस विषय के वर्णन उपलब्ध होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस तत्त्व को 'ईथर' नाम से व्यवहृत किया है। उनकी मान्यता है–वायु के होने पर ही शब्द उत्पन्न होता है, इसलिये वह उसीका गुण माना जाना चाहिये। तब शब्द का आश्रय आकाश न होकर वायु कहा जासकता है।

इस विषय में ज्ञातव्य है, कि वस्तुतत्त्व का वर्णन अनेक प्रकार से संभव है। ध्वनि की उत्पत्ति में वायु प्रेरक होने से निमित्त कहा जासकता है और वह ध्वनि का वाहक भी है। वायु के समान अन्य पदार्थ भी ध्वनि के निमित्त व वाहक संभव हैं। पर मूल आधाररूप में ध्वनि की उत्पत्ति आकाशतत्त्व में मानी जानी चाहिये, वाहक पदार्थों की गति अथवा स्थिति आकाशतत्त्व के विना संभव नहीं। वायु आदि पदार्थ गन्धादि का भी वहन करते हैं; इसका यह तात्पर्य नहीं, कि गन्धादि वायु का गुण अथवा धर्म है। केवल वहन किये जाने से शब्द वायु आदि का गुण नहीं माना जाना चाहिये। आधुनिक विज्ञान ने ध्वनि का विद्युत से सम्बन्ध जोड़कर उसकी तरंगित गति को अतितीव्र बना दिया है। रेडियो आदि में यही व्यवस्था है। वहां ध्वनि का वहन विद्युत द्वारा सीधे ईथर [आकाश] तत्त्व में होता है, जो सर्वव्यापक तत्त्व है। विद्युत एवं

प्रकाश आदि की गति एक सेकण्ड में एक लाख छियासी हजार मील के लगभग मानी जाती है। इसप्रकार विद्युत्-चुम्बकीय-तरंग [इलेक्ट्रो-मेग्नेटिक वेव्ज़–Electro-Magnetic Waves] ध्वनि को क्षण में दूर से दूर पहुंचा देती हैं।

आधुनिक विज्ञान का कहना है, कि यहां ध्वनि विद्युत्-तरंगों में परिणत होकर पुनः श्रुतियन्त्र में समान स्थिति प्राप्त कर वे तरंग ध्वनिरूप में परिणत होजाती हैं। यदि गंभीरता से विचार किया जाय, तो विद्युत्द्वारा ध्वनि के वहन को वर्णन करने की यह एक वैज्ञानिक रीतिमात्र है, यह स्पष्ट होजाता है। यदि विद्युद्रूप में परिणत ध्वनि का जाना ही माना जाय, तो भी विद्युत्तरंगों के आश्रयरूप में आकाशतत्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। फलतः आकाशतत्त्व को अभावरूप नहीं कहा जासकता।

प्राकृतिक अथवा ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार उच्चारण और श्रवण के जो साधन सामान्यतः प्राणी को उपलब्ध हैं, जागतिक व्यवहार को संतुलित रखने में उनका महत्त्वपूर्ण योग है। यदि सामान्यतः ध्वनि का विद्युत के साथ संपर्क होजाया करता, तो संसार में कोई बात गुप्त नहीं रक्खी जासकती थी; ऐसा होने से मानवसमाज परस्पर संघर्ष कर उच्छिन्न होजाता। मानव ने उस शक्ति का उद्भावन कर उपयोग किया है, वह अत्यन्त सीमित है। विशेष यन्त्रादि साधनों के द्वारा उसका उपयोग संभव है, जो सर्वत्र सुलभ नहीं। फिर भी राष्ट्रों के गुप्त समाचारों की चोरी आदि कर अनेक प्रकार से ये उद्भावित साधन महान संघर्ष के कारण बन जाते हैं। यद्यपि इनका रचनात्मक उपयोग विविध सुविधाओं के लिये अत्यन्त अनुकूल है ॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, समुदायवाद में प्रत्येक वस्तु का अनिवार्यरूप से क्षणिक होना संभव है, वह चाहे प्रमाता हो या प्रमेय; यह प्रथम कहा गया। क्या भावमात्र का क्षणिक होना सिद्ध माना जाना चाहिये ? इसपर सूत्रकार ने कहा—

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

गतसूत्र के समान यहां भी 'अप्राप्ति' पद की अनुवृत्ति है। [अनुस्मृतेः] अनुस्मृति से [च] और प्रत्यभिज्ञान से। भाव के क्षणिक होने की अप्राप्ति–असिद्धि है, अनुस्मृति से और प्रत्यभिज्ञान से।

सूत्र में 'च' पद 'प्रत्यभिज्ञान' हेतु का संग्राहक है। किसी प्रमाता को उपलब्धि अथवा अनुभव होने के अनन्तर उस विषय का जो स्मरण होता है, वह 'अनुस्मृति' है। प्रमाता देवदत्त अपने घर से बाहर परदेस चला जाता है। कालान्तर में निमित्तवश उसे अपने घर का स्मरण होआता है। यदि प्रत्येक भाव क्षणिक है, तो घर से चलने वाला देवदत्त अब परदेस में नहीं रहा है, क्षणिक होने से घर का अनुभव करनेवाला देवदत्त अब नष्ट होगया. परदेसस्थित देवदत्त अन्य है, तब उसे घर का स्मरण नहीं होना चाहिये। अन्य के देखे पदार्थ का अन्य को स्मरण नहीं होता, यह एक नियत व्यवस्था

है। अन्यथा सबको सबके अनुभव का स्मरण होजाना चाहिये, जो लोक-व्यवहार और सब प्रमाणों से असिद्ध है। पर ऐसा स्मरण प्रत्येक प्रमाता को होता है, यह निश्चित है। इससे सिद्ध होता है, कि अपने अनुभव का स्वयं स्मरण करनेवाला प्रमाता क्षणिक नहीं होसकता, घर और परदेस में रहने वाला प्रमाता देवदत्त एक स्थायी व्यक्ति है।

वही देवदत्त जब कालान्तर में अपने घर वापस आता है, तब वह अनुभव करता है–मैं अपने उसी घर में आगया हूं, जिसमें पहले रहा करता था; मैं अपने उन्हीं पारिवारिकजनों को देख रहा हूं, जिन्हें पहले देखा करता था। इस प्रतीति में 'वह घर' और 'वे ही पारिवारिक जन' यह कथन स्पष्ट करता है, कि घर तथा पारिवारिक जन आदि प्रमेय [देवदत्त के ज्ञान के विषय] क्षणिक नहीं हैं। ऐसी प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञान' कहा जाता है। यह प्रतीति किसी भी तरह भ्रान्त नहीं है। इससे प्रमाता और प्रमेय दोनों की क्षणिकता असिद्ध होजाती है। यह प्रतीति सादृश्य के कारण होजाती हो, यह कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में सादृश्य का अनुभव नहीं होता। सादृश्यप्रतीति में बाधा की संभावना रहती है। किसीको एक जैसा देखकर धोखा होता देखा जाता है, और उसे छोड़ देना पड़ता है; पर प्रत्यभिज्ञान में बाधा की संभावना नहीं रहती, इसलिये यह कहना अयुक्त है, कि ऐसी प्रतीति सादृश्य के कारण होजाती है।

इस विषय में यह एक ध्यान देने की बात है, कि प्रत्येक पदार्थ किसी प्रयोजन के लिये होता है। पदार्थद्वारा किसी प्रयोजन को सम्पन्न किया जाना उसकी स्थायिता को सिद्ध करता है, क्षणिकता की बाधा करता है। प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले घड़ा या वस्त्र आदि पदार्थ पानी भरने या शरीर को ढांपने के लिये उपयोगी नहीं होसकते। जो पदार्थ सत्ताग्रहण करने पर आगे आधा क्षण भी टिक नहीं सकता, उसके द्वारा पर्याप्त विलम्ब से सम्पन्न होने वाले उपयुक्त प्रयोजन के सिद्ध होने की संभावना कैसे की जासकती है? इसलिये प्रमाता एवं प्रमेय के रूप में पदार्थ का क्षणिक होना सर्वथा अप्रामाणिक है।।२५।।

शिष्य आशंका करता है, समुदायवाद के अनुसार जैसे पूर्वक्षणवर्त्ती प्रमाता-समुदाय उत्तरक्षणवर्त्ती प्रमातासमुदाय को उत्पन्न करता है, वैसे ही वह अपने समस्त संस्कार एवं वासनाओं को उसमें प्राप्त करा देता है; तब अनुस्मृति और प्रत्यभिज्ञान के होने में कोई बाधा न होगी। प्रतिक्षण परिवर्त्तित होने वाली दीपशिखा जैसे ताप प्रकाश आदि को आगे-आगे प्राप्त कराती रहती है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नासतोऽदृष्टत्वात् ।।२६।।

[न] नहीं [असतः] असत् से–अभाव से [अदृष्टत्वात्] न देखा हुआ होने के कारण। उक्त कथन का परिणाम है–अभाव से उत्पत्ति मानना; यह नहीं होसकता। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती।

इसीप्रकरण के गतसूत्रों [२०, २१] में यह बताया गया है, कि समुदायवाद के

अनुसार पूर्वक्षण नष्ट होजाने पर उत्तरक्षण अस्तित्व में आता है। जैसे एक बीज का उपमर्द होने पर—बीज के अभावग्रस्त होने पर—अंकुर अस्तित्व में आता है। इसका तात्पर्य यह है, कि किसी समुदाय के सत्ताक्षण में उसके तथाकथित कारणतत्त्व का अस्तित्व नहीं है। तब प्रत्येक समुदाय विना कारण अभावमात्र से होजाता है, समुदायवाद का यही परिणाम सामने आता है।

प्रस्तुत सूत्र से आचार्य ने बताया, इसप्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि ऐसा कार्यकारणभाव कहीं नहीं देखा जाता। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती हो, तो किसी कार्य के लिये विशेष कारणों का उपादान-संग्रह निरर्थक होजाय। तब बीज से ही अंकुर होता है, दूध का ही दही बनता है, यह सब आवश्यक क्यों हो ? खरे के सींग से भी अंकुर होजाना चाहिये; क्योंकि अभाव तो सर्वत्र समान है, जैसा बीज का अभाव वैसा ही खरे के सींग का अभाव। तब सब कार्य सब जगह से होजायें; पर ऐसा देखा नहीं जाता। इससे तो प्रत्यक्ष—लोकसिद्ध कार्यकारण की व्यवस्था ही नष्ट होजाती है।

इस विषय में यह भी एक ध्यान देने की बात है, यदि अभाव को वस्तु की उत्पत्ति का कारण माना जाय, तो प्रत्येक वस्तु अभाव से अन्वित—सम्बद्ध अर्थात् अभावरूप ही होनी चाहिये। मट्टी के विकार घड़े शकोरे आदि मट्टी से तथा सुवर्ण के विकार कंकण कुण्डल आदि सुवर्ण से अन्वित देखे जाते हैं। तब वस्तुसमुदाय को अभाव का विकार मानने पर यह सब अभावरूप होना चाहिये, पर ऐसा नहीं है। वस्तुओं का भावरूप से बोध होना लोकप्रसिद्ध एवं सर्वप्रमाणसिद्ध है। यह कहना भी अयुक्त है, कि वस्तुस्वरूप के उपमर्द विना कार्य उत्पन्न नहीं होता; सुवर्ण व मृत्तिका आदि के कार्यों में उनका अन्वय बराबर देखा जाता है, उपमर्द नहीं। सुवर्णविकार को सुवर्णरूप में तथा मृद्विकार को मृत् के रूप में प्रत्येक समझदार व्यक्ति पहचानता है, विकार में कारण के अभाव को नहीं। इससे निश्चित होता है—कार्य किसी परिणामी स्थायीतत्त्व से उत्पन्न हुआ करते हैं, अभाव से नहीं। जिन बीज आदि में अंकुर की उत्पत्ति से पूर्व स्वरूप का उपमर्द प्रतीत होता है, वहां भी बीज की उपमृद्यमान पूर्व अवस्था अंकुररूप उत्तर अवस्था की कारण नहीं है, अपितु विद्यमान अन्वित बीज के अवयव ही अंकुर के कारण हैं, अन्यथा नींबू के बीज से आम और आम के बीज से कटहल पैदा हुआ करें, जो सर्वथा सृष्टिक्रम के विपरीत है।

फलतः समुदायवाद के अनुसार जब पूर्वसमुदाय उत्तरसमुदाय का कारण ही नहीं बनसकता, तब एक प्रमाता-समुदाय अपने उत्तरवर्ती समुदाय में संस्कार वासना आदि को प्राप्त करायेगा, यह सब कथनमात्र है, इसमें सार कुछ नहीं। एक पिता अपने पुत्र में स्वभावतः अपने संस्कार वासना आदि को प्राप्त नहीं करा सकता। यदि पुत्र को वह इनसे परिचित भी करा देता है, तो भी उनके आधार पर पुत्र को अभेदरूप से

स्मृति व प्रत्यभिज्ञान कभी नहीं होता। पिता के अनुभूत विषय को पुत्र अपने अनुभव की स्मृति व प्रत्यभिज्ञान के रूप में कभी प्रतीत करे, ऐसा न देखा जाता है, न संभव है। संक्रान्त वासना व संस्कार आदि भी क्षणिक होने से स्मृति आदि के जनक हो सकते हैं, यह दुरुपपाद है। यह विवेचन समुदायवाद में उभारी हुई सब कल्पनाओं की सारहीनता को स्पष्ट कर रहा है ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन में अन्य दोष प्रस्तुत किया—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

[उदासीनानाम्] उदासीनों–निकम्मे लोगों को [अपि] भी [च] और [एवं] इसप्रकार [सिद्धिः] सफलता। और ऐसे अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर निकम्मे लोगों को भी सफलता प्राप्त होजाय।

अभाव से भाव की उत्पत्ति होना संभव हो, तो किसी कार्य की सिद्धि के लिये कोई प्रयत्न क्यों करे? तब प्रयत्नशील पुरुषों के समान निकम्मे लोग भी अपने अभिवाञ्छित कार्यों में अनायास सफलता प्राप्त कर लिया करें, अभाव सब जगह समानरूप से सुलभ है। खेती में किसीतरह का परिश्रम न करने वाले किसान को भी अभिमत अन्न की प्राप्ति होजाय। कुम्हार का घर भी–मट्टी का संस्कार आदि किये विना–भाण्डों से भरा रहा करे। फिर कपड़े और अन्य आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री के लिये समस्त प्रयास व्यर्थ हैं। ज्ञानसम्पादन व मुक्ति आदि के लिये शास्त्रारम्भ व यम नियम आदि का अनुष्ठान सब निष्प्रयोजन है। न ऐसा होता है, न संभव है, और न किन्हीं विचारशील महानुभावों ने ऐसा स्वीकार किया है।

चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के विना जगत् के उपादानकारण परमाणुओं का स्वभावतः सम्पन्न समुदाय लोकव्यवहार को सिद्ध कर सकेगा, ऐसा विचार सब दिशाओं से विवेचन करने पर अयुक्त ही जाना गया। अतः सारहीन समुदायवाद सर्वथा असगत है ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रकृति आदि उपादान से जगत् की रचना चेतन ब्रह्म के सहयोग विना किसी तरह नहीं होसकती, यह गत प्रकरणों से निश्चय किया गया। यदि ब्रह्मतत्त्व जगत्-प्रक्रिया में इतना आवश्यक है, तो एव मात्र ब्रह्म की सत्ता को क्यों न मान लिया जाय? यह सब विस्तृत जगत् और इसके जड़ उपादान तत्त्व को मानना अनावश्यक है। केवल ब्रह्म अपनी शक्ति से इस रूप में भासता है, वस्तुतः यह सब अभावरूप है, ब्रह्म के सकल्पानुसार कभी भासता है, इसका अपना अस्तित्व कुछ नहीं; ऐसा मान लेने में क्या दोष है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

[न] नहीं [अभावः] अभाव, [उपलब्धेः] उपलब्धि से–प्रमाण द्वारा जाने जाने

से। जगत् को अभावरूप नहीं कहना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट रूप से जाना जाता है।

परमार्थ सत्य केवल एक ब्रह्म तत्त्व है। प्रतिशरीर एक चेतन तत्त्व और उससे अतिरिक्त जो यह समस्त जड़ जगत् की प्रतीति होती है, यह सब भ्रममात्र है। चेतन ब्रह्म स्वयं इस रूप में भासित होकर क्रीड़ा किया करता है, यह इसकी केवल एक व्याख्या है। इस भ्रम के कारण कुछ अनादि स्थितियां हैं, जिनकी वास्तविकता का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। जगत् की तरह उनको भी अवास्तविक कोटि में रखना उपयुक्त है। इसप्रकार केवल एक ब्रह्म की सत्ता को मानना निर्दोष होसकता है। इससे समस्त लोक व शास्त्र का प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार भ्रम की कोटि से बाहर नहीं रहता। जागतिक सब प्रतीति भ्रममात्र होने से जगत् को अभावरूप समझना एक निर्दोष मार्ग होसकता है।

आचार्य ने समाधान किया, जगत् को भ्रममात्र अथवा अभाव समझना ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से यह सब उपलब्ध होता है। यह उपलब्धि भ्रम है, ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसका सत्यरूप में ग्रहण होता है। संकल्प, श्रम और फल का सामञ्जस्य बराबर देखा जाता है, जो इस व्यवहार और प्रतीति की सत्यता को सिद्ध करता है। लोक में भ्रमस्थलों का अनुभव वहां होता है, जहां संकल्प, श्रम और फल का सामञ्जस्य नहीं देखा जाता। लोक व शास्त्र के अन्य व्यवहार उनसे सर्वथा विपरीत हैं, यह अनुभव से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को भ्रमपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जगत् की वास्तविक सत्ता यदि न हो, तो प्रमाणों से इसकी उपलब्धि न होती। यह लोकसिद्ध अनुभव—जगत् सत्य है एवं भावरूप है—इस स्थिति को प्रमाणित करता है ॥२८॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में स्वप्न आदि ऐसी अवस्था देखी जाती हैं, जहां वस्तु के अविद्यमान होते हुए भी प्रतीति होजाती है, जगद्व्यवहार भी वैसी उपलब्धि माना जासकता है। जगत् के न होने पर भी स्वप्नादि के समान प्रतीति होजाती है। तब जगत् को अभावरूप कहना निर्दोष क्यों नहीं? आचार्य ने समाधान किया—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

[वैधर्म्यात्] वैधर्म्य से [च] तथा [न] नहीं [स्वप्नादिवत्] स्वप्न आदि के समान। स्वप्न में प्रतीति के समान जगत् की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि इनमें परस्पर वैधर्म्य देखा जाता है।

स्वप्न दशा में देह के अन्दर जंगल नदी पहाड़ नगर सड़क लोगों की भीड़ तथा स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति के स्वयं अपने विविध कार्य देखे जाते हैं। जो देह कार्यव्यापृत स्वप्न में दीखता है, वह शय्या आदि पर सोया निश्चेष्ट पड़ा रहता है, इस स्थिति से प्रत्येक

व्यक्ति परिचित है। देह के अन्दर नदी नगर आदि का होना असम्भव है, वहां उनके न होते हुए भी प्रतीति होती है। इससे उनका मिथ्या होना निश्चित है। ऐसे ही जाग्रत अवस्था में होता हुआ समस्त व्यवहार मिथ्या असत् माना जासकता है।

आचार्य ने बताया, ऐसा समझना ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्न और जाग्रत प्रतीति तथा इन अवस्थाओं में स्पष्ट वैधर्म्य देखा जाता है। स्वप्नदशा न रहने पर स्वप्नप्रतीति की बाधा देखी जाती है। स्वप्न में पाया धन का ढेर जाग्रत में नहीं रहता। उपस्थित भय के कारण आंख खुलते ही नहीं रहते, मित्रों का समागम तथा आगे परोसी भोजन सामग्री करवट बदलते ही सब विलीन। स्वप्न में देखे पदार्थों की तत्काल बाधा होती देखी जाती है। जागते ही बोध होता है, यह तो सपना था, शरीर में विकार होने के कारण निद्रा ठीक नहीं आई, मन की बेचैनी से यह सब भ्रम हुआ; परन्तु जाग्रत में होने वाली प्रतीति और पदार्थों की बाधा नहीं देखी जाती, यह सर्वजनविदित है। भ्रम और सत्य को विवेकी व्यक्ति जाग्रत में अच्छी तरह पहचानता है।

स्वप्न और जाग्रत के इस वैधर्म्य का आधार है, स्वप्न का स्मृति तथा जाग्रत का अनुभवरूप होना। स्वप्न केवल स्मृतिरूप प्रतीति है। स्मृति में पदार्थ–विषय की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती। उपलब्धि–अनुभव में पदार्थ का सन्मुख होना आवश्यक है। स्मृति और उपलब्धि का भेद स्पष्ट है, मुझे पुत्र का स्मरण होरहा है, पर मैं उसे उपलब्ध नहीं कर पारहा हूँ। पुत्र सामने नहीं है, तब स्मृति है; सामने आजाने पर उपलब्धि है। इसलिये स्वप्न की दशा से जाग्रत की तुलना करना और उस आधार पर जगत् व जागतिक व्यवहार को मिथ्या असत् कहना असंगत है।

स्वप्न के स्मृतिरूप होने से यद्यपि अविद्यमान पदार्थ वहां प्रतीत होरहे हैं, पर इतने से उन पदार्थों को सर्वथा असत् व मिथ्या नहीं माना जासकता। वे पदार्थ जाग्रत अवस्था में सत्यरूप से सदा प्रतीत होते हैं। उनकी वास्तविक सत्ता से नकार नहीं किया जासकता। यदि स्मृति में पदार्थ की विद्यमानता अपेक्षित नहीं है, तो यह आवश्यक नहीं, कि वह जाग्रत में भी अविद्यमान रहता हुआ प्रतीत हो, अथवा प्रतीत होना चाहिये। कहीं पर [भ्रमस्थलों में] प्रतीति एवं विषय का मिथ्या होना या असत् होना उसी अवस्था में सम्भव होता है, जब प्रतीति अन्यथा हुई हो। किसी निमित्त से एक पदार्थ को अन्य पदार्थ के रूप में जान लिया गया हो। बालू के मैदान को पानी की झील समझना, या सीप को चांदी समझना ऐसा ही है। इसमें मिथ्यात्त्व व असत्त्व केवल इतना है, कि एक वस्तु को अन्यथा समझ लिया गया। अपने रूप में न बालू मिथ्या है न जल, न सीप मिथ्या है न चांदी। स्वप्न में अन्यथा प्रतीति यही है, कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है, तथा पदार्थों के देश व दशा आदि में उलटफेर होजाता है। इस अन्यथाभाव से पदार्थमात्र को असत् मान लेना सर्वथा अन्याय्य है। सूत्र के 'आदि' पद से अन्य भ्रमस्थलों एवं मायावी आदि व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित ऐसे दृष्टान्तों का व्याख्यान समझलेना

चाहिये। फलतः जगत् के सद्रूप होने पर एकमात्र ब्रह्म की सत्य सत्ता मानना सर्वथा अप्रामाणिक है ॥२९॥

शिष्य आशंका करता है, जगत् की अतिरिक्त सत्ता मानना निष्प्रयोजन है। एकमात्र सत्ता ब्रह्म सत्य है। ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में भासता है, इसका तात्पर्य ही यह है, कि जगत् ब्रह्मरूप से अन्य कुछ नहीं है। ऐसा मान लेने से जगत् को जगद्रूप में सत्य कहना क्यों अप्रामाणिक नहीं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

[न] नहीं [भावः] ब्रह्मभाव (जगत् का) [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि से—ऐसी उपलब्धि न होने से। जगत् ब्रह्मरूप नहीं है, क्योंकि जगत् की उपलब्धि ब्रह्मरूप से कभी नहीं होती।

यथासम्भव समस्त प्रमाणों के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप का जो निश्चय किया गया है, उस रूप में जगत् की उपलब्धि किसी प्रमाण द्वारा नहीं होती। प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों से जगत् का जड़ होना सिद्ध है। परन्तु ब्रह्म चेतनस्वरूप है, इस मान्यता में किसी को आपत्ति नहीं है। ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले उसे चेतन मानते हैं, जड़ नहीं। इसके विपरीत जगत् की जड़ता को चुनौती दिया जाना अशक्य है, सब प्रमाणों से असिद्ध है। इसलिये [जड़ जगत् का ब्रह्मभाव—ब्रह्मरूप होना—किसी प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण असंगत है। ब्रह्म की अपनी सत्ता है, जगत् की अपनी, सर्वथा पृथक् इन दो प्रकार की सत्ताओं को किसी दशा में एक कहना अप्रामाणिक है।

वस्तुतः जगत् को ब्रह्मरूप कहना ब्रह्म की वास्तविकता से मुंह मोड़ना है। यदि ब्रह्म ही जगद्रूप में भासित है, तो इस भासमानरूप में आसक्त होना हेय क्यों माना गया? कहा जासकता है, कि यह ब्रह्म का अवास्तविकरूप होने से हेय है, ऐसे रूप में आसक्ति वाञ्छनीय नहीं मानी जासकती। पर इस विषय में यह एक ध्यान देने योग्य बात है, कि प्रत्यक्षदर्शी आचार्यों ने ब्रह्म के जिस वास्तविक स्वरूप का संकेत दिया है, उसमें अवास्तविकता का कहीं कोई स्थान नहीं है। फिर ब्रह्मस्वरूप को अवास्तविक समझना कहां तक युक्त कहा जासकता है? अन्यथा जगत् को चेतन[1] आदि मानकर उसे हेय समझना दुस्साहसमात्र है। फलतः जगत् का ब्रह्मभाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता ॥३०॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में आचार्य ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

[क्षणिकत्वात्] क्षणिक होने से [च] तथा। तथा जगत् के क्षणिक—परिणामी—

---

१. देखें—ब्रह्मसूत्र २।१।६ के शांकरभाष्य का अन्तिम भाग।

परिवर्त्तनशील होने से जगत का ब्रह्मभाव नहीं ।

पूर्व सूत्र से 'न' तथा 'भावः' पदों की इस सूत्र में अनुवृत्ति है । सूत्र का 'क्षणिक' पद अपने–एकक्षणवर्ती–इस सीमित अर्थ को न कहकर 'विनाशी' सामान्य अर्थ को कहता है । प्रत्येक प्रमाण से यह सिद्ध है, कि जगत् का उत्पाद और विनाश होता रहता है, इसप्रकार जगत् परिणामी है, परिवर्त्तनशील है । नियन्ता द्वारा प्रकृति–उपादानतत्त्व से अनेकानेक रूप में इसका परिणाम हुआ करता है । जगत् का यह रूप ब्रह्मरूप नहीं कहा जासकता, ब्रह्म को नित्य कूटस्थ माना गया है, वह सत्–चित्–आनन्दस्वरूप है, चेतनतत्त्व कभी परिणामी नहीं होता । समस्त शास्त्र इसके साक्षी हैं । अतः जगत् का ब्रह्मभाव असम्भव है ।

'क्षणिक' पद का प्रयोग केवल एकक्षणवर्ती वस्तु के लिये होता हो, ऐसा नहीं है । नश्वर–नाशशील वस्तु अथवा स्थिति के अर्थ में इसका प्रायः प्रयोग होता है । 'एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते' एक की थोड़े समय के लिये प्रसन्नता होती है, पर दूसरा प्राणों से वियुक्त हो जाता है । आखेट आदि के विषय में यह उक्ति है । ऐसे ही 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' पुनः पुनः देखने पर जो नवीन प्रतीत हो, वही सौन्दर्य का रूप है । 'क्षणिक' अथवा 'क्षण' पद का यह प्रयोग वस्तु एवं अवस्था की केवल अस्थिरता का द्योतन करता है । सूत्रकार ने इस पद का प्रयोग ब्रह्म और जगत् के अतिशयित भेद को प्रकट करने के लिये किया है, कहां कूटस्थ तत्त्व और कहां नश्वर । इस पद के प्रयोग में सूत्रकार का यह एक गहरा भाव है ॥३१॥

सूत्रकार ने दृढ़ता के साथ उक्त अर्थ के प्रत्याख्यान पर बल देते हुए कहा—

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

[सर्वथा] सब प्रकार से [अनुपपत्तेः] उपपन्न–सिद्ध न होने से [च] तथा । तथा जगत् का ब्रह्मभाव सब प्रकार से असिद्ध होने के कारण अमान्य है ।

नश्वर परिणामी जड़ जगत् का ब्रह्मभाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता । ब्रह्म और जगत् का स्वरूप प्रकाश तथा अन्धकार के समान परस्पर विभिन्न है । जहां जगत् जड़ आदि धर्मों से युक्त है, वहां ब्रह्म चेतन अविनाशी अपरिणामी रहता हुआ जगत् का नियन्ता अधिष्ठाता है । नियन्ता व नियम्य आदि का एक होना संभव नहीं । इस विचार की परीक्षा जितनी गहराई के साथ कीजाती है, इसकी सारहीनता को प्रकट करती है । इस विवेचन से स्पष्ट होता है, न तो जगत् अभाव व मिथ्या है, और न ब्रह्म-रूप । जगत् अपनी जगह है, ब्रह्म अपनी जगह । दोनों सत्ता सत्य हैं । इनकी स्थिति इनके नियन्तृ-नियम्यभाव एवं अधिष्ठातृ-अधिष्ठेयभाव आदि का निश्चय कराती है । इसके आधार पर एक को श्रेष्ठ दूसरे को तुच्छ अथवा एक को सत्य दूसरे को मिथ्या कहना कोई अभीष्ट समझता है, तो यह बात अलग है । ऐसा कहने या समझने से वास्तविकता

का विलोप नहीं होसकता। फलतः यह कहना अप्रामाणिक है, कि एकमात्र ब्रह्म की सत्ता के बिना अन्य कुछ सत्य नहीं है, अथवा यह सब जगत् ब्रह्मरूप है ॥३२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत प्रकरण से यह निश्चय किया गया, कि जगत् न तो अभावमात्र व मिथ्या है, और न ब्रह्म का रूप है। पर यदि ऐसा माना जाय, कि जगत् ब्रह्म का परिणाम है, ब्रह्म स्वरूप से जगत् को उत्पन्न कर देता है। ऐसा मानने से एकमात्र ब्रह्म की सत्ता अक्षुण्ण रहती है, और उससे अतिरिक्त प्रकृति जैसे किसी अन्य उपादानतत्त्व को मानना अनावश्यक होजाता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥३३॥

[न] नहीं [एकस्मिन्] एक में [असम्भवात्] संभव न होने से। एकमात्र ब्रह्म के स्वीकार करने में जगत् सर्ग न होगा, क्योंकि ऐसा संभव नहीं।

विचारकों ने यह एक व्यवस्था ज्ञात की है, किसी कार्य अथवा परिणाम के लिये अनेक कारण अपेक्षित होते हैं। प्रत्येक कार्य के ये कारण चेतन और जड़ दो भागों में विभाजित रहते हैं। तात्पर्य यह, कि किसी कार्य के अनेक कारणों में से कोई चेतन और कोई अचेतन [जड़] होंगे। अभी तक ऐसा ज्ञात नहीं होसका, कि कोई कार्य केवल चेतन कारण से अथवा केवल अचेतन से परिणत हुआ हो। प्रत्येक कार्य के आत्मलाभ में दोनों प्रकार के कारणों का उपयोग होता है। यह व्यवस्था सृष्टिक्रम के अनुसार स्वीकार कीगई है। लोक में प्रत्येक कार्य इसीके अनुसार आत्मलाभ करता है। घट पट आदि कार्यों के कारण चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्व देखे जाते हैं। कुलाल तन्तुवाय आदि चेतन कारण हैं, मट्टी डण्डा चाक तथा तन्तु तुरी वेमा आदि अचेतन। चेतनतत्त्व कभी किसी पदार्थ का उपादानकारण न होकर, नियन्ता अधिष्ठाता कर्त्ता होने से केवल निमित्तकारण होता है। किसी पदार्थ का उपादानकारण केवल अचेतन-तत्त्व देखा जाता है। इससे कार्य और उपादान का समानजातीय होना स्पष्ट होता है।

अब यदि एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार किया जाता है, तो यह जगत्सर्ग होना असंभव है। न चेतनतत्त्व किसीका उपादान होता है, न उसका कभी परिणाम देखा जाता है। ब्रह्म का परिणाम जगत् हो, तो वह ब्रह्म के समान चेतनरूप आदि होना चाहिये। मृद्विकार जैसे मृद्रूप होते हैं, अन्य विकार भी उपादानसाजात्य को नहीं छोड़ते[1]। यदि ब्रह्म का परिणाम जगत् होता, तो वह जड़ कभी न रहता। इसलिये एकमात्र तत्त्व ब्रह्म के स्वीकार करने पर जगत् प्रक्रिया के असंभव होने से यह कथन युक्त नहीं है। सर्ग का होना अनेक कारणों पर अवलम्बित है। चेतन ब्रह्म नियन्ता होने से निमित्तकारण है, तथा त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति उपादानकारण। इसी आधार पर कार्यजगत् अपने कारण

१. इस विषय में गत ब्रह्मसूत्रों [२।१।६ तथा १४] की व्याख्या द्रष्टव्य है।

प्रकृति के समान त्रिगुणात्मक है ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, एकमात्र तत्त्व ब्रह्म के स्वीकार करने पर उससे जगत् का परिणत होना असंभव क्यों है ? वह सर्वशक्ति तत्त्व है, ऐसा क्यों न करसकेगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

एवं चात्माऽकात्स्न्यम् ॥३४॥

[एवम्] ऐसा होने पर [च] तो [आत्माऽकात्स्न्यम्] आत्मा—परमात्मा की असम्पूर्णता—अव्यापिता होजायगी। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर तो ब्रह्म में अव्यापिता दोष की आपत्ति होगी।

समस्त शास्त्रों में यह निश्चय किया गया है, कि ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है, सर्वत्र भरा हुआ, सर्वव्यापक। कोई ऐसा प्रदेश संभव नहीं, जहां ब्रह्म का अस्तित्व न हो। अब यदि यह माना जाता है, कि वह जगद्रूप में परिणत होता है, तो यह प्रश्न तत्काल सम्मुख आता है, कि ब्रह्म का कोई भाग परिणत होता है अथवा समस्त ब्रह्म ? यदि पहली बात है, तो आत्मा—परब्रह्म परमात्मा की सर्वव्यापिता अखण्डता नष्ट होजाती है। जो भाग जगद्रूप में परिणत होगया, वहां ब्रह्मरूप न रहने से उसकी अव्यापिता होगी। दूसरे विकल्प में ब्रह्म का सम्पूर्ण भाव ही समाप्त होजायगा। इसमें सूत्रकार का यह तात्पर्य अन्तर्निहित है, कि तब ब्रह्म का चेतन आनन्द आदि स्वरूप सर्वथा विलीन होजायगा।

कहा जासकता है, जो भाग जगद्रूप में परिणत हुआ, वह वहां उस रूप से भरा ही रहता है, उस रूप से ब्रह्म की सत्ता वहां मानी जासकती है। यह कथन भी चिन्तनीय है, कारण यह है, कि कोई कार्य सदा एकदेशी रहता है, और उसका सक्रिय होना आवश्यक है। संसार में कोई कार्य ऐसा संभव नहीं, जो आत्मलाभ के अनन्तर किसी एक-देश में सर्वथा निश्चल निष्क्रिय बनारहे। ऐसा तत्त्व केवल वही हो सकता है, जो सम्पूर्ण है सर्वत्र व्याप्त है। कार्यरूप में छोटे से छोटा कण तथा यह समस्त विशाल संसार सदा गतिशील रहता है, एकदेश से दूसरे देश के लिये इसमें निरन्तर क्रिया होती रहती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्म का वह परिणत भाग सदा उसको देशान्तरप्राप्ति के साधन क्रिया का आधार बनाये रहसकता है, तब उसका वह कात्स्न्र्य—सम्पूर्ण व्यापीरूप तिरोहित होजाता है, जो निश्चल व निष्क्रिय है। इसलिये ब्रह्म के जगद्रूप में परिणत होने की संभावना नहीं कीजासकती।

सिद्धान्तपक्ष में प्रकृति से जगत्परिणाम के मानने पर ऐसा कोई दोष प्राप्त नहीं होता। प्रकृति त्रिगुणात्मक अनन्त तत्त्वरूप है। ब्रह्म के समान वह एकव्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। जगत्सर्ग के लिये जितने तत्त्व जिस रूप में अपेक्षित हैं, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म अपनी व्यवस्थानुसार उनको जगद्रूप में परिणत करता है। प्रकृतिरूप में अवस्थित वे तत्त्व कितने जगद्रूप में परिणत किये जाते हैं, और कितने कारणरूप में बने रहते हैं, इसका लेखा-जोखा तो वह सर्वज्ञ जानता होगा; पर इस मान्यता में उक्त विकल्पों के आधार पर

कोई दोष नहीं आता। कारण यह है, कि ब्रह्म के समान प्रकृति एकव्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। वह अनन्त कारणतत्त्वों के रूप में अवस्थित रहती है, अपेक्षित तत्त्व उपयोग में आते रहते हैं। कब कितने कौनसे तत्त्व उपयोग में आते हैं, यह हमारे लिए अविचार्य है।

प्रस्तुत सूत्रद्वारा आचार्य का यह तात्पर्य स्पष्ट होता है, कि जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म के स्वरूप को निर्दोष नहीं रक्खा जासकता। ब्रह्म का सर्वशक्ति होना यह प्रकट नहीं करता, कि वह जो चाहता है–उचित या अनुचित–सब करसकता है, प्रत्युत जो होना चाहिये, उसके करने में उसे अन्य किसी सहयोगी की अपेक्षा नहीं रहती, यही सर्वशक्ति का तात्पर्य है। औचित्य-अनौचित्य की व्यवस्था उसकी स्वयंकृत है, वह अपनी व्यवस्था से व्यवस्थित है, उसका व्यवस्थाता अन्य कोई नहीं, इसीमें उसके सर्वशक्तिभाव की निष्ठा है ॥३४॥

शिष्य आशंका करता है, जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानकर ब्रह्म की सम्पूर्णता अखण्डता व्यापिता आदि में जो विरोध प्रकट किया गया, उसके लिये कोई अवसर नहीं है; कारण यह है, कि व्यक्त जगत् के गति-क्रम के अनुसार ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र बनी रहेगी, तब अव्यापिता क्यों आयेगी ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

[न] नहीं [च] तथा [पर्यायात्] पर्याय से [अपि] भी [अविरोधः] विरोध का न होना [विकारादिभ्यः] विकार आदि से। तथा पर्याय से भी विरोध का अभाव नहीं होता, क्योंकि विकार आदि का होना विरोध को बनाये रखता है।

सूत्र में 'पर्याय' पद का अर्थ है–संकोच और विकास की शक्ति का होना। ब्रह्म के सर्वशक्ति होने से उसमें यह सम्भव है। जितना ब्रह्म जगत् में परिणत होगया है, वह सक्रिय होने से सदा गति करता रहता है, गति के कारण जिस प्रदेश को छोड़ता है, अपनी विकासशक्ति से वहां भर जाता है; अन्य देश में जहां प्राप्त होता है, वहां अपनी संकोचशक्ति के कारण सिमट जाता है। इसप्रकार जगत् के गति-क्रम के अनुसार अपनी शक्ति के आधार पर ब्रह्म का वह भाग यथास्थान बना रहता है, जो परिणत नहीं हुआ। शेष में परिणत भाग विद्यमान ही है। सम्पूर्ण कार्य-कारण अंशों के यथास्थान सर्वत्र भरे रहने से ब्रह्म के कार्त्स्न्य एवं व्यापित्व में कोई विरोध नहीं आता। वेद [यजु० ३१।३, ४] में भी कहा–'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः' उस पुरुष [ब्रह्म] का एक भाग समस्त भूत हैं, और अमरणधर्मा [अपरिणत] तीन भाग दिव्य लोक में। वह ब्रह्मपुरुष अपने तीन भागों से जगत् के ऊपर है, या बाहर है, और एक भाग यहां जगद्रूप में विद्यमान है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि ब्रह्म का कुछ अंश जगद्रूप में परिणत होकर शेष अपने रूप में बना रहता है। फलतः जगत् ब्रह्म का परिणाम होने पर भी ब्रह्म की व्यापिता में कोई विरोध या बाधा नहीं है।

आचार्य ने समाधान किया, इस प्रयास से भी विरोध का परिहार नहीं होता। कारण यह है, कि इससे ब्रह्म में विकार आदि अनेक दोषों का उद्भावन होजाता है, शास्त्रवर्णित निर्विकार निरवयव सर्वान्तर्यामी ब्रह्मस्वरूप के साथ इसका स्पष्ट विरोध सामने आजाता है। ब्रह्म किसी अंश से जगद्रूप में परिणत होता है, यह मानना उसमें विकार होने का आपादन कर देता है, और उसे सावयव सिद्ध करता है। संकोच-विकास भी उसकी सावयवता को प्रकट करता है। सावयव पदार्थ स्वयं विकारी होता है, तब वह न नित्य होसकता है, और न सर्वव्यापक। विकारी तत्त्व चेतन कभी नहीं होता, तब उसके आनन्द होने की कल्पना भी नहीं की जासकती। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म का स्वरूप सर्वथा उच्छिन्न होजाता है। इस मान्यता के प्रत्याख्यान में बल देने की भावना से आचार्य ने प्रथम सूत्र में 'असम्भव' हेतु का उल्लेख किया है। शास्त्रानुमोदित ब्रह्मसत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ब्रह्म का परिणाम जगत् होना वस्तुतः असम्भव है। सूत्र में 'आदि' पद से सावयवत्व अनित्यत्व अचेतनत्व आदि दोषों का संग्रह है, तथा अन्य वे सब धर्म जो जगत् के उपादानतत्त्व में रहते हैं, ब्रह्म में नहीं।

यजुर्वेद [३१।३, ४] के मन्त्रपदों का यह तात्पर्य नहीं है, कि ब्रह्म का कोई भाग परिणत होकर जगद्रूप में विद्यमान है, और शेष अपरिणत बना रहता है। वह केवल इतने भाव को प्रकट करता है, कि इतना विशाल विश्व भी उसकी तुलना में अतितुच्छ है, सर्वथा महत्त्वहीन। यही कारण है, चेतन ब्रह्म समस्त विश्व पर नियन्त्रण करता है। स्वयं परिणत विकारी व अनित्य आदि होकर सब पर नियन्त्रण असम्भव है। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानकर एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति ब्रह्म की यथार्थ सत्ता से ही हाथ धो बैठता है ॥३५॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्म की वास्तविक स्थिति अथवा मुख्य अवस्था केवल ब्रह्मरूप है, जो जगत् का अन्त होने पर या जगत् न रहने पर होती है; वही सत्य सत्ता उपास्य है, अन्य जगद्रूप स्थिति मिथ्या है। सत्य सत्ता का वर्णन निर्विकार आदि रूप में हुआ है। इससे जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर भी ब्रह्म में विकार आदि दोष न आने से विरोध की सम्भावना न रहेगी। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

गतसूत्र से 'न' तथा 'अविरोधः' पदों की यहां अनुवृत्ति है।

[अन्त्यावस्थितेः] अन्त्य अवस्था से [च] भी [उभयनित्यत्वात्] दोनों के नित्य होने से [अविशेषः] कोई विशेष नहीं। अन्त्य—ब्रह्म की मुख्य अवस्था से भी विरोध का परिहार नहीं होता, क्योंकि दोनों अवस्थाओं के नित्य होने से वे दोनों समान हैं।

एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार कर उसकी दो अवस्था मान्य हैं, ब्रह्मरूप और जगद्रूप। पहली सत्य और दूसरी मिथ्या है। ब्रह्म का शास्त्रीय वर्णन पहली अवस्था

को लक्ष्य करता है। इसलिये ब्रह्मस्वरूप में किसीप्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं कीजानी चाहिये। ब्रह्म का अन्त्य अर्थात् मुख्य स्वरूप वही है, जो निर्विकार आदि रूप से शास्त्र में वर्णित है।

आचार्य ने समाधान किया, इस प्रयास से भी ब्रह्मस्वरूप में प्रदर्शित विरोध का परिहार नहीं होता। कारण यह है, कि ये दोनों अवस्था–ब्रह्मरूप एवं जगद्रूप–नित्य है। सर्ग और प्रलय का क्रम अनादि अनन्त है। जैसे ब्रह्मरूप नित्य है, ऐसे ही जगद्रूप नित्य है। दोनों के नित्य होने से एक सत्य और एक मिथ्या है, ऐसा भेद नहीं किया जासकता। जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ये दोनों अवस्था ब्रह्म की कही जासकती हैं। इनके क्रम का न कभी आरम्भ हुआ, न कभी अन्त होना है, इस दृष्टि से ये दोनो समान हैं। अनादि काल से जब आज तक यह क्रम चला आरहा है, तो आगे भी इसके अन्त का उपपादन नहीं किया जासकता; तब एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कैसे माना जाय? इसलिये जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म में विकार आदि दोषों की आपत्ति को हटाया नहीं जासकता, इसीकारण एकमात्र ब्रह्म को स्वीकार करने पर सूत्रकार ने जगत्सर्ग को असम्भव बताया है। फलतः जगत् ब्रह्म का परिणाम न होकर प्रकृति का परिणाम है। विविध जड़जगत् का उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति है, यही सत्य सिद्धान्त है, अन्यथा जगद्वैचित्र्य का उपपादन सम्भव न होगा। चेतन ब्रह्म इस सबका नियन्ता व अधिष्ठाता है। जीवात्मा के लिये वही उपास्य एवं ज्ञातव्य है। उसी स्वरूप की जिज्ञासा की भावना से शास्त्र का आरम्भ हुआ है। विकारी ब्रह्म की जिज्ञासा से नहीं ॥३६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, लोक मे प्रत्येक कर्त्ता शरीरी देखा जाता है। ब्रह्म जगत् का कर्त्ता है, वह शरीरी माना जाना चाहिये। वेद [यजु० ३१।१] में उसके सिर पैर, हाथ आदि देहांगों का उल्लेख उपलब्ध होता है। तब उसे क्यों शरीरी न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

मण्डूकप्लुति न्याय के अनुसार पिछले सूत्र से 'न' पद की अनुवृत्ति यहां समझनी चाहिये। [पत्युः] पति का (शरीरी होना नहीं), [असामञ्जस्यात्] सामञ्जस्य न होने से। जगत्पति परमेश्वर का शरीरवाला होना युक्त नहीं है, क्योंकि इसका यथार्थता से सामञ्जस्य नहीं होसकता।

परब्रह्म परमात्मा को प्रकृति और जीवात्माओं का अधिष्ठाता माने जाने पर यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये, कि जीवात्म-पुरुषों के समान वह परपुरुष ब्रह्म शरीरवाला होता है। लोक में कोई कर्त्ता अधिष्ठाता पुरुष बिना शरीर के देखा नहीं जाता; इसलिये ब्रह्मपुरुष के शरीर की कल्पना करना अयुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त वेदों के पुरुष सूक्तों [ऋ० १०।९०।१; यजु० ३१।१; अथर्व० १९।६।१]

में परब्रह्म परमात्मा के देहांगों का उल्लेख उपलब्ध होता है–'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' उसके सहस्र सिर आंख पैर हैं। इससे ब्रह्म का शरीरी होना प्रमाणित है।

आचार्य ने समाधान किया, वास्तविकता के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। परब्रह्म इस समस्त विश्व का कर्त्ता है, ऐसे अनन्त विश्व की रचना शरीरधारी एकदेशी चेतन के सामर्थ्य से बाहर होगी। शरीरी चेतन परिमित शक्ति के अनुसार सीमित रचना करने में समर्थ होसकता है। विश्व की विशालता को देखते यह निश्चय है, कि कोई शरीरधारी ऐसे महान विश्व की रचना नहीं करसकता। इस विषय में यह भी विचारणीय है, कि ब्रह्म का शरीर प्राकृतिक होगा, या अप्राकृतिक? प्राकृतिक भी दृश्य होगा या अदृश्य? ब्रह्म का दृश्य शरीर कोई नहीं है, होता तो अन्य शरीरों व पदार्थों के समान देखा जाता। प्राकृतिक अदृश्य शरीर की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है, उस शरीर का निर्माता वह पुरुष स्वयं नहीं होता, उसकी रचना अन्य चेतनपुरुषद्वारा होती देखी जाती है। जब कर्त्ता शरीरी होता है, तब ब्रह्मपुरुष के शरीर की रचना के लिये अन्य शरीरी पुरुष अपेक्षित होगा, उसके शरीर के लिये भी अन्य; इसप्रकार अनवस्था होगी। यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना शरीरी बने विना स्वयं करलेता है, तो वह विना शरीर जगत् की रचना भी करसकेगा, उसके लिये शरीरी होना आवश्यक नहीं। अप्राकृतिक शरीर की कल्पना ही व्यर्थ है, उसका होना न होना बराबर है, वह एक कथनमात्र है।

जीवात्म-पुरुष परिच्छिन्न अल्पज्ञ अल्पशक्ति है। उसके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुष्ठान तथा सुख-दुःख आदि भोगों के लिये साङ्ग देहरूप साधन का होना आवश्यक है। देहसम्बन्ध के विना जीवात्मा कर्मों के करने में असमर्थ रहता है। उसकी कर्मानुष्ठानशक्ति उसके देह तथा सिर, पैर, आंख, कान आदि देहांगों द्वारा अभिव्यक्त होती है। वेद में परब्रह्म पुरुष के सहस्र सिर, पैर, आंख आदि का कथन उसकी विविधप्रकार की अनन्तशक्ति का द्योतक है; उसका तात्पर्य ब्रह्म के प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक वस्तुभूत सिर, पैर, हाथ, आंख आदि बताने में नहीं है। ऐसे पदों द्वारा उसकी शक्ति का निर्देश अनायास समझ में आने की भावना से किया जाता है। प्रकृति अथवा समस्त प्राकृत विश्व को उसके शरीर के रूप में कल्पना करना सर्वथा औपचारिक है, केवल एक सुरुचिपूर्ण आकर्षक कल्पना। फलतः उक्त असामञ्जस्य-असांगत्य के कारण परब्रह्म परमात्मा का शरीरी होना युक्त नहीं कहा जासकता ॥३७॥

आचार्य सूत्रकार उक्त असामञ्जस्य को आगे अनेक प्रकार से विवृत करता है—

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

'न' तथा 'पत्युः' इन दो पदों की अनुवृत्ति यहां समझनी चाहिये। [सम्बन्धानुपपत्तेः] सम्बन्ध की अनुपपत्ति–असिद्धि-न बन सकने से [च] भी; जगत्पति परमेश्वर

का शरीरी होना असंगत है।

परब्रह्म समस्त विश्व का संचालक व नियन्ता माना गया है। वेद आदि सत्य-शास्त्र उसके ऐसे स्वरूप का वर्णन करते हैं। यदि उसे शरीरी माना जाता है, तो निश्चित है, वह किसी एकदेश में अवस्थित रहसकता है, उस दशा में उसका समस्त विश्व के साथ सम्बन्ध होना सिद्ध नहीं होसकता, जो विश्व के संचालन व नियन्त्रण के लिये आवश्यक है। शरीरी एकदेशी ईश्वर अनन्त विश्व का–असम्बन्ध होने के कारण–न संचालन करसकेगा, और न अनन्त जीवात्माओं के कर्मफल आदि का नियन्त्रण। यदि सम्बन्ध बिना स्वतः ऐसा होता रहे, तो परब्रह्म को मानने की फिर क्या आवश्यकता है? उसके बिना सब स्वतः होता रहेगा, पर ऐसा सम्भव नहीं, नियामक न रहने से सब अव्यवस्थित होजायगा। इसलिये सम्बन्ध न बनसकने से भी ईश्वर का शरीरी होना असंगत है ॥३८॥

असामञ्जस्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥

'न' तथा 'पत्युः' पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में है। [अधिष्ठानानुपपत्तेः] अधिष्ठान के अनुपपन्न–असिद्ध होने से [च] भी, ब्रह्म का शरीरी होना युक्त नहीं।

ब्रह्म को शरीरवाला मानने पर वह प्रकृति एवं प्राकृत जगत् का अधिष्ठाता नहीं होसकता। जिस प्रकृति से उसका शरीर बना है, उस प्रकृति का वह अधिष्ठान–आश्रय एवं नियन्ता होगा, यह सम्भव नहीं। किसी का अधिष्ठान कोई उसी अवस्था में होसकता है, जब वह उसपर अवलम्बित न हो। ब्रह्म तो अपने शरीर के लिये प्रकृति पर अवलम्बित है, तो वह प्रकृति का अधिष्ठान कैसे होगा? ऐसा मानने पर तो वास्तविकता का विपर्यय होजाता है। ब्रह्म को सबका अधिष्ठान माना गया है, यदि ब्रह्म का अधिष्ठान प्रकृति होजाती है, तो यह वास्तविकता का शीर्षासन ही कहा जायगा।

सूत्र में 'अधिष्ठान' पद का अर्थ यदि 'शरीर' किया जाता है, तो सूत्रार्थ होगा–ब्रह्म का शरीर अनुपपन्न होने से भी वह शरीरी नहीं होसकता। तात्पर्य यह, कि ब्रह्म का शरीर होना ही सिद्ध नहीं होसकता। वह शरीर निरवयव होगा या सावयव? निरवयव नित्य शरीर की कल्पना व्यर्थ है, ब्रह्म का नित्य निरवयव सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामीस्वरूप शास्त्रानुसार स्वीकार किया जाता है। सावयव मानने पर निश्चितरूप से वह अनित्य एकदेशी होगा, तब उसकी रचना के काल व अन्य कारणों का उपपादन करना अशक्य होगा। सर्ग से पूर्व उसका होना सिद्ध नहीं किया जासकता। सर्ग के अनन्तर होना व्यर्थ होगा, जगत्सर्ग जब अशरीर ब्रह्मद्वारा होगया, तब उसे शरीरी मानने से क्या लाभ? फलतः ब्रह्म का शरीर होना सिद्ध नहीं होता, तब उसे शरीरी कैसे कहा जासकेगा? वेद [यजु० ४०।८] में उसे 'अकाय' इसीकारण कहा है ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने ब्रह्मशरीर की कल्पना का अन्य प्रकार से प्रत्याख्यान किया—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

[करणवत्] करणों–इन्द्रियोंवाला है [चेत्] यदि, [न] नहीं; [भोगादिभ्यः] भोग आदि से। यदि जगत्पति का शरीर इन्द्रियोंवाला है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म को भोग आदि की प्राप्ति होगी।

ब्रह्म का शरीर मानने पर उसे करणों–इन्द्रियों से युक्त माना जाय, अथवा रहित ? यदि रहित माना जाता है, तो ऐसे शरीर की कल्पना करना अप्रामाणिक होगा। क्योंकि शरीर कोई ऐसा नहीं देखा जाता, जो इन्द्रियों से रहित हो। शरीर का अस्तित्व चेतन के कर्म व भोग आदि के लिये है, इन्द्रियां उनमें मुख्य साधन हैं। यदि ब्रह्म का शरीर सेन्द्रिय है, तो उसके शुभाशुभ कर्म और सुख-दुःख आदि भोगों को मानना होगा, जो सर्वथा अनिष्ट है। यदि कहा जाय, कि ब्रह्म के शुभाशुभ कर्म व सुख-दुःख आदि की सम्भावना न होने से उसके शरीर में इन्द्रियों का मानना अनपेक्षित है, तो उसका शरीर मानने की क्या आवश्यकता है ? शरीर मानने पर भोग आदि दोष से उसका छुटकारा कठिन होगा, अतः ब्रह्म को शरीरी समझना सर्वथा सारहीन है। सूत्र के 'आदि' पद से वासना क्लेश कर्म प्रभृति भावों का संग्रह होता है। परब्रह्म को शरीरी मानने पर उसमें इन सब भावों की प्रसक्ति होगी, जो सर्वथा अनिष्ट एवं अमान्य है ॥४०॥

ब्रह्म को शरीरी मानने पर आचार्य अन्य दोष उपस्थित करता है—

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

'न' तथा 'पत्युः' पदों की अनुवृत्ति सूत्र में है। [अन्तवत्त्वम्] अन्त–विनाशवाला होना [असर्वज्ञता] असर्वज्ञ होना [वा] और। जगत्पति ब्रह्म का शरीरी होना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर वह विनाशी व अल्पज्ञ होगा, अविनाशी सर्वज्ञ नहीं।

जो शरीर से सम्बद्ध होता है, वह कभी उसका परित्याग भी अवश्य करता है। यह स्थिति सम्भव नहीं होसकती, कि शरीरी होता हुआ कोई न शरीर का ग्रहण करे और न परित्याग। शरीर के ग्रहण और परित्याग का नाम ही विनाश है, उसीको सूत्र में 'अन्त' पद से कहा गया है। यदि प्रकृति एवं जीवात्मपुरुषों का अधिष्ठाता परब्रह्म शरीरी होवे, तो अवश्य वह जीवात्माओं के समान शरीर का कभी ग्रहण और कभी परित्याग करनेवाला होगा, ऐसी अवस्था में उसे अन्तवाला अर्थात् विनाशी एवं असर्वज्ञ–अल्पज्ञ मानना होगा। तब वह एक जीवात्मा जैसा चेतन होसकता है; सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वान्तर्यामी जगन्नियन्ता परब्रह्म नहीं। इसलिये जगत्पति परमात्मा को शरीरी मानना सर्वथा निस्सार है।

यह एक कल्पनामात्र सर्वथा औपचारिक कथन है, जो समस्त विश्व को परब्रह्म

के शरीररूप में वर्णन किया जाता है। सूर्य-चांद उसकी आंख हैं, अन्तरिक्ष उदर और भूमि पैर हैं, द्युलोक सिर एवं दिशाएं भुजा हैं। यह एक कल्पना है, जो विश्वरूप में उसके दर्शन की भावना से उभरती है, उसके अचिन्त्यस्वरूप को अभिव्यक्ति देने एवं अवगाहन करने का प्रयास है। सर्वोच्च आदर्श के रूप में जीवात्मा के लिये उसकी प्राप्ति और उसके प्रति जीवात्मा की भक्ति का यह द्योतक है। फलतः जगत्पति परब्रह्म का शरीरी, होना सम्भव नहीं। वह शरीर व अन्य किसीप्रकार के साधनों की अपेक्षा न करता हुआ संकल्पमात्र शक्तिद्वारा मूलउपादान प्रकृतितत्त्व को विश्व के रूप में परिणत करता तथा पुनः यथावसर कारणरूप में अवस्थित किया करता है। ब्रह्म का वही स्वरूप जिज्ञास्य एवं उपास्य है। यह समझाना प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है ॥४१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, परब्रह्म को समस्त विश्व एवं जीवात्माओं का पति, अधिष्ठाता व नियन्ता बताया गया, तब जैसे ब्रह्म प्रकृति को विश्वरूप में परिणत करता है, वैसे ही क्या जीवात्माओं को भी किसी उपादानतत्त्व से परिणत करता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥

[उत्पत्त्यसम्भवात्] उत्पत्ति के सम्भव न होने से। इस सूत्र में 'न' पद की अनुवृत्ति पीछे से समझनी चाहिये। जीवात्मा की उत्पत्ति सम्भव न होने से उसे किसी तत्त्व का परिणाम कहना युक्त नहीं।

जड़ जगत् प्रकृतिरूप जड़ उपादानतत्त्व से ब्रह्मद्वारा परिणत किया जाता है। जगदुत्पत्ति की यह शास्त्रीय युक्तियुक्त व्याख्या है। ब्रह्म को सर्वजगन्नियन्ता मानने पर स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है, जैसे ब्रह्म जगत् को प्रकृति उपादान से परिणत करता है, ऐसे ही यह संभव है, कि जीवात्माओं को किसी उपादान से परिणत करता हो, क्योंकि इस जगत् में प्रतिशरीर जीवात्मा नाम के एक चेतनतत्त्व का अनुभव किया जाता है, उसका प्रादुर्भाव भी कहीं से माना जाना चाहिये। इस आधार पर ब्रह्म का सर्वजगत् का नियन्ता होना परिनिष्ठित होता है। आचार्य ने साधारणरूप से इसका समाधान किया, कि जीवात्मा की उत्पत्ति असंभव है। कारण यह है, कि जगत् में जो कुछ परिणाम है, वह सब जड़ प्रकृति का है। जड़ का परिणाम जड़ होसकता है, चेतन नहीं। जीवात्मा चेतनतत्त्व है। सूत्रकार 'असंभव' हेतु कहकर इस तथ्य पर बल देना चाहता है, कि चेतनतत्त्व न किसीका कार्य होता, न उपादान। जीवात्मा को चेतन मानते हुए न वह किसीका कार्य संभव है, और न उसके उपादान का होना संभव। चेतन आत्मा को जड़ प्रकृति का परिणाम न माने जाने पर यह कल्पना होसकती थी, कि चेतन ब्रह्म को उसका उपादान मानलिया जाय; पर 'असंभव' हेतु ने इस कल्पना की जड़ को ही उखाड़ दिया। इस हेतु के कथन का रहस्य यही है, कि चेतनतत्त्व न किसीका उपादान होता न कार्य;

इसलिये जीवात्म-चेतन की उत्पत्ति की संभावना सारहीन है।

ब्रह्म को जीवात्माओं का नियन्ता बताने का तात्पर्य है–उनके कर्मफलप्रदान की व्यवस्था का नियामक होना, तथा सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्मस्वरूप को जानकर उस आनन्दानुभूति के लिये साधनरूप में जीवात्म-निमित्त जगत् को प्रस्तुत करना। इस स्थिति को लाना जीवात्मा के सामर्थ्य से बाहर है, इस रूप में चेतन-अचेतन समस्त विश्व का नियन्ता ब्रह्म बताया गया है। इतने से जीवात्माओं के परिणाम की आशंका नहीं की-जानी चाहिये। इससे यह भी अभिव्यक्त होजाता है, कि परब्रह्म परमात्मा स्वयं जीवात्मा के रूप में यहां उपस्थित नहीं होता ॥४२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जीवात्मा को चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा माना गया; तब जैसे ब्रह्म जगद्रचना में किसी सहायक साधन की अपेक्षा नहीं रखता, क्या जीवात्म-चेतन को भी अपने संपाद्य कार्यों में साधन की अपेक्षा नहीं रहती? आचार्य ने समाधान किया–

न च कर्त्तुः करणम् ॥४३॥

पीछे से 'न' पद की अनुवृत्ति यहां भी है। [न] नहीं [च] ही [कर्त्तुः] कर्त्ता का [करणम्] करणसाधन, (यह कथनयुक्त नहीं)। सूत्र का 'च' पद अवधारण अर्थ में है। शुभाशुभ कर्मों के कर्त्ता जीवात्मा का कोई करण–साधन नहीं होना चाहिये, यह कथन किसीतरह युक्त नहीं।

शास्त्र यह बतलाता है, कि चेतन ब्रह्म को अपने कार्यसंपादन करने व वस्तुज्ञान के लिये करण अपेक्षित नहीं होते। श्वेताश्वतर उपनिषद् [३।१७] में कहा–'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' वह सब करणों से रहित हुआ, सब विषयों का अवभास करलेता है। तथा [श्वे० ३।१९] बताया–'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' वह बिना हाथ, पैर के सर्वत्र व्याप्त और सबको जकड़े हुए है, बिना आंखों के देखता और बिना कानों के सुनता है। जिज्ञासु का आशय है, कि यह चेतनब्रह्मगत विशेषता जीवात्मा में नहीं देखी जाती, अतः जीवात्मा को अनुत्पत्तिधर्मा नहीं माना जाना चाहिये; अथवा उसको भी ब्रह्म के समान करणों की अपेक्षा न होनी चाहिये।

इस सूत्र में गतसूत्र से 'असंभवात्' हेतु पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। आचार्य ने बताया, यद्यपि जीवात्म-चेतन ब्रह्म के समान अनुत्पत्तिधर्मा है, पर उसे अपने कार्य संपादन करने के लिये ब्रह्म के समान करणों की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये; यह कथन असंभव होने से सर्वथा अयुक्त है। इस हेतु में आचार्य का स्वारस्य यही है, कि चेतन व अनुत्पत्तिधर्मक होने पर भी जीवात्मा नितान्त अल्पशक्ति एवं अल्पज्ञ है। यह स्थिति जीवात्मा को ब्रह्म से अतिरिक्तस्वरूप करदेती है। इसका स्पष्टीकरण सूत्रकार ने अनेक स्थलों [ब्र० सू० १।१।१७, २१॥ २।१।२२॥ ४।४।१७] पर किया है। इन्हीं भावनाओं को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने बताया, ब्रह्म की समस्त स्थितियों को

जीवात्मा में उतारना असंभव है, ये सत्ता अपनी विशेषताओं के साथ एक दूसरे से अतिरिक्त हैं। अल्पशक्ति जीवात्मा को भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिये जहां विविध करण अपेक्षित होते हैं, वहां सर्वशक्ति परब्रह्म करणों की अपेक्षा बिना जगद्रचना आदि कार्य किया करता है। इस दिशा में ब्रह्म से जीवात्मा की तुलना अनावश्यक एवं अहेतुक है। सूत्रकार ने स्वयं [२।१।३१ में] ब्रह्म को विकरण तथा जीवात्मा को यहां करणयुक्त बताया है। फलतः जीवात्मा चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा होता हुआ भी करणों से युक्त होता है, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥४३॥

जीवात्मा के कार्य करण बिना संपन्न नहीं होते, यह बताते हुए सूत्रकार ने जीवात्मा के साथ सर्गदशा में करण-सहयोग का प्रतिपादन किया—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४४॥

[विज्ञानादिभावे] विज्ञान आदि के होने में [वा] तथा [तदप्रतिषेधः] उसका (करण का) प्रतिषेध नहीं। आत्मा को विज्ञान आदि की उत्पत्ति में आवश्यक होने से करण का प्रतिषेध नहीं।

सूत्र में 'आदि' पद से इच्छा द्वेष यत्न प्रभृति का ग्रहण अपेक्षित है। आत्मा को जो विविध ज्ञान—बाह्य तथा आभ्यन्तर—होते हैं, एवं इच्छा द्वेष आदि की जो उत्पत्ति होती है, उनमें चक्षु आदि बाह्य तथा मन आदि आभ्यन्तर करण जीवात्मा के लिये पूर्णरूप से सहायक होते हैं। यह तथ्य लोक तथा शास्त्रद्वारा सबप्रकार से प्रमाणित है। इसलिये आत्मा के साथ करणों के सहयोग का प्रतिषेध नहीं किया जासकता। लोकरचना में जीवात्मा के लिये चक्षु आदि करणों का निर्माण हुआ है, और शास्त्र इसका विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। ऐसी दशा में इस जिज्ञासा के लिये कोई अवकाश नहीं रहता, कि चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा होने से ब्रह्म के समान जीवात्मा को अपने कार्यों के संपादन में करण—साधन की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। फलतः चेतन व अनुत्पत्तिधर्मा भी जीवात्मा कार्यसंपादन में करणसापेक्ष रहता है।

इस उपपादन में यह रहस्य है, कि यदि जीवात्मा अपने भोगादि कार्यसंपादन में करणनिरपेक्ष हुआ करता, तो उसके लिये न देहादि की आवश्यकता होती, और न ब्रह्म को जगत् की रचना करना आवश्यक रहता। तब ब्रह्म की जिज्ञासा और उसके स्वरूपबोधन के लिये 'जन्माद्यस्य यतः' आदि के रूप में शास्त्र का आरम्भ कहां होता? यह सब विस्तार ब्रह्म और जीवात्मा की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालता है। इससे जीवात्मा के लिये जिज्ञास्य उपास्य एवं प्राप्य ब्रह्मस्वरूप का स्पष्टीकरण होता है ॥४४॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य सूत्रकार ने कहा—

विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

[विप्रतिषेधात्] विप्रतिषेध से [च] तथा (उक्तप्रकार)। उक्तप्रकार विविध प्रतिषेध से ब्रह्मस्वरूप का निश्चय किया गया।

चेतन के सहयोग विना प्रकृति स्वतः जगद्रूप में परिणत होती है, इस वाद का प्रतिषेध पाद के प्रारम्भिक भाग में किया गया। चतुर्विध परमाणु से जगत् स्वतः उत्पन्न होजाता है, ब्रह्मप्रेरणा की उसमें अपेक्षा नहीं, अथवा परमाणु का समुदाय ही जगत् है, इस वाद का पाद के मध्यम भाग में प्रतिषेध किया गया। जगत् अभावमात्र है, तथा केवल एकमात्र ब्रह्म की सत्ता भी ब्रह्म के वास्तविक निर्दोष स्वरूप को सिद्ध करने में सहायक नहीं; इसलिये इन विचारों का प्रतिषेध पाद के मध्यभाग से आगे किया गया। अन्त में ब्रह्म के शरीरी होने का प्रतिषेध कर जीवात्मा के साथ उसकी सर्वांश में तुल्यता का प्रतिषेध किया गया। इसप्रकार विविध प्रतिषेध से ब्रह्म की वास्तविक स्थिति को समझाने का प्रयास द्वितीय पाद के द्वारा सूत्रकार ने किया है; इसी विषय का निगमन प्रस्तुत सूत्र में हुआ है।

इससे यह परिणाम निश्चित होता है, कि ब्रह्म जगत् का कारण है, ब्रह्म की उपेक्षा कर कोई अन्य प्रकार ऐसा संभव नहीं, जिसके अनुसार जगत्सर्ग की व्याख्या की-जासके। केवल ब्रह्म को मानकर सर्ग की निर्दोष व्याख्या संभव नहीं। इसलिये कूटस्थ सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता चेतन ब्रह्म के साथ जगत् के जड़ उपादानतत्त्व प्रकृति को स्वीकार कर नित्य चेतन जीवात्माओं के अस्तित्व को इस रूप में माना गया है, कि वह वास्तविक ब्रह्मस्वरूप को जानकर उस अनुपम आनन्दानुभूति के लिये प्रयास करता है। प्रस्तुत पाद में जगत्सर्ग के तथाकथित सब प्रकारों के प्रतिषेधद्वारा प्रकृति उपादानतत्त्व से जगद्रचयिता के रूप में कूटस्थ चेतन सर्वनियन्ता ब्रह्मस्वरूप का निश्चय किया है। शास्त्रारम्भ में जिसकी जिज्ञासा का प्रस्ताव है, यही उसका स्वरूप है। इसके जानलेने पर अन्य कुछ ज्ञातव्य अपेक्षित नहीं रहता। इसको प्राप्त करना ही जीवात्मा की अप-वर्गदशा है, जो उसका सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है ॥४५॥

इति द्वितीयाध्यायस्य सर्गविषयकविविधमतप्रतिषेधप्रदर्शनं नाम
द्वितीयः पादः।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

प्रथम अध्याय में शास्त्रीय वाक्यों के समन्वयद्वारा प्रतिपादित किया गया, कि जगत् के जन्म आदि का मुख्य कारण ब्रह्म है। इस समन्वय में स्मृति और तर्क के आधार पर तथाकथित विरोध का परिहार द्वितीयाध्याय के प्रथम दो पादों में किया गया। उस समन्वय में शास्त्र की विभिन्न उक्तियों के आधार पर विरोध की संभावना होसकती है, उसके विवेचन के लिये यह प्रसंग प्रारम्भ किया जाता है।

प्रसंग की इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, जगत् की उत्पत्ति में आकाश' का समावेश है, या नहीं ? क्योंकि शास्त्र में कहीं आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख है, कहीं नहीं। यह स्थिति जगदुत्पत्ति के विषय में विरोध को प्रकट करती है। आचार्य सूत्रकार ने इसके विवेचन के लिये पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

न वियदश्रुतेः ॥१॥

[न] नहीं [वियत्] आकाश [अश्रुतेः] श्रुति के न होने से। आकाश की उत्पत्ति में कोई श्रुति न होने से आकाश उत्पन्न नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद् [६।२।३-४; ६।३।२-४] के सर्गरचनावर्णन में त्रिविध मूलउपादानतत्त्वों के अन्योन्यमिथुन द्वारा नाम-रूप के विस्तार के अवसर पर तेज आदि का उल्लेख है, आकाश का नहीं। इसीप्रकार ऐतरेय उपनिषद् [१।१-२] में कहा—'स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः' उसने इन लोकों को बनाया—अम्भस्, मरीचि, मर, आपस्। वह जो द्युलोक से परे है, अम्भस् है [अदोऽम्भः परेण दिवम्], अन्तरिक्ष मरीचि है, पृथिवी मर और जल आपस् हैं। यहां भी सर्गरचना में आकाश का उल्लेख नहीं है। अतीन्द्रिय पदार्थों की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति को जानने के लिये शास्त्र प्रमाण होसकता है। यदि आकाश उत्पन्न हुआ होता, तो उसका उपनिषद् के उक्त प्रसंगों में उल्लेख होता, न होने से निश्चय है, आकाश की उत्पत्ति नहीं होती ॥१॥

रहस्य को पूर्णरूप से न समझते हुए शिष्य ने कहा, आकाश की उत्पत्ति के विषय का वर्णन मुण्डक व तैत्तिरीय उपनिषद् में उपलब्ध है। आचार्य सूत्रकार ने आगे विवेचन की भावना से शिष्योक्ति को ग्रथित किया—

अस्ति तु ॥२॥

[अस्ति] है [तु] तो। शास्त्र में आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख है तो सही।

मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में कहा—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' उस अक्षरतत्त्व से प्राण मन सब इन्द्रियां, आकाश वायु ज्योति जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। यहां आकाश की

उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। इसीप्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में बताया–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' निश्चित ही उस व्यापक तत्त्व से आकाश उत्पन्न होता है। यहां आकाश को उत्पन्न होनेवाला तत्त्व कहा है। इन शास्त्रवचनों के आधार पर आकाश की उत्पत्ति का निश्चय होता है ।।२।।

आचार्य सूत्रकार ने तत्त्वविवेचन की भावना से पूर्वपक्ष को दृढ़ करते हुए कहा—

गौण्यसंभवात् ।।३।।

[गौणी] गौण है (आकाश की उत्पत्ति), [असंभवात्] संभव न होने से। निरवयव व्यापक आकाश की उत्पत्ति संभव न होने से उत्पत्ति का निर्देश गौण है।

प्रलयदशा में मूलउपादानतत्त्वों से जो आकाश भरा हुआ था, वह सर्गदशा आने पर मूलतत्त्वों के जगद्रूप में परिणत होजाने से आविर्भूत–प्रकट जैसा होजाता है, उस स्थिति को 'सम्भव–उत्पन्न होना' कह दिया गया है। वस्तुतः आकाश उत्पन्न नहीं होता। इसे मुख्य उत्पत्ति नहीं कहा जासकता। क्योंकि आकाश व्यापक व निरवयव पदार्थ है। उत्पन्न होनेवाला पदार्थ सदा सावयव होता है, इसीलिये परिच्छिन्न। आकाश की अपनी स्थिति निश्चय कराती है, कि उसकी उत्पत्ति होना असंभव है ।।३।।

पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिये सूत्रकार ने और कहा—

शब्दाच्च ।।४।।

[शब्दात्] शब्द से [च] भी। शब्दप्रमाण से भी आकाश का उत्पन्न न होना सिद्ध होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।३] में बताया–'वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्' वायु और अन्तरिक्ष यह अमृत हैं, अमरणधर्मा हैं। जो उत्पन्न होता है, वह मरता अवश्य है। आकाश को अमरणधर्मा बताये जाने से स्पष्ट होता है, कि वह उत्पन्न होनेवाला पदार्थ नहीं है। जहां कहीं उसकी उत्पत्ति का उल्लेख है, उसे उक्त आधारों पर गौण समझना चाहिये। अन्यथा बृहदारण्यक के इस वर्णन के साथ उसके विरोध की आपत्ति होगी ।।४।।

शिष्य आशंका करता है, सर्गप्रकरण के मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] के वाक्य में 'जायते' क्रियापद तथा तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में 'सम्भूतः' पद वहां कहे गये पदार्थों की उत्पत्ति के बोधक हैं। उन स्थलों में एक ही पद का आकाश के विषय में गौण प्रयोग हो, तथा वायु अग्नि आदि के विषय में मुख्य प्रयोग, यह कैसे होसकता है? एक अर्थ में प्रयोग मानने पर आकाश आदि की उत्पत्ति के विषय में वाक्यों का विरोध पूर्ववत् विद्यमान रहेगा। आचार्य ने पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिये समाधान किया—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

[स्यात्] होवे [च] भी [एकस्य] एक का [ब्रह्मशब्दवत्] ब्रह्म शब्द के समान। एक पद का भी गौण और मुख्य अर्थविषयक प्रयोग होसकता है; जैसे एक स्थल पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है।

तैत्तिरीय उपनिषद् [३।२] में वाक्य है–'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति' तपद्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ब्रह्म है। इस वाक्य में एक ही ब्रह्म पद का पहला प्रयोग मुख्य अर्थ में है, दूसरा गौण अर्थ में; जो ब्रह्मज्ञान का साधन है, उस तप को ब्रह्म कह दिया गया है। ऐसे ही मुण्डक [२।१।३] के वाक्य में 'जायते' पद तथा तैत्तिरीय [२।१] का 'सम्भूतः' पद गौण और मुख्य दोनों अर्थों के बोधक माने जासकेंगे। यद्यपि वाक्य में उत्पत्तिबोधक शब्द एक है, पर आश्रयभेद से पदव्यक्ति का भेद मानलेने पर अर्थ के भेद में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। तात्पर्य यह है, कि 'जायते' और 'सम्भूतः' पदों का वाक्यगत प्रत्येक आश्रय-पद के साथ सम्बन्ध होगा– 'प्राणः जायते, खं जायते, वायुः जायते' इत्यादि; ऐसे ही 'आकाशः सम्भूतः, वायुः सम्भूतः' आदि। इनमें आश्रय के भेद से 'जायते' और 'सम्भूतः' पदों का अर्थभेद हो-जायगा। आकाश-आश्रय के विषय में वह गौण होगा और अन्य पदार्थों के विषय में मुख्य। इसप्रकार आकाश के नित्य मानने पर भी इस विषय के शास्त्रीय वाक्यों में विरोध की आशंका नहीं कीजानी चाहिये ॥५॥

शिष्य आशंका करता है, उक्त विवेचन से आकाशगत उत्पत्तिविषयक विरोध आपाततः न रहो, पर तैत्तिरीय उपनिषद् [२।६] के अनुसार ब्रह्मकर्त्ता से समस्त जगत् की उत्पत्ति की प्रतिज्ञा का विरोध तो अवश्य होगा। तैत्तिरीय में कहा–'सोऽकामयत··· स ···इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' वह संकल्प करता है, वह इस सबको बनाता है, जो कुछ यह है। इस 'सब जो कुछ' में आकाश भी आजाना चाहिये। यदि आकाश इसमें नहीं आता, तो–वह 'इस सबको बनाता है'–कहना ठीक नहीं रहता; यदि आकाश उत्पत्ति के अन्तर्गत है, तो आकाश को अनुत्पन्न बताना असंगत होजाता है। आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

[प्रतिज्ञाऽहानिः] प्रतिज्ञा की हानि न होगी [अव्यतिरेकात्] व्यतिरेक–अलग न होने से, [शब्देभ्यः] शब्दों से। प्रतिज्ञा की हानि इसलिये न होगी, कि जो कुछ उत्पन्न होता है, वह सब आकाश से अलग नहीं, क्योंकि वह व्यापक है; उसकी व्यापकता शब्दों से जानी जाती है।

आकाश के नित्य मानने पर प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती। कारण यह है, कि

आकाश एक व्यापक पदार्थ है। समस्त उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का आकाश के साथ सम्बन्ध निश्चितरूप से बना रहता है। एक परिच्छिन्न द्रव्य का दूसरे परिच्छिन्न के साथ असंबन्ध संभव है। पर आकाश तो व्यापक है, प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थ का आकाश से नियत सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का उपचार आकाश में होजाता है। जब यह कहा जाता है, कि इस सबको ब्रह्म उत्पन्न करता है, तो उस सबके आकाश में अव्यतिरेक–सम्बन्ध के कारण सबकी उत्पत्ति का उपचार–गौण व्यवहार आकाश में होजाता है। आकाश के नित्य होने पर भी उत्पत्ति का गौण प्रयोग उसके विषय में होने से न प्रतिज्ञा की हानि होती है और न शास्त्रीय वाक्यों का परस्पर विरोध। जब हम कहते हैं–बालक उत्पन्न हुआ है अथवा देवदत्त मर गया है; ऐसे वाक्यों में जन्मना-मरना व्यवहार नित्य आत्मा से युक्त शरीर के लिये होता है। जीना-मरना देह का मुख्यधर्म है, पर उसके सम्बन्ध से नित्य आत्मा में यह व्यवहार गौण-रूप से होता रहता है। ऐसा नित्य आकाश में समझना चाहिये ॥६॥

इस लम्बे पूर्वपक्षप्रसग में आकाश को नित्य मानकर उसके उत्पत्तिविषयक वाक्यों के समन्वय का प्रयास किया गया। इस आधार पर शिष्य जिज्ञासा करता है, आकाश के उत्पत्तिविषयक उल्लेख गौण हैं, तथा अनुत्पत्तिविषयक मुख्य; इसमें कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया, फिर इसके विपरीत अर्थ को क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ? उस दशा में उत्पत्तिविषयक वाक्यों का विरोध वैसा ही बना रहेगा। आचार्य सूत्रकार ने विस्तृत पूर्वपक्ष को ध्यान में रख यथार्थ समाधान किया—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

[यावद्विकारम्] जहांतक विकार है [तु] किन्तु [विभागः] विभाग (होता है) [लोकवत्] लोक के समान। सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का सूचक है। जहांतक विकार–कार्य की स्थिति है, वहांतक विभाग–अवयवविश्लेषण होता रहता है, जैसा कि लोक में परीक्षणों द्वारा जाना जाता है।

आकाश के उत्पत्तिविषयक उल्लेखों को 'असंभव' हेतु [२।३।३] के आधार पर गौण बताया गया। पर आकाश की उत्पत्ति में असंभव की आशंका नहीं होनी चाहिये। कारण यह है, कि जितना विकारसमुदाय है, उस सबके विभाग–विश्लेषण द्वारा उनके कारणों का पता लगाया जासकता है। लोक में घट पट आदि स्थूल पदार्थों का विभाग प्रत्यक्ष देखा जाता है, तथा उस आधार पर उनके कार्य होने का निश्चय होता है। जो साधारण सूक्ष्म पदार्थ हैं, उनका विश्लेषण अन्य यन्त्रादि उपयोगी साधनों द्वारा किया जाकर उनके कार्य होने का बोधक होता है। अतिसूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय अर्थों का विश्लेषण प्रतिभापूर्ण तर्कों युक्तियों तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों द्वारा समझा जासकता है। सूत्रकार का आशय है, कि प्रत्यक्ष घट पट आदि विकारों के विश्लेषण के समान

सूक्ष्म अवस्थागत तत्त्वों के विश्लेषण का अनुमान किया जासकता है। कोई विकार अर्थात् कार्य निश्चित ही अपने कारणों द्वारा उत्पन्न होता है। प्रश्न है–आकाश ऐसा कार्य है या नहीं? सूत्रकार ने निर्णय दिया, आकाश ऐसा विकार है, विश्लेषणद्वारा उसके कारणतत्त्वों का पता लगाया जासकता है।

आकाश तत्त्व क्या है? वस्तुतः लोकव्यवहार में इस विषय की कुछ भ्रान्ति देखी जाती है। ऊपर नीलाभ स्थिति को आकाश समझना या खाली जगह को आकाश कहना भ्रान्तिपूर्ण है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार शब्द का आश्रय एवं समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थों तथा उनकी सक्रियता को अवकाश प्रदान करने वाला तत्त्व 'आकाश' है। आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार इस तत्त्व का नाम 'ईथर' है। यह सर्वव्यापक तत्त्व है, कोई ऐसा अंश नहीं, जहां इसका अस्तित्व न हो। यह विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों [इलैक्ट्रो-मैग्नेटिक वेव्ज़=Electro-Magnetic Waves] का आधार अथवा वाहन समझा जाता है।[1] यद्यपि आधुनिक विज्ञान इस तत्त्व के विषय में अभी तक किसी

---

१. आधुनिक विज्ञान के अनुसार समस्त तत्त्व दो विभागों में अन्तर्हित माने जाते हैं– ऐनर्जी और मैटर। ऐनर्जी को निम्नलिखित रूपों में विभाजित कहा जाता है– (१) प्रकाश, (२) विद्युत, (३) ध्वनि, (४) ऊष्मा (गरमी), (५) चुम्बकीय शक्ति, (६) स्टैटिक् [Static=स्थिरता से प्राप्त शक्ति], (७) कॉयनैटिक् [Kinetic=गत्यात्मक अथवा गति से प्राप्त शक्ति]। इन सबसे अतिरिक्त तत्त्व मैटर अर्थात् द्रव्य कहे जाते हैं।

प्रसंगप्राप्त 'ईथर' के विषय में कहा जाता है, कि एक ईथर द्रव्य है, जो औषध व चिकित्सा आदि के लिये प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त ईथर एक व्यापक तत्त्व है। यह नाम उस सूक्ष्म माध्यम को दिया गया, जो सब वस्तुओं और सब अवकाशों में व्याप्त समझा जाता रहा है। यहां तक कि ऐटम और इलैक्ट्रॉन्स् के बीच में भी ईथर व्याप्त है। ईथर के मानने का आधार इसलिये लिया गया, कि उसके द्वारा प्रकाश, ऊष्मा, ध्वनि तथा विद्युत्-चुम्बकीय-तरंगों आदि की गति के समझने समझाने में सहायता मिलती रही है। अब ऐसे माध्यम के मानने की आवश्यकता नहीं रही। वैज्ञानिकों का नवीन आधुनिक विचार है, कि स्थिर 'ईथर' तत्त्व का कहीं आभास नहीं मिलता, इसलिये यह निरुपयोगी है। जिन तत्त्वों का वाहन उसे माना जाता रहा है, वे स्वयं गति कर सकते हैं; उनमें गति दे देने पर जब तक उसका कोई अवरोधक न हो, गति बनी रहसकती है।

सर ऑलिवर लॉज ने ईथर के कुछ गुणों का वर्णन किया है। (१) यह सारे अवकाश को पूर्णतया भरे हुए है। (२) यह सर्वात्मना पारदर्शी है। (३) इसको अधिक फैलाया या सिकोड़ा नहीं जासकता, इसमें गाढ़ापन [घनता=

निश्चित धारणा तक नहीं पहुंचा, पर इसप्रकार के विवेचनों से यह प्रकट होता है, कि 'आकाश' कोई नित्य तत्त्व न होकर एक विकार होसकता है।

उसके कारणतत्त्वों का पता उसके विश्लेषण से लगाया जासका है। कापिलतन्त्र में इसके कारणतत्त्व कतिपय 'तन्मात्र' माने गये हैं। उन तन्मात्रों का 'शब्द-तन्मात्र' नाम इस आधार पर दिया गया, कि वे ऐसे तत्त्व के रूप में परिणत होजाते हैं, जो शब्द के आश्रय के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखता है। आकाश के उत्पत्तिधर्मा माने जाने पर चेतन ब्रह्म अखिल विश्व का स्रष्टा है, इस प्रतिज्ञा में कोई बाधा या हानि नहीं होती। आकाश को जो अमृत कहा गया [बृ० २।३।३], वह केवल उसके एकरूप में चिरस्थायित्व को प्रकट करता है। आकाश के साथ वायु को भी अमृत कहा है, जहां 'अमृत' पद के मुख्य अर्थ की कल्पना नहीं कीजासकती। उसीके समान आकाश को समझना चाहिये।

विश्लेषण के आधार पर किसी पदार्थ के कारणतत्त्वों को समझने की प्रक्रिया चेतनतत्त्व में लागू नहीं कीजासकती। समस्त विकारी विश्व अचेतन है, वह अचेतन मूलउपादानतत्त्व से परिणत किया जाता है। चेतनतत्त्व न किसी पदार्थ का उपादान-कारण होता, न किसी का कार्य। चेतनतत्त्व में किसी प्रकार की विक्रिया को आज तक जाना नहीं जासका, न ऐसी संभावना है। वह तत्त्व नित्य अपरिणामी कूटस्थ होता है, ऐसा चेतनतत्त्व के साक्षात्कर्त्ताओं ने बताया है। उसे परिणामी मानने पर चेतन व अचेतन की स्थिति में कोई अन्तर नहीं रहता। यह व्यवस्था उसके अविकारी होने की द्योतक है। फलतः आकाश उत्पत्तिधर्मा है, ब्रह्म की रचना में उसकी गणना है। इस आधार पर शास्त्रीय वाक्यों में किसी के विरोध की संभावना नहीं कीजानी चाहिये।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र की जिसप्रकार व्याख्या की है, उसके अनुसार आचार्य तथा उसके अनुयायिओं द्वारा स्वीकार किये गये छह अनादि पदार्थों की संगति नहीं बैठती। ब्रह्म के अतिरिक्त यदि अन्य समस्त ब्रह्म की रचना या उसका विकार हैं, तो छह अनादि की कल्पना निराधार व प्रतिज्ञा की बाधक होती है। प्रतिज्ञा की अहानि में छह अनादि की कल्पना असंगत है। अन्यथा आचार्य का व्याख्यान अयथार्थ माना जायगा ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।३] में आकाश के

Viscosity] **बिल्कुल नहीं है। (४) यह एक्सरे, वायरलैस, इलैक्ट्रिक एवं चुम्बकीय धाराओं का वाहक है। पदार्थ [मैटर] का मूल [उद्गम—प्रारम्भ] वैद्युतिक [इलैक्ट्रिकल = Electrical] है, इसलिये विद्युत [इलैक्ट्रिसिटी = Electricity] का भी वाहन ईथर है।**

यह विवरण 'ऐवरी मैन्स इन्साईक्लोपीडिया' [Every Mans Encyclopaedia, Dent **द्वारा लन्दन से प्रकाशित] के आधार पर दिया गया है।**

साथ वायु को 'अमृत' कहा है। उसके विषय में क्या निर्णय है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

[एतेन] इससे [मातरिश्वा] वायु [व्याख्यातः] व्याख्या किया गया। आकाश विषयक गतविवेचन से वायुविषयक व्याख्या समझ लेनी चाहिये।

बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।३] में वायु को 'अमृत' कहा है। वहीं अन्य स्थल [बृ० १।५।२२] में 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' पदों द्वारा वायु को अनस्तमिता—अविनाशी देवता बताया है। इससे प्रतीत होता है—उपनिषत्कार वायु को अनुत्पन्न तत्त्व समझता है। परन्तु मुण्डक [२।१।३] और तैत्तिरीय [२।१] में वायु की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। शास्त्रवाक्यों में यह विरोध प्रतीत होता है, और इस आधार पर सन्देह होता है, कि वायु को उत्पन्न तत्त्व माना जाय अथवा अनुत्पन्न?

आचार्य ने निर्णय दिया, आकाश के व्याख्यान से वायुविषयक व्याख्यान समझ लेना चाहिये। जैसे आकाश अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाला तत्त्व है, ऐसे ही वायु है। विश्लेषण से यह निश्चय किया जासका है, कि वायु अपने कारणतत्त्वों से उत्पन्न व परिणत होनेवाला तत्त्व है, अविकारी तत्त्व नहीं। आधुनिक विज्ञान ने यह प्रकट किया है, कि लगभग चार भाग नाइट्रोजन और एक भाग ऑक्सिजन तथा आधे से भी कम भाग में अन्य कई तत्त्व मिलकर वायुरूप में परिणत होते हैं। इसप्रकार कतिपय कारण-तत्त्वों के अन्योन्यमिथुन से अभिव्यक्त होने के कारण वायु को अज, अमृत एवं अविनाशी नहीं समझना चाहिये।

कापिल दर्शन में वायु के कारणतत्त्व कतिपय 'तन्मात्र' हैं। इनको 'स्पर्शतन्मात्र' नाम इस आधार पर दिया गया है, कि इनसे परिणत होनेवाला सबसे पहला ऐसा तत्त्व है, जो स्पर्श का आश्रय होता है। सृष्टिरचना के क्रम में सबसे पहला वायु ऐसा पदार्थ है, जहां स्पर्श का अनुभव किया जाता है। आगे की रचना में अन्य पदार्थ भी स्पर्श के आश्रय होते हैं, पर उनकी अतिरिक्त विशेषताओं के कारण उन आधारों पर उनके पृथक् नाम और पृथक् स्वरूप हैं।

यह निश्चय होने पर कि वायु उत्पन्न होनेवाला पदार्थ है, शास्त्र में उसे जो कहीं अमृत अथवा अविनाशी कहा है, वह गौण है, उसका तात्पर्य केवल उसे चिरस्थायी बताने में है। आकाश वायु आदि तत्त्व आदिसर्गकाल में उत्पन्न होकर महाप्रलयपर्यन्त बराबर अवस्थित रहते हैं; इस चिरकाल अवस्थिति की भावना से उनके लिये उक्त पदों का प्रयोग हुआ है, उन्हें मुख्यरूप से नित्य बताने की भावना से नहीं। इससे न शास्त्रविरोध है, और न वायुविषयक किसी सन्देह के लिये अवकाश रहता है॥८॥

शिष्य आशंका करता है, आकाश व वायु को शास्त्र में नित्य कहे जाने पर भी

अन्य शास्त्रीय उल्लेखों के आधार पर नित्य कथन को गौण मानकर उन्हें अपने कारण-तत्त्वों से उत्पन्न पदार्थ होने का निर्णय दिया गया। तब उन कारणतत्त्वों को भी अन्य कारणतत्त्वों से उत्पन्न होनेवाला क्यों न माना जाय ? उन्हें कार्यमात्र का मूलकारण कहना निराधार है। ऐसी दशा में अनवस्था दोष भी प्राप्त होता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

[असम्भवः] सम्भव–उत्पाद अयुक्त है [तु] तो [सतः] सत्–सदा वर्त्तमान कारण का [अनुपपत्तेः] उपपत्ति–सिद्धि के अभाव से। सदा वर्त्तमान मूलकारण का तो उत्पन्न होना अयुक्त है, क्योंकि किसी युक्ति व प्रमाण से यह सिद्ध नहीं हो सकता।

उपनिषद् में आकाश व वायु को जहां 'अमृत' कहा है, वहां उनकी उत्पत्ति का भी स्पष्ट उल्लेख है। इसलिये इनके विषय में विवेचन कर निर्णय किया गया। परन्तु शास्त्र में मूलकारणों के नित्य होने का तो उल्लेख है, उनकी उत्पत्ति के विषय में कहीं कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। इसलिये आकाश आदि के समान उनके विषय में ऐसा विवेचन व निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

कार्यमात्र के मूलकारण दो प्रकार के तत्त्व हैं, एक चेतन दूसरा जड़। जगत् का मूल उपादानकारण जड़ प्रकृति-तत्त्व है, तथा अन्य नियन्ता कारण चेतनतत्त्व ब्रह्म है। इनके नित्य व अजन्मा होने का उल्लेख सर्वत्र शास्त्र में पाया जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।९] में बताया–'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता' सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दो अजन्मा तत्त्व हैं, एक उनमें नियन्ता [ईश] है, और दूसरा नियम्य [अनीश], इनसे अन्य एक और अजन्मा तत्त्व है, जो भोक्ता के लिये भोग्य अर्थों से युक्त है। यह त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति है। इसी विषय में आगे [श्वे० १।१०] कहा–'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।' वह जगद्रूप में परिणत होनेवाला जड़तत्त्व प्रधान है, और अमृत अक्षर ब्रह्म है, जो एकमात्र देव प्रकृति और जीवात्माओं पर नियन्त्रण करता है। अन्यत्र [श्वे० ४।५] त्रिगुणात्मिका प्रकृति को अजन्मा कहा गया है। मुण्डक उपनिषद् [२।१-२] में भी जगत् के उपादानतत्त्व प्रकृति को अक्षर–अविनाशी तत्त्व कहा है। ब्रह्म के नित्यत्व का गान शास्त्र में सर्वत्र उपलब्ध होता है–विरजं ब्रह्म निष्कलम्' [मु० २।२] 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' [श्वे० ६।९] वह सर्वज्ञ देव परमात्मा जगत् का कारण है, करणों के अधिप जीवात्माओं का वह अधिप–नियन्ता है, न उसका कोई जनिता है न अधिप–नियन्ता। ऋग्वेद के प्रलयदशावर्णन में कहा–'आनीदवातं स्वधया तदेकं' [ऋ० १०।१२९।२] प्रलयदशा में जब कार्यजगत् का कोई पदार्थ विद्यमान नहीं रहता, तब स्वधा–प्रकृति के साथ एकमात्र शुद्ध चेतनतत्त्व ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है।

कार्यमात्र के न रहने पर इन तत्त्वों का विद्यमान रहना यह स्पष्ट करता है, कि ये अजन्मा तत्त्व हैं, इनको उत्पन्न करने वाले अन्य कोई कारण संभव नहीं। ये कार्यमात्र के स्वयं मूलकारण हैं।

जगत् पद से बोधित जो कुछ कार्य है, वह सब जड़ है। उसके कार्य व विकार होने की निश्चायक कसौटी है, उसका अवयव विभाग; गत [२।३।७] सूत्र में इसका विवेचन किया गया है। कार्य के विभाग की यह परम्परा मूलकारण पर जाकर रुक जाती है। जड़ जगत् का वह मूलउपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है। ये त्रिगुण अतिसूक्ष्म अनन्त तत्त्व हैं। इनसे परिणत होने वाले कार्य पर्याप्त दूर स्तर तक अतीन्द्रिय बने रहते हैं। यद्यपि वे व्यक्त हैं, पर इतने सूक्ष्म हैं, कि उनको किन्हीं भी दैहिक अथवा वैज्ञानिक साधनों से प्रत्यक्ष नहीं किया जासकता। फिर भी वे विकार हैं, व्यक्त हैं; उनका अवयव-विभाग जाना जाता है। इन व्यक्ततत्त्वों के इतने अधिक सूक्ष्म होने की समानता के आधार पर मूल तत्त्वों में विभाग की कल्पना नहीं कीजासकती। वस्तुतः वह तत्त्व की 'अव्यक्त' अवस्था है। यह पद दोनों [चेतन-अचेतन] प्रकार के मूलकारणों के लिये प्रयुक्त होता है। विभाग की परम्परा का अन्त यहां मानना पड़ता है। अन्यथा अनवस्था दोष मुंह फाड़कर सामने आखड़ा होता है। अनवस्था तथ्य से कन्नी काटने का कोई बहाना नहीं है, यह कार्यकारणभाव की यथार्थता को समझने का उपयुक्त साधन है। तत्त्व की अव्यक्त अवस्था यह स्पष्ट करती है, कि उसके आगे अन्य किसी कारणतत्त्व का अस्तित्व नहीं है, जहां से उसे व्यक्त होना कहा जासके।

इस तथ्य का अनेक वार वर्णन किया जाचुका है, कि चेतनतत्त्व न किसी पदार्थ का उपादानकारण होता और न किसी का कार्य। इसलिये उसके कारण की कल्पना सर्वथा निराधार है। फलतः आकाश और वायु के नित्यत्ववर्णन की समानता के आधार पर मूलकारणों के नित्यत्ववर्णन को देखकर आकाश–वायु के समान उनके [मूल कारणों के] अन्य कारणों की कल्पना नहीं कीजासकती, क्योंकि आकाश–वायु के उत्पत्तिवर्णन के समान मूलकारणों की उत्पत्ति का शास्त्र में कहीं संकेत तक नहीं मिलता, न अन्य किन्हीं प्रमाणों से उनके कारणों की कल्पना कीजासकती है। उस अवस्था में उनके अन्य किसी मूलकारण का होना संभव नहीं ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आकाश के अनन्तर वायु का परिणाम होता है, यह निश्चय किया गया। वायु के अनन्तर किस तत्त्व का प्रादुर्भाव सर्गरचनाक्रम में होता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥१०॥

[तेजः] तेज [अतः] इससे [तथा हि] जैसा कि [आह] कहा है। वायु के अनन्तर तेज–अग्नितत्त्व प्रादुर्भाव में आता है; जैसा कि शास्त्र में कहा है।

सर्गरचनाक्रम में—जो स्तर जीवन में उपयोग के अधिक समीप आजाता है, वहां —वायु के अनन्तर तेज के परिणत होने का अवसर है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] में वायु से अथवा वायु के अनन्तर अग्नि के उद्भव का उल्लेख है—'वायोरग्निः'। मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में भी अक्षर से जगत्सर्ग के वर्णन में वायु सर्ग के अनन्तर 'ज्योतिः' का उल्लेख है। 'ज्योतिः' पद तेज अथवा अग्नि का पर्याय है। छान्दोग्य [६।२।३-४, तथा ६।३।२-४] में यद्यपि जगत्सर्ग का वर्णन करते हुए आकाश—वायु का उल्लेख नहीं हुआ, तथापि इससे सर्गक्रम में कोई बाधा नहीं आती। उस प्रसंग में जगत् के मूल उपादानतत्त्व त्रिगुण को स्थूल जगत् के आधार पर समझाने की भावना से वैसा वर्णन हुआ है।[1] तैत्तिरीय [२।१] के वर्णन से उसका कोई विरोध नहीं है ॥१०॥

सर्गक्रम के वर्णन में आचार्य ने आगे बताया—

आपः ॥११॥

[आपः] जल। तेज के अनन्तर जल प्रादुर्भाव में आते हैं।

गतसूत्र से 'अतः, तथाहि, आह' इन पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में समझनी चाहिये। तेज के अनन्तर जलों का प्रादुर्भाव होता है, ऐसा उल्लेख शास्त्र में उपलब्ध है। तैत्तिरीय [२।१], छान्दोग्य [६।२।३], तथा मुण्डक [२।१।३] के स्थल इस विषय में द्रष्टव्य हैं ॥११॥

जलों के अनन्तर आचार्य ने पृथिवी की सृष्टि के विषय में कहा—

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

इस सूत्र में भी गतसूत्र के 'अतः, तथाहि, आह' पदों की अनुवृत्ति है। [पृथिवी] पृथिवी [अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः] अधिकार से, रूप से तथा शब्दान्तर से। जलों के अनन्तर पृथिवी का प्रादुर्भाव होता है, ऐसा छान्दोग्य आदि में कहा है। वहां 'अन्न' पद से पृथिवी का ग्रहण है, यह अधिकार, रूप तथा श्रुत्यन्तर से सिद्ध होता है।

तैत्तिरीय [२।१] तथा मुण्डक [२।१।३] में जलसर्ग के अनन्तर पृथिवी की रचना का उल्लेख स्पष्ट है। छान्दोग्य [६।२।४] में जलों के अनन्तर 'अन्न' के सर्ग का उल्लेख है, पृथिवी का नहीं। 'अन्न' पद का प्रयोग गेहूँ जौ चना आदि भक्ष्य पदार्थों के लिये देखा जाता है। पृथिवी अर्थ न होने से अन्य उपनिषदों के वर्णन के साथ इसके विरोध का सन्देह किया जासकता है, इसकी निवृत्ति के लिये सूत्रकार ने हेतु कहा—'अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः' अधिकार, रूप तथा शब्दान्तर हेतुओं के आधार पर छान्दोग्य

---

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४७–५०; १४६–१५२।

के उक्त प्रसंग में 'अन्न' पद से पृथिवी का ग्रहण करना चाहिये। 'अधिकार' पद का तात्पर्य प्रसंग अथवा प्रकरण है, छान्दोग्य के उस प्रसंग में तेज और अप् की सृष्टि के अनन्तर पृथिवी का क्रम होना चाहिये। गेहूँ, चना, धान आदि अन्न तो आगे पृथिवी से उत्पन्न होते हैं। आगे अन्न का रूप भी कृष्ण बताया गया, जो पृथिवी के साथ अधिक सामञ्जस्य रखता है। धान चना गेहूँ आदि अन्नों के कृष्णरूप होने का कोई नियम नहीं है। यद्यपि पृथिवी के भी लाल पीला सफेद आदि रूप कहीं-कहीं देखे जाते हैं, पर अधिकतया साधारण रूप कृष्ण रहता है। दूसरे श्रुतिवाक्य में स्पष्ट ही जलों से पृथिवी के उद्भव का वर्णन है–'अद्भ्यः पृथिवी' [तै० २।१]। बृहदारण्यक [१।२।२] में कहा–'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' सर्गकाल में 'आपस्' का जो मांड के समान घनीभाव हुआ, वह संहत होकर कठिन होगया, उसका नाम पृथिवी हुआ। इस सब विवरण के आधार पर छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में 'अन्न' पद पृथिवी का बोधक समझना चाहिये।

वैदिक साहित्य के सृष्टिविद्याप्रसंगों में तेजस्-आपस्-अन्न आदि पदों तथा इसी-प्रकार के अन्य अनेक पदों का प्रयोग सर्गकाल की कुछ विशिष्ट स्थितियों को बोधन कराने के लिये हुआ है, इस विषय के वैदिकसाहित्य के अनेक स्थल इतने गूढ़ हैं, कि उन पदों के साधारण लोकव्यवहृत अर्थों के अनुसार उन प्रसंगों का सामञ्जस्य बैठाया जाना दुःशक होता है। तब ऐसे पद कुछ पारिभाषिक हो उठते हैं; उनका लोकव्यवहृत साधारण अर्थ करने या समझने पर अनर्थ होजाता है[1]। प्रस्तुत प्रसंग में हमारे सन्मुख ऐसा एक 'आपस्' पद है। छान्दोग्य के उक्त [६।२।३-४] प्रसंग में इसका उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार सृष्टिरचनाक्रम में उसका स्थान बहुत पीछे आता है; परन्तु मनुस्मृति [१।८] के अनुसार उसका स्थान सर्वप्रथम आता है–'सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'। यहां पर 'आपस्' पद के अर्थ को समझने तथा वैदिक साहित्य के ऐसे अन्य वर्णनों के साथ उसका सामञ्जस्य व्यवस्थापित करने के लिये गम्भीर विचार अपेक्षित है। छान्दोग्य का उक्त प्रसंग भी गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

वेदान्त के इन सूत्रों [२।३।१–१२] में पांच महाभूतों के उत्पत्तिक्रम का साधारण वर्णन है। यह निश्चित है, कि ये पदार्थ अपने मूलउपादानकारणों से सीधे इसी रूप में प्रकट नहीं होते। इनके और मूलउपादानतत्त्वों के अन्तराल में रचना की दृष्टि से अनेकानेक अज्ञात स्तरों को पार करते हुए मूलउपादान इस रूप में प्रकट होते हैं। केवल स्थूलभूतों का यहां वर्णन मानव जीवन के लिए इनके सीधे उपयोग में आने की

---

१. ऐसे अनेक पदों का विवरण श्री पं० भगवद्दत्त बी० ए० कृत 'वेदविद्यानिदर्शन' नामक रचना में द्रष्टव्य है।

भावना से किया गया प्रतीत होता है। मूलउपादान के विभिन्न कार्यस्तरों का वर्णन प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसका मुख्य विषय जगत्कर्त्ता ब्रह्म के स्वरूप को समझाना है। उसमें उपयोगी अन्य विषय आनुषंगिक है। पांच भूतों का ऐसा ही वर्णन है, जिसके आधार पर जगत्कर्त्ता ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आकाशादि जगत् का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है, यह निश्चय किया गया। परन्तु लोक में कुलाल कुविन्द आदि कर्त्ता अपने देहांगों द्वारा घट पट आदि कार्यों का निर्माण करते देखे जाते हैं। निराकार कूटस्थ परब्रह्म परमेश्वर जगत् का निर्माण कैसे कर देता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥१३॥

[तदभिध्यानात्] उसके अभिध्यान से [एव] ही [तु] तो [तल्लिङ्गात्] उसके ज्ञापक लिङ्ग से [सः] वह। वह परमेश्वर उत्पाद्य विषय का अभिध्यान करने से ही तो उसको बना देता है, यह परमेश्वर के ज्ञापक लिङ्ग–प्रमाण से विदित होता है।

सूत्र में 'अभिध्यान' पद का अर्थ है–संकल्पपूर्वक चिन्तन। प्रलय के अनन्तर परमेश्वर का जगद्रचना के लिये संकल्प होता है। वह कारण–कार्य की व्यवस्था के विषय में चिन्तन करता है। प्रकृतिरूप उपादानकारण को जगद्रूप कार्य में परिणत करना है। जो कारण जिस कार्यरूप में परिणत होने हैं, वह सब परमेश्वर के ज्ञान व चिन्तन में व्यवस्थित है। यह अभिध्यान प्रकृति को प्रेरित करता है, वह कार्यरूप में परिणत होने के लिये चञ्चल हो उठती है। रचनाक्रम प्रारम्भ होजाता है। सर्वान्तर्यामी परमेश्वर इसप्रकार कारण-कार्यविषयक अपने अभिध्यानमात्र से कारण को कार्यरूप में परिणत करता है, जगत्सर्ग के लिये अभिध्यान की इस प्रक्रिया को तैत्तिरीय [२।६] में 'तप' कहा है–'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च।' वह संकल्प करता है, मैं बहुत होऊं, प्रजा को उत्पन्न करूं, वह तप तपता है, तप तपकर इस सबको बनाता है, जो कुछ यह है। अचिन्त्य अर्थों को अभिव्यक्त करने के अनेक प्रकार हैं, उपनिषत्कारों ने उसका अनुसरण किया है।

परमेश्वर के ऐसे 'अभिध्यान' को उपनिषदों में अनेकत्र 'ईक्षण' व 'कामना' आदि पदों से अभिव्यक्त किया है। ऐतरेय [१।१-२] में कहा–'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' वह ईक्षण करता है, लोकों की रचना करूं, वह इन लोकों को बनाता है। छान्दोग्य [६।२।३] में कहा–'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।' आगे पुनः बताया–'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति' [छा० ६।३।२] वह अन्तर्यामी देवता ईक्षण करती है, मैं इन तीन देवताओं [प्रकृतिरूप त्रिगुण] को इस जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट हुआ नाम-रूप से विस्तृत करूं। वह उन तीन देवताओं [प्रकृतिरूप त्रिगुण] को नाम-रूप से व्याकृत कर-

देता है। परमेश्वर के अभिध्यान का यह वर्णन परमेश्वर के अस्तित्व का चिह्न है। सूत्रकार ने स्पष्ट किया, परमेश्वर उसके लिङ्ग–अभिध्यानमात्र से जगत् की रचना करता है, उसे लौकिक कर्त्ताओं की तरह अन्य किन्हीं बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं। वह अलौकिक कर्त्ता है। सर्ग की आद्यक्रिया से लेकर आज अंकुरादि की उत्पत्ति तक में वह निमित्त है, विश्व की समस्त व्यवस्था सदा उसी की प्रेरणा से संचालित रहती है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, भूतों के उत्पत्तिक्रम के विषय में निश्चय किया गया। सर्ग के अनन्तर प्रलय आने पर भूतों के प्रलय का क्या क्रम रहता है? आचार्य ने समाधान किया—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

[विपर्ययेण] विपर्यय से [तु] तो [क्रमः] प्रलय-क्रम [अतः] इससे [उपपद्यते] उपपन्न–सिद्ध–युक्त होता है [च] तथा। तथा प्रलय-क्रम तो इस उत्पत्तिक्रम के विपर्यय से सिद्ध होता है।

आकाश से पृथिवी तक जैसे उत्पत्तिक्रम है, उसका विपर्यय कर दिया जाय उसको उलट दिया जाय, तो वह भूतों का प्रलयक्रम बनजाता है। पृथिवी से लेकर आकाश तक पिछला पहले में लीन होता जाता है। पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में तथा वायु आकाश में लीन होजाता है। इस कथन में सिद्धान्त यह है, कि जैसे प्रादुर्भाव के समय कारण से कार्य परिणत होता है, ऐसे ही प्रलय के अवसर पर कार्य अपने कारण में लीन होजाता है। कारण से कार्य का उत्पन्न होना 'सर्ग' है, और कार्य का कारण में लीन होना 'प्रतिसर्ग', अर्थात् उत्पत्ति से उलट। यही भाव सूत्रद्वारा प्रकट किया गया है, कि उत्पत्तिक्रम को उलट देने से प्रलयक्रम उपपन्न होजाता है। इसे सीढ़ी पर चढ़ने-उतरने के समान समझना चाहिये। चढ़ते समय जो सीढ़ी सबसे बाद आती है, उतरते समय उसका नम्बर सबसे पहले होता है, तथा चढ़ते समय जिस सीढ़ी पर सबसे पहले पांव रक्खा गया था, उतरते समय उस पर पांव रखने का अवसर सबसे अन्त में आता है। ऐसे ही भूतों की उत्पत्ति के समय आकाश का प्रादुर्भाव सबसे प्रथम और पृथिवी का सबके अनन्तर होता है। उत्पत्तिक्रम को उलट देने से प्रलय पृथिवी से प्रारम्भ होकर यथाक्रम जल तेज वायु आकाश को समेटता हुआ आगे कारणों की ओर बढ़जाता है। कार्य का लय अपने कारण में होता है, कार्यस्थिति समाप्त होने पर तत्त्व पुनः अपने कारणरूप में पहुंच जाता है, यह प्रकट करना ही आचार्य का तात्पर्य है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, पांच महाभूतों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम का विचार किया; पर उससे पहले की कारण-कार्य परम्परा में आये तत्त्वों के उत्पत्ति–प्रलयक्रम का विचार क्यों नहीं किया गया? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

[अन्तरा] मध्य में [विज्ञानमनसी] विज्ञान और मन [क्रमेण] क्रम से [तल्लिङ्गात्] उनके लिङ्ग–ज्ञापक प्रमाण से [इति चेत्] यह यदि (कहो, तो) [न] नहीं [अविशेषात्] अविशेष–समान होने से। मूलउपादानकारण और आकाश के मध्य में विज्ञान और मन आदि उत्पन्न होते व लीन होते हैं, यह उनके ज्ञापक प्रमाणों से जाना जाता है, उनका विचार क्यों नहीं किया गया ? यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इनके क्रम में कोई भेद नहीं है।

सूत्र में 'विज्ञान' पद महत्तत्त्व का बोधक है, जो मूलउपादानकारण का आद्य कार्य है। वह अहंकार और तन्मात्रों [एवं सूक्ष्मभूतों] का उपलक्षण है। तात्पर्य यह, कि सूत्र का 'विज्ञान' पद महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र एवं सूक्ष्मभूतों का संग्राहक है। इसी-प्रकार 'मनस्' पद दोनों प्रकार की इन्द्रियों का उपलक्षण है, क्योंकि व्यवहार में मन का सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ रहा करता है। फलतः सूत्र के ये दोनों पद आकाश महाभूत से पहले की उस कारण-कार्य परम्परा को प्रस्तुत करते हैं, जो मूलउपादानकारणतत्त्व तथा महाभूत आकाश के मध्य में रहती है। शिष्य की जिज्ञासा यह है, कि आचार्य ने महाभूतों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम का विचार तो किया, पर भूतों से पहले के कारण-कार्य परम्परागत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम का विचार नहीं किया। उसे छोड़ क्यों दिया ?

आचार्य ने समाधान करते हुए कहा, पांच महाभूतों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम और उनसे पहले के कारण-कार्यपरम्परागत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम में कोई भेद नहीं है, विरोध नहीं है। गतसूत्र [२।३।१४] द्वारा आचार्य ने कारण-कार्यपरम्परागत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलयक्रम के विषय में एक सिद्धान्त स्थापित किया–उत्पत्ति के समय कारण से कार्य प्रादुर्भूत होता और प्रलयदशा में अपने कारण में लीन होजाता है; अर्थात् कार्य अवस्था पूरी होने पर कारणतत्त्व पुनः अपने रूप में अवस्थित होजाते हैं। यह सिद्धान्त समानरूप से समस्त कारण-कार्यपरम्परा में लागू होता है, पांच महाभूतों में और उनके पहले के कारण-कार्य तत्त्वों में भी। इसलिये इस विषय की जो व्यवस्था पांच महाभूतों को लक्ष्यकर कह दी गई है, वही उनसे पहले के कारण-कार्यतत्त्वों में समझनी चाहिये; क्योंकि इस विषय में वहां कोई विशेषता नहीं है।

यह कहा जासकता है, कि इस विषय का विचार उन्हीं तत्त्वों को लक्ष्यकर क्यों नहीं किया गया, सृष्टि की सबसे अन्तिम रचना–महाभूतों को लक्ष्यकर क्यों प्रस्तुत किया गया ? इसके समाधान का संकेत गतसूत्र [२।३।१२] की व्याख्या में निर्दिष्ट है। महाभूत सीधे जीवन के अधिकाधिक प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। स्थूल प्रत्यक्षतत्त्व के आधार पर किसी सिद्धान्त को सरलता से समझा-समझाया जासकता है। समान विषय में उस सिद्धान्त का अतीन्द्रिय पदार्थों के लिये अतिदेश होजाता है। इसीके अनु-

सार सूत्रकार ने पांच महाभूतों को लक्ष्यकर उनके उत्पत्ति-प्रलयक्रम को समझाया है। उनसे पहले के अतीन्द्रिय तत्त्वों के विषय में कह दिया, कि महाभूतों के समान उनके उत्पत्ति-प्रलयक्रम को समझ लेना चाहिये। महाभूतों की उत्पत्ति आदि के विषय में श्रुतियों का जो आपाततः विरोध प्रतीत होता था, उसका भी उक्त विचार से समाधान होगया। महाभूतों से पहले के कारण-कार्य तत्त्वों की उत्पत्ति आदि के विषय में कोई ऐसा श्रुतिगत विरोध प्रतीत नहीं होता; इसलिये उनका पृथक् विचार अनपेक्षित है।

मुण्डक उपनिषद् [२।१३] में इस भावना से उन तत्त्वों का संकेत उपलब्ध होता है–'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' उस अक्षर [२।१।१ में वर्णित] उपादानतत्त्व से प्राण मन सब इन्द्रियां आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी उत्पन्न होते हैं। उपनिषद्वाक्य में 'प्राण' पद महत्तत्त्व का बोधक होता हुआ अहंकार का उपलक्षण है। मूलउपादानतत्त्व से पहले महत्तत्त्व फिर अहंकार उत्पन्न होता है; तब मन और सब इन्द्रियां। आकाश आदि पद भूतों की समस्त अवस्थाओं को प्रकट करते हैं। भूतों के कारण तन्मात्र, सूक्ष्मभूत और स्थूलभूत सबका ग्रहण इन पदों से होजाता है। इसके अनुसार मूलउपादानकारण से कार्य-प्रादुर्भाव का प्रारम्भ होने पर महत्तत्त्व से लेकर स्थूलपृथिवीपर्यन्त समस्त कारण–कार्य-परम्परा के तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम का स्पष्टीकरण होजाता है, जो इसप्रकार है—

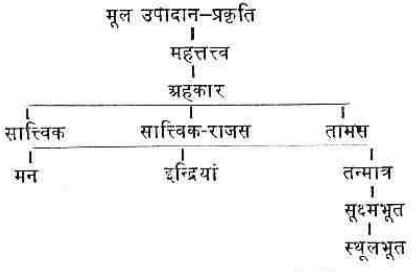

उत्पत्तिक्रम से विपरीत प्रलयक्रम है, जिसका गतसूत्र [२।३।१४] में उपपादन किया गया। इस सब विषय का संकेत प्रश्न उपनिषद् [४।८] में उपलब्ध होता है। वहां पांच स्थूलभूत, पांच सूक्ष्मभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा दसों इन्द्रियों के ग्राह्य विषय और मन अहंकार बुद्धि चित्त इन अन्तःकरणों एवं इनकी वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। इनके आगे तेज तथा प्राण का एवं उनके व्यापार का उल्लेख है। इससे पूर्व की सातवीं कण्डिका में बताया है, कि वह सब परमात्मा में संप्रतिष्ठित होता है। उस 'सर्व' की व्याख्या आठवीं कण्डिका में प्रस्तुत कीगई है। इसमें स्थूल पृथिवी से

लेकर मूलउपादानतत्त्वपर्यन्त समस्त कार्यकारण का निर्देश है।[1] सूत्रकार ने प्रस्तुत प्रकरण में स्थूलभूतों के उत्पत्तिक्रम का उपपादन कर समस्त कारण-कार्यपरम्परा को समझने का दिशानिर्देश कर दिया है ॥१५॥

शिष्य ने जिज्ञासा की, प्राकृत तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलय आदि का विचार किया गया। लोक में प्राणियों का जन्म-मरणरूप उत्पत्ति व प्रलय देखा जाता है। जब कहा जाता है, कि देवदत्त के घर बालक उत्पन्न हुआ, अथवा देवदत्त मर गया है; तब क्या प्राकृत देहादि के समान वहां विद्यमान चेतन जीवात्मतत्त्व को भी उत्पन्न व प्रलीन हुआ समझना चाहिये ? यदि हां, तो उसके कारणतत्त्व क्या हैं ? यदि नहीं, तो ऐसा व्यवहार क्यों ? आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

चराचरव्यपाश्रयस्तु तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

[चराचरव्यपाश्रयः] चर और अचर (देह) के सहारे [तु] तो [तद्व्यपदेशः] उनका (—जन्म-मरण का) कथन [भाक्तः] गौण है [तद्भावभावित्वात्] देह के होने पर (वैसा कथन) होने के कारण। जन्म-मरण का कथन चर और अचर देहों के सहारे होता है, आत्मा में वैसा कथन गौण है, क्योंकि आत्मा के लिये ऐसा व्यवहार देह के होने पर ही होता है।

लोक में प्राणी के जन्म-मरण का व्यवहार जीवात्मा के विषय में मुख्य है अथवा गौण ? यही जिज्ञासा का तात्पर्य है। साधारण लौकिक व्यवहार के अनुसार यही प्रतीत होता है, कि जीवात्मा के विषय में इसे मुख्य समझना चाहिये। पहली बात यह है, कि प्राणी का जन्म और मरण प्रत्यक्ष देखा जाता है, तब उसमें सन्देह का अवसर कहां ? इसके अतिरिक्त शास्त्र में मानव के जातकर्म आदि संस्कारों का विधान है। ये संस्कार आत्मा के होते हैं, यदि आत्मा उत्पन्न आदि न होता हो, तो उसके जातकर्म आदि संस्कारों का विधान क्यों किया जाय ? इसलिये लोकव्यवहार आदि से प्रतीत होता है, कि आत्मा के जन्म-मरणरूप उत्पत्ति व प्रलय मुख्य माने जाने चाहियें।

आचार्य समाधान करता है, चर और अचर [स्थावर] दो प्रकार के देह जीवात्मा के देखे जाते हैं, जन्म-मरण का आश्रय केवल ये देह होते हैं। इनके जन्म-मरण मुख्य हैं। आत्मा में जन्म-मरण का व्यपदेश—कथन भाक्त है, गौण है। कारण यह है, कि यह व्यपदेश देह के होने पर होता है। जन्म और मरण प्रत्यक्ष से केवल देह का देखा जाता है, आत्मा का नहीं, वह बाह्येन्द्रियों से अप्रत्यक्ष है। जातकर्म आदि संस्कार भी देह के जन्मादि की अपेक्षा से किये जाते हैं, जीवात्मा के जन्म की अपेक्षा से नहीं। कारण यह

---

१. इस विषय को अधिक विस्तार से समझने के लिये देखें हमारी रचना—'सांख्य-सिद्धान्त', पृष्ठ २६०—२६६।

है, कि जीवात्मा न कभी जन्मता है न मरता है। जीवात्मा में जन्म-मरण का व्यवहार देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।८] में कहा–'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' जब यह जीवात्मपुरुष शरीर से अभिसम्पन्न–युक्त होता है, तब जन्मा हुआ [जायमानः] कहा जाता है, और जब शरीर से उत्क्रमण कर जाता है, तब इसे मरा कहते हैं; वस्तुतः यह न कभी जन्मता है न मरता है। छान्दोग्य [६।११।३] में बताया–'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' जीव से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता। जब जीव जन्मता मरता नहीं, तो उसके कारणों का प्रश्न ही नहीं उठता; लोकव्यवहार मोहजनित भ्रान्ति पर आधारित है, यह निश्चित समझना चाहिये ॥१६॥

इस तथ्य को पुष्ट करने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

[न] नहीं [आत्मा] जीवात्म-पुरुष (उत्पन्न आदि होता), [अश्रुतेः] श्रुति न होने से [नित्यत्वात्] नित्य होने से [च] तथा [ताभ्यः] उनसे–श्रुतियों से। जीवात्मा उत्पन्न आदि नहीं होता, क्योंकि उसके जन्म-मरणविषयक श्रुति उपलब्ध नहीं। तथा श्रुतियों से उसके नित्य होने का पता लगता है।

जैसे आकाश आदि तत्त्वों के उत्पत्ति-प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं, ऐसे जीवात्मा के जन्मादि के विषय में कोई शब्दप्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्रत्युत श्रुतियां जीवात्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करती हैं–'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'''अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' [कठ० १।२।१८]। यह चेतन आत्मा न जन्मता है न मरता है, यह अजन्मा नित्य सदा रहने वाला पुराण पुरुष है, शरीर के नाश होने पर यह मारा नहीं जाता। छान्दोग्य [६।११।३]में कहा–'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' जीव से रहित हुआ यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।१४] में बताया–'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा–अरे यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता। इसप्रकार जीवात्मा का नित्यत्व शब्दप्रमाण के आधार पर निश्चित होता है ॥१७॥

जीवात्मा के उत्पाद-विनाश का निषेध कर सूत्रकार उसके स्वरूप का प्रतिपादन करता है—

ज्ञोऽत एव ॥१८॥

[ज्ञः] ज्ञाता–चेतनस्वरूप है आत्मा, [अतः, एव] इस कारण से ही–नित्य आदि होने से ही। आत्मा नित्य होने तथा श्रुतिद्वारा वैसा प्रतिपादित होने से ज्ञानस्वरूप है।

गतसूत्रों से जीवात्मा के उत्पाद-विनाश का प्रतिषेध कर उसका नित्य होना स्थापित किया है। नित्य होने के आधार पर प्रस्तुत सूत्र से उसे चेतनस्वरूप सिद्ध किया। सूत्रकार का इसमें यह गंभीर आशय है, कि चेतनतत्त्व नित्य सदा एकस्वरूप रहता है, उसमें किसीप्रकार के परिणाम की संभावना नहीं। अचेतनतत्त्व प्रकृति यद्यपि नित्य अनादि तत्त्व है, पर वह परिणामी है, यही कारण है, कि वह नित्य होने पर भी चेतन नहीं है। नित्य होने के आधार पर जीवात्मा को चेतनस्वरूप सिद्ध किया जाना यह स्पष्ट करता है, कि वह परिणाम-धर्म से रहित है। इससे सूत्रकार का आशय स्पष्ट होता है, कि वह चेतनतत्त्व में किसीप्रकार के परिणाम को स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में जिन आचार्यों ने जड़ जगत् को चेतन ब्रह्म का परिणाम समझा है, उनका यह विचार सूत्रकार के आशय से सर्वथा विपरीत है। प्रश्न उपनिषद् [४।९] में द्रष्टा श्रोता आत्मा को ज्ञानस्वरूप–चेतनस्वरूप बताया है–'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' यह सब इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करने वाला जीवात्मा-पुरुष चेतनस्वरूप [विज्ञानात्मा] है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।७] में बताया–'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' यह आत्मा कौनसा है, जो यह विज्ञानस्वरूप है, प्राणों के रहते हृदयदेश में अवस्थित जाना जाता है। इसप्रकार के अनेक प्रमाणों से जीवात्मा का चेतनस्वरूप होना सिद्ध होता है ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, नित्य चेतनस्वरूप परमात्मा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी स्वीकार किया गया है, क्या चेतनस्वरूप नित्य जीवात्मा भी परमात्मा के समान सर्वव्यापक होता है? इस विषय में क्या निर्णय है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

[उत्क्रान्ति-गति-आगतीनाम्] आत्मा की उत्क्रान्ति, गति और आगति की श्रुतियों से आत्मा अणु अथवा परिच्छिन्न है।

अगले [२।३।२१] सूत्र में पूर्वपक्षरूप से आत्मा के 'अणु' होने का निषेध करने के कारण इस सिद्धान्तस्थापनासूत्र में 'अणु' पद का अध्याहार कर लेना चाहिये, उसके साथ 'श्रुतेः' पद का सम्बन्ध होजाता है। इसके अनुसार सूत्र का अर्थ उक्तरूप में निर्दिष्ट किया गया है।

जीवात्मा को सर्वव्यापक मानना युक्त नहीं, क्योंकि उस अवस्था में जीवात्मा के शास्त्रवर्णित उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का सामञ्जस्य नहीं रहता। छोटे बड़े शरीरों के अनुसार आत्मा का मध्यमपरिमाण मानने पर उसमें संकोच विकास के आवश्यक होने से अनित्यता दोष की प्राप्ति होगी; अतः जीवात्मा का अणुपरिमाण संभव होसकता है। एक स्थान को छोड़ना अथवा एक स्थान से निकलने का नाम

'उत्क्रान्ति' है। बृहदारण्यक [४।४।२] में कहा–'तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' अपने उस चेतनस्वरूप के साथ यह आत्मा निकल जाता है चक्षु से मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से। छान्दोग्य उपनिषद् [६।११।२] में कहा–'अस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति, अथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहाति, अथ सा शुष्यति···सर्वं जहाति, सर्वः शुष्यति' इस वृक्ष की जिस एक शाखा को जीव छोड़ देता है, वह सूख जाती है, दूसरी को छोड़ देता है दूसरी सूख जाती है, सब वृक्ष को छोड़ देता है, सब वृक्ष सूख जाता है। यह देह तथा देहावयवों से निकलना व उन्हें छोड़ना आत्मा के विभु होने पर संभव नहीं; यह देह से आत्मा की निष्क्रान्ति आत्मा के अणुपरिमाण को सिद्ध करती है।

'गति' का साधारण अर्थ 'जाना' और 'आगति' का 'आना' व कहीं 'प्राप्त होना' है। यह जाना-आना भी सर्वव्यापक आत्मा में संभव नहीं। मुण्डक उपनिषद् [१।२।११] में आया–'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यमार्ग से चले जाते हैं। यहां जीवात्मा की गति का उल्लेख है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।२; तथा ३।३] में भी जीवात्मा की गति और उत्क्रान्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।६] में कहा–'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' उस लोक से फिर आता है जीवात्मा इस लोक में कर्म करने के लिये। यहां जीवात्मा के परलोक में जाकर वहां से पुनः इस लोक में आने का वर्णन है। यह उत्क्रान्ति एवं जाना-आना अणु जीवात्मा में संभव है, अतः जीवात्मा अणु हो सकता है, विभु नहीं।

अनेक उपनिषत् सन्दर्भों में जीवात्मा को स्पष्ट अणु बतलाया है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।९] में कहा–'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' शुद्ध अन्तःकरण से यह अणु आत्मा जानना चाहिये, जिसके रहने पर पांच प्रकार का प्राण संविष्ट रहता है। अन्यत्र कहा–'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' [श्वे० ५।९]। एक बाल के अग्रभाग के दस हजारवें हिस्से के समान जीव को समझना चाहिये। यह केवल जीवात्मा को अत्यन्त अणु बतलाने की भावना से कहा गया है, कोई निश्चित नाप नहीं है। इस विषय में कठ उपनिषद् के [२।१।१२, १३ तथा २।३।१७] स्थल द्रष्टव्य हैं ॥१९॥

शिष्य आशंका करता है, शरीर को छोड़ना या वहां से निकलना शरीर के स्वामित्व को छोड़ने से भी संभव है, यह व्यापक आत्मा में भी होसकता है। गति-आगति का वर्णन औपचारिक माना जासकता है। तब आत्मा को अणु क्यों माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

[स्वात्मना] निज कर्त्तारूप आत्मा के साथ (सम्बद्ध होने से) [च] तो

[उत्तरयोः] अगले दोनों के। अगले दोनों गति-आगति के स्व-आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण आत्मा का अणु होना सिद्ध होता है।

उत्क्रान्ति तो व्यापक आत्मा की कथंचित् देह का स्वामित्व छूट जाने से संभव है। भोग–कर्मों का क्षय होजाने पर शरीरनाश होजाने से आत्मा का स्वामित्व उसपर नहीं रहता, पर अगले दोनों गति-आगति का सम्बन्ध तो साक्षात् आत्मा के साथ है; व्यापक आत्मा में गति-आगति संभव नहीं। इस आधार पर जीवात्मा जब अणु सिद्ध होता है, तब उत्क्रान्ति भी मुख्यरूप से आत्मा की संपन्न होजाती है, उसे गौण कल्पना करना व्यर्थ है। गति-आगतिविषयक प्रमाणों का निर्देश गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया है। इस विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् के स्थल [४।४।१, ३-४] द्रष्टव्य हैं ॥२०॥

शिष्य आशंका करता है, शास्त्रवचन जैसे आत्मा को अणु बताते हैं, ऐसे महान व विभु बताते हैं, तब उसे अणु क्यों माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देश-पूर्वक समाधान किया—

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

[न] नहीं [अणुः] अणु आत्मा, [अतच्छ्रुतेः] न अणु (विभु) बतानेवाली श्रुति से [इति, चेत्] यह यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [इतराधिकारात्] अन्य के अधिकार से। आत्मा अणु नहीं है, क्योंकि उसे श्रुति में विभु बताया गया है; यह कहना ठीक नहीं, जहां विभु बताया है, वहां अन्य आत्मा (परमात्मा) का अधिकार–प्रकरण है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२२] में कहा–'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' जो यह प्राणों से घिरा विज्ञानमय आत्मा है, यह महान व अजन्मा है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।९] में कहा–'यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा' जिसके विशुद्ध होजाने पर यह आत्मा विभु जाना जाता है, अर्थात् चित्त शुद्ध होजाने पर आत्मा की विभुता का पता लगजाता है। तब आत्मा को अणु नहीं माना जाना चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने कहा–ऐसा विचार युक्त नहीं है। क्योंकि बृहदारण्यक [४।४।२२] का जो सन्दर्भ आत्मा को महान कहकर उसकी विभुता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किया है, वहां जीवात्मा का प्रसंग न होकर परमात्मा के वर्णन का प्रकरण है। उसीको महान अथवा विभु कहा गया है। यद्यपि 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' में 'प्राणेषु' पद यह सन्देह प्रकट करता है, कि यह वर्णन जीवात्मा का होना चाहिये; पर यहां पूर्वापर के सब चिह्न परब्रह्म के वर्णन को सिद्ध करते हैं। परब्रह्म का साक्षात्कार प्राणी के हृदयदेश में संभव है, इसलिये उक्त पद का प्रयोग यहां हुआ है। यह बात उक्त पद से आगे के 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' सन्दर्भ से प्रकट होजाती है। सत्य शास्त्र एक ही अर्थ को अणु और विभु नहीं कहसकता। परब्रह्म के साक्षात्कार होने की भावना

से उसका प्राणी के हृदयदेश में शयन करना–निवास करना–बताया है। हृदयदेश के मुख्यनिवासी [जीवात्मा] को महान कहना शास्त्रद्वारा शास्त्र का स्वयं विरोध करना है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।९] के सन्दर्भ में 'विभवति' क्रियापद का अर्थ 'प्रकाशते' है। इसी सन्दर्भ के आरम्भ में जीवात्मा को अणु बताकर आगे कहा है–चित्त शुद्ध होजाने पर वह आत्मा प्रकाशित होता है, जाना जाता है, अपना साक्षात्कार करलेता है। इसके अनुसार शास्त्र में सर्वत्र जहां आत्मा की विभुता का वर्णन है, वह सब परमात्मा का है, जीवात्मा का नहीं। अतः जीवात्मा के अणुपरिमाण होने में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिये ॥२१॥

इसी विषय में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च। २२॥

[स्वशब्द-उन्मानाभ्याम्] अपने शब्द और माप से [च] भी। शास्त्र में आत्मा के लिये साक्षात् स्वशब्द–अणुशब्द का प्रयोग हुआ है, और उसकी सीमित माप बताई है, इन कारणों से भी आत्मा अणु सिद्ध होता है।

गतसूत्र [२।३।१९] की व्याख्या में मुण्डक उपनिषद् [३।१।९] का सन्दर्भ उद्धृत किया–'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' यहां आत्मा का स्पष्ट 'अणु' शब्द से वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [५।९] में उसकी अति अणु माप को अभिव्यक्त करने के लिये एक सुझाव दिया है, कि एक बाल के अग्रभाग का दस हजारवां हिस्सा जीवात्मा का परिमाण कल्पना किया जासकता है। ये दोनों बात आत्मा के अणुपरिमाण को सिद्ध करती हैं। यह माप का निर्देश जीवात्मा के अतिसूक्ष्म परिमाण का बोध कराता है, किसी नियत माप का निर्देश नहीं है, यद्यपि उसका नियत होना संभव है। इससे इतना निश्चय होजाता है, कि जीवात्मा का परिमाण अणुमात्र है ॥२२॥

शिष्य आशंका करता है, शीत अथवा उष्ण जल में स्नान करने से सर्वाङ्ग में शैत्य तथा ताप का अनुभव होता है, यदि जीवात्मा अणुमात्र परिमाण है, तो शरीर के किसी एकदेश में उसका निवास संभव है। उस अवस्था में सर्वाङ्ग अनुभव नहीं होना चाहिये, यह स्पष्ट विरोध है। आचार्य ने दृष्टान्तद्वारा समाधान प्रस्तुत किया—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

[अविरोधः] विरोध नहीं [चन्दनवत्] चन्दन के समान। जैसे चन्दन की एक बूंद देह के एकदेश में लगी समस्त देह को आह्लादित करदेती है; वैसे एकदेश में विद्यमान आत्मा समस्त देह को प्रकाशित व संचालित करता है।

सत्यशास्त्रों में सर्वत्र इस तथ्य का उल्लेख हुआ है, कि जीवात्मा का देह में

निवास मस्तिष्कगत हृदयदेश है[1]। समस्त शरीर में फैला हुआ ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल उस स्थान से सम्बद्ध रहता है। इन साधनों द्वारा जीवात्मा एकदेश में रहता हुआ देह के प्रत्येक अंग में होनेवाले बाह्यस्पर्श आदि का अनुभव करता है। सर्वाङ्ग में शैत्य आदि के अनुभव का यही आधार है। चन्दन का दृष्टान्त उपस्थित कर सूत्रकार ने यह अभिव्यक्त किया है, कि देह के एक अंग में संपृक्त चन्दनबिन्दु से सर्वाङ्ग में आह्लाद की अनुभूति सब जनों को विदित है, पर इसका आधार है—ज्ञानवहा नाड़ियों का समस्त शरीर में व्याप्त जाल, जिसका केन्द्रीय सम्बन्ध आत्म-निवास के साथ है। चन्दन की बूंद से समस्त देह में आह्लाद की अनुभूति का यही कारण है। इसप्रकार देह के एकदेश में विद्यमान आत्मा सर्वाङ्ग में अनुभूति किया करता है, इसमें कोई विरोध नहीं। फलतः आत्मा के अणुपरिमाण में इससे कोई बाधा नहीं आती ॥२३॥

शिष्य आशंका करता है, चन्दन की स्थिति और है, देह के एकदेश में रहते भी उसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है, पर आत्मा की स्थिति तो किसी ने जानी नहीं। संभव है, सर्वाङ्ग में शैत्य आदि की अनुभूति आत्मा के व्यापक होने से होती हो? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया—

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि ॥२४॥

[अवस्थितिवैशेष्यात्] स्थिति की विशेषता से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [अभ्युपगमात्] स्वीकार करने से [हृदि] हृदयदेश में [हि] निस्सन्देह। देह में स्थानविशेष पर लगा चन्दन स्पष्ट दीखता है, अदृश्य आत्मा के लिये यह दृष्टान्त विषम है, ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि शास्त्र द्वारा हृदय में आत्मा की स्थिति को निश्चय से स्वीकार किया गया है।

देह के किसी एकदेश में चन्दन की स्थिति की विशेषता प्रत्यक्ष से जानी जाती है। पर दूसरी ओर आत्मा को समग्रशरीरवर्त्ती शैत्य आदि का जो ज्ञान होता है, यह तो प्रत्यक्ष है, परन्तु आत्मा का एकदेशवर्त्ती होना प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त चन्दन का दृष्टान्त विषम है। देह के किसी एकदेश में आत्मा की स्थिति का पूरा प्रमाण मिले बिना ऐसे विषम दृष्टान्त के द्वारा यह निर्णय नहीं किया जासकता, कि आत्मा को समस्त शरीरगत शैत्य आदि की अनुभूति चन्दन की समानता से एकदेश में स्थित होने पर होती है, अथवा विभु होने से सकल शरीर में आत्मा के व्याप्त होने पर होती है?

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने आत्मा का प्रत्यक्ष किया है, उन्होंने आत्मा को अणु और मस्तिष्कगत हृदयदेश में स्थित बताया है। जीवात्मा का यह निवास शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर निश्चित है। मुण्डक उपनिषद्

---

१. इसके विशिष्ट विवरण के लिये देखें—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ११८—१२१॥

[३।१।९] में स्पष्टरूप से आत्मा को अणु बताया है–'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' यह अणु आत्मा शुद्ध अन्तःकरणद्वारा जानने योग्य है। प्रश्न उपनिषद् [३।६] में कहा– 'हृदि ह्येष आत्मा' निश्चितरूप से यह आत्मा हृदयदेश में निवास करता है। छान्दोग्य उपनिषद् [८।३।३] में बताया–'स वा एष आत्मा हृदि' निश्चय से वह यह आत्मा हृदयदेश में रहता है। इसीप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।७] में कहा–'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' आत्मा कौन है, जो यह ज्ञाता प्राणों [इन्द्रियों] के बीच घिरा हुआ हृदयदेश के अन्दर चेतनस्वरूप पुरुष है। उपनिषद् के इस समस्त प्रसंग में जीवात्मा के अणु होने और हृदयदेश में निवास के उपोद्बलक अनेक उल्लेख हैं। आत्मा का हृदयदेश में निवास निश्चित होने पर पूर्वसूत्र में कथित चन्दन दृष्टान्त में कोई वैषम्य नहीं है। दृष्टान्त की विशेषता का निर्देश गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया है। ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल इसप्रकार की अनुभूति में साधन होता है, दृष्टान्त का तात्पर्य इस रहस्य को प्रकट करना है। उस अर्थ की पुष्टि प्रस्तुत सूत्र से कीगई है ॥२४॥

शिष्य आशंका करता है, चन्दन सावयव पदार्थ है, उसके सूक्ष्म अंश शरीर के अन्य भागों में संक्रान्त व प्रसर्पित होसकते हैं, तथा समस्त देह में आह्लाद के जनक संभव हैं; पर जीवात्मा तो निरवयव है, उसे अणु मानकर देह के एकदेश में अवस्थित होने से शरीरव्यापी शैत्य आदि का अनुभव नहीं होना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

[गुणात्] गुण से [वा] अथवा [लोकवत्] लोक में जैसे। जैसे लोक में राजा गुणभूत सचिव के द्वारा अपने समस्त राष्ट्र में कार्यकर्त्ता रहता है, ऐसे जीवात्मा देह में एकत्र स्थित हुआ गुणभूत बुद्धि-साधन के सहयोग से अनुभूति आदि का कर्त्ता रहता है।

सूत्रकार का आशय है, व्याप्त भी जीवात्मा बाह्य अर्थों का अनुभव स्वतः नहीं करता, इन्द्रिय आदि करणों के द्वारा करता है। ऐसी स्थिति में उसे व्याप्त मानना निरर्थक है। एकदेश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना इस प्रक्रिया में पूर्ण सहायक है। समस्तशरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल अतिसूक्ष्मरूप में व्याप्त है, जिसका पूरा सम्बन्ध करणों के केन्द्र के साथ रहता है। यह केन्द्र मस्तिष्क में उस जगह है, जहां आत्मा का निवास है। इन साधनों द्वारा एकदेशस्थित आत्मा देहव्यापी अनुभव करलेता है। पूर्वोक्त चन्दन-दृष्टान्त में इसी भाव को अभिव्यक्त किया है। 'लोकवत्' दृष्टान्त से यह अर्थ स्पष्ट किया है। लोक में एकत्र स्थित राजा जैसे सचिव आदि सहायकों द्वारा समस्त राष्ट्र की व्यवस्था व पूर्ण जानकारी के साथ उसका शासन करता है, अणु आत्मा की देह में स्थिति समझने

के लिये यह दृष्टान्त उपयोगी है। फलतः आत्मा को अणु मानने में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिये।

कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्र का पाठ 'गुणाद्वाऽऽलोकवत्' माना है। इस पाठ में केवल दृष्टान्त का भेद है। उनका तात्पर्य है, जैसे एकत्र स्थित सूर्य रश्मि आदि साधनों द्वारा संसार को आलोकित करता है, ऐसे देह में एकत्र स्थित जीवात्मा अपने साधनों–करणों द्वारा समस्त देह को सक्रिय व सचेत बनाये रखता है। इसी आशय को गीता [१३।३३] में कहा है–'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत' श्रीकृष्ण अर्जुन से कहता है–हे भरतकुल में उत्पन्न अर्जुन! जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है; वैसे ही क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है। इससे जीवात्मा का देह के एकदेश में स्थित होने के कारण अणु होना सिद्ध होता है। अणु जीवात्मा को शरीरव्यापी अनुभव के लिये सावयव होना अपेक्षित नहीं ॥२५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अनुभूति चेतन का धर्म अथवा स्वरूप है। चेतन अणु आत्मा मस्तिष्कगत हृदयदेश में रहता है, पर पैर में कांटा लगने पर अनुभूति यही होती है, कि पैर में कांटा लगा है, तब आत्मा का यह अनुभूतिरूप चैतन्य धर्म आत्मा को छोड़कर कैसे रहजाता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

[व्यतिरेकः] अलग होना [गन्धवत्] गन्ध के समान। जैसे फूल को छोड़कर दूर गन्ध का ग्रहण प्रतीत होता है, ऐसे ही कण्टकवेध की अनुभूति पैर में प्रतीत होती समझनी चाहिये।

जिज्ञासु यह समझता है, कि कण्टकवेध की अनुभूति का स्थान पैर है; चेतन अणु आत्मा का निवासस्थान जब हृदयदेश है, तो वैसी अनुभूति का होना संभव नहीं। पर ऐसी प्रतीति होती है, इससे परिणाम निकलता है, कि या तो चैतन्य आत्मा को छोड़कर उससे अलग भी रहता है, या आत्मा अणु नहीं होना चाहिये। सूत्रकार के समाधान का आशय है, कि साधारणरूप से यह प्रतीति होती है, कि गन्ध का अनुभव फूल को छोड़कर दूरदेश में होता है। पर ऐसा समझना ठीक नहीं है, वायु के सहयोग से फूल के सूक्ष्म द्रव्यांश फूल से विच्छिन्न होकर देशान्तर में जाते हैं, उन्हींके सहयोग से गन्ध की अनुभूति हुआ करती है। यद्यपि वह देश फूल के स्थान से भिन्न है, पर वहां फूल के सूक्ष्म द्रव्यांश गन्धानुभूतिकाल में विद्यमान हैं, इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि गन्धानुभव फूल को छोड़कर होता है, यद्यपि साधारणरूप से समझा यही जाता है। उत्कट गन्धवाले द्रव्यों में से सूक्ष्म द्रव्यांश वायु के साथ प्रवाहित होते रहते हैं, यह कर्पूर आदि द्रव्यों के सुरक्षित रक्खे जाने पर भी कालान्तर में समाप्त होजाने से स्पष्ट होता

है। तीव्र गन्धवाले पुष्प इसीकारण जल्दी कुम्हला जाते हैं, जो गन्धहीन होते हैं वे अधिक समय टिकते हैं। इसे एक ईश्वरीय व्यवस्था ही कहाजासकता है, कि इसप्रकार सुगन्ध को प्रसारित कर वायु को प्राणियों के अनुकूल बनाया जाय। इसलिये जैसे गन्ध उस द्रव्य अथवा द्रव्यांश से अतिरिक्त न होता हुआ भी वैसा प्रतीत होता है; ऐसे ही हृदयदेश में बैठा आत्मा पैर में लगे कांटे की अनुभूति अपने साधनों द्वारा वहीं बैठा हुआ करता है। अनुभूति का स्थान हृदयदेश है, पैर नहीं, पैर केवल कण्टकवेध का स्थान है। साधारणरूप से यह समझलिया जाता है, कि यह अनुभूति कदाचित् पैर में होरही है। दुःख या दर्द का उस जगह प्रतीत होना आत्मा के सर्वशरीरव्यापी साधनों पर अवलम्बित है। गन्ध-दृष्टान्त का इतना तात्पर्य है, कि जैसे गन्ध पुष्प अथवा उसके द्रव्यांशों को छोड़कर नहीं रहता, पर ऐसा समझलिया जाता है, ऐसे ही चैतन्य कभी आत्मतत्त्व छोकड़कर नहीं रहता, पर शरीर में जाल के समान सर्वत्र व्याप्त उसके साधनों के रूप में उसे अपने निवासस्थान से अतिरिक्त समझलिया जाता है। दुःख या दर्द वह विकार है, जो पैर में है, उसका स्थान वही है, वह अनुभूति का विषय है, स्वयं अनुभूति नहीं। अनुभूति का स्थान हृदयदेश है, जहां चेतन आत्मा बैठा है। अतः पैर में कांटा लगने की अनुभूति के लिये आत्मा का वहां विद्यमान होना आवश्यक नहीं। तब आत्मा को छोड़कर चैतन्य के अलग होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः आत्मा के अणु होने में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिये ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने इस अर्थ की पुष्टि के लिये उपयुक्त श्रुति-सन्दर्भ की ओर संकेत किया—

तथा च दर्शयति ॥२७॥

[तथा] वैसे [च] ही [दर्शयति] दिखलाता है। श्रुति-सन्दर्भ उक्त अर्थ को प्रकट करता है।

हृदयदेशस्थित आत्मा समस्तशरीर में अनुभूति का जनक होता है, इस अर्थ को छान्दोग्य [८।८।१] के सन्दर्भद्वारा इसप्रकार प्रकट किया है—'सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपम्' इन्द्र और विरोचन जलपात्रों में अपनी आकृति देखते हुए प्रजापतिद्वारा पूछे जाने पर कह रहे हैं—हे भगवन्! इस सब लोम-नखपर्यन्त आत्मा को हम देख रहे हैं। लोम-नखपर्यन्त समस्तशरीर में आत्मा की भावना को उपनिषत्कारद्वारा प्रकट किये जाने का तात्पर्य इतने में है, कि आत्मा शरीर के किसी अंग में होनेवाले विकार आदि को अपने साधनों द्वारा ग्रहण करने में सक्षम रहता है। यद्यपि इन्द्र-विरोचन ने जल में अपने स्थूलशरीर के प्रतिबिम्ब को देखा है।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [३।६] के एक सन्दर्भ में आत्मा के—समस्तशरीर रूप में—ज्ञानसाधनों का उल्लेख हुआ है। उस सन्दर्भ का एक अंश है—'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य

शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति' अपने ज्ञानसाधनों के सहित शरीर में आरूढ़ होकर शरीर से सुख-दुःख को प्राप्त करता है। इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, कि देह के एकदेश में रहता आत्मा अपने साधनों द्वारा शरीरव्यापी अनुभव करने में समर्थ होता है ॥२७॥

शिष्य आशंका करता है, जब समस्त ग्रहण बुद्धि आदि साधनों द्वारा होता है, तो उन्हीं को आत्मा क्यों न मानलिया जाय ? उनसे अतिरिक्त आत्मा का मानना व्यर्थ है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

[पृथक्] अलग [उपदेशात्] उपदेश से। ज्ञाता आत्मा और ज्ञान के साधन बुद्धि आदि के पृथक् उपदेश से बुद्धि आदि साधन को आत्मा कहना अप्रामाणिक है।

अध्यात्मशास्त्रों में चेतन कर्त्ता भोक्ता आत्मा का अचेतन बुद्धि आदि साधनों से पृथक्रूप में उपदेश हुआ है। गतसूत्र की व्याख्या में कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [३।६] का वाक्य उद्धृत किया गया है। उससे स्पष्ट है, शरीर में समारूढ़ होनेवाला कर्त्ता भोक्ता चेतन आत्मा पृथक् है, और ज्ञान के साधन अचेतन बुद्धि आदि का निर्देश अप्रधानरूप से तृतीया विभक्तिद्वारा हुआ है। इस कारण बुद्धि आदि अचेतन साधनों को चेतन आत्मा की जगह नहीं माना जासकता।

कठ उपनिषद् [१।३।३-४] में प्रकारान्तर से इन तत्त्वों का पृथक् उपदेश किया है–'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' यमाचार्य नचिकेता को कहता है–यह शरीर एक रथ के समान है, इसमें बैठनेवाला स्वामी रथी आत्मा है। इस रथ में इन्द्रियां घोड़े के समान हैं, मन उनकी रास और बुद्धि सारथि है। मननशील विद्वानों ने इन साधनों से युक्त आत्मा को भोक्ता बताया है। इस रूपक से स्पष्ट होजाता है, कि इस शरीर का स्वामी चेतन आत्मा पृथक् तत्त्व है, तथा उसके साधनरूप अचेतन बुद्धि आदि पृथक् हैं। इनको आत्मा कहना व समझना सर्वथा अप्रामाणिक है। शरीर में आत्मा के भोग-अपवर्ग को संपन्न करने के लिये ये केवल साधन हैं। अणु होता हुआ आत्मा इन शरीरव्यापी साधनों द्वारा शरीर के किसी भाग में होनेवाले विकार व आघात आदि का ग्रहण कर लेता है ॥२८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, उपनिषदों में आत्मा को 'अङ्गुष्ठमात्र' कहा है। अंगूठे की बराबर परिमाणवाला तत्त्व अणुपरिमाण नहीं कहा जाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

[तद्गुणसारत्वात्] स्थान के गुण की प्रधानता से [तु] तो [तद्व्यपदेशः]

उसका–अंगुष्ठमात्रका–कथन है, [प्राज्ञवत्] प्राज्ञ के समान। आत्मा के निवासस्थान के परिमाण की प्रधानता से आत्मा को अंगुष्ठमात्र कहा है; जैसे प्राज्ञ–सर्वव्यापक परमात्मा को हृदयदेश में ग्राह्य होने से अंगुष्ठमात्र कहा है।

जीवात्मा स्वरूप से अणु है, यह सिद्धान्त चालू प्रकरण में अनेक प्रमाणों के आधार पर निश्चित कर दिया गया है। मस्तिष्कगत हृदयदेश–जहां आत्मा और बुद्धि आदि का निवास है–की रचना अंगुष्ठों के मिलित पृष्ठभाग की समानता के कारण उसे अंगुष्ठ नाम दिया जाता है। आत्मा के बुद्धि आदि करण आत्मा को उसी स्थान पर आवेष्टित किये रहते हैं। निवासस्थान की उस रचना के कारण वहां निवास करने वाले आत्मा को अंगुष्ठमात्र कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [५।८] के एक सन्दर्भ में इस अर्थ को स्पष्ट किया–'अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः।' जीवात्मा बुद्धि के सहयोग से संकल्प–अहंकारयुक्त हुआ अंगुष्ठमात्र कहा जाता है। परमात्मा से भिन्न जीवात्मा, स्वरूप से सुई की नोंक की अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म है। सूर्य जिसप्रकार किरणों द्वारा प्रकाश व ऊष्मा को अपने मण्डल में पहुंचाता है, ऐसे जीवात्मा का अपने शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों द्वारा सर्वत्र संपर्क रहता है। इन सब परिस्थितियों के अनुसार अणुपरिमाण जीवात्मा को अङ्गुष्ठमात्र औपचारिकरूप में कहा गया है।

जैसे सर्वव्यापक परमात्मा को जीवात्मा के निवास-हृदयदेश में ग्राह्य होने के कारण कठ उपनिषद् [२।१।१२] 'अंगुष्ठमात्र' कहती है–'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतभव्यस्य' जो समस्त अतीत अनागत चर-अचर विश्व का नियन्ता है, वह अंगुष्ठमात्र परमात्मपुरुष मध्य आत्मा में ठहरा है। सर्वव्यापक परमात्मा को अंगुष्ठमात्र इसीकारण कहा गया है कि जीवात्मा को उसका साक्षात्कार अपने निवास हृदयदेश में होता है, जिसकी रचना अंगुष्ठ के समान है। सूत्रकार का आशय यह अर्थ अभिव्यक्त करने में है, कि जीवात्मा या परमात्मा के लिये 'अंगुष्ठमात्र' पद का प्रयोग औपचारिक है, यद्यपि उनमें एक अणु और दूसरा सर्वव्यापक है॥२९॥

शिष्य आशंका करता है, अणु जीवात्मा बुद्धि आदि करणों के सहयोग तथा अनुकूल शरीररचना द्वारा ज्ञान आदि का सम्पादन कर लेता है, यह ठीक है; परन्तु देहपात होजाने पर देह के समान अनित्य बुद्धि आदि का अस्तित्व तब न रहना चाहिये। ऐसा होने पर अनायास आत्मा का बन्धन से छुटकारा होजायगा, फिर मोक्ष के लिए शास्त्र का उपदेश व्यर्थ होगा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

[यावदात्मभावित्वात्] जबतक आत्मा संसारी है तबतक विद्यमान होने से [च] तो [न] नहीं [दोषः] दोष, [तद्दर्शनात्] उसके देखे जाने से। आत्मा के साथ

बुद्धि आदि का संबन्ध संसारदशा में निरन्तर बना रहता है, अतः आत्मसाक्षात्कार के लिये शास्त्र का उपदेश आवश्यक होने से शास्त्र के व्यर्थ होने का दोष नहीं रहता। आत्मसाक्षात्कार होने तक आत्मा के साथ बुद्धि आदि के सम्बन्ध का निर्देश शास्त्र में देखा जाता है।

शिष्य की जिज्ञासा का आशय है, अणु आत्मा को विषयज्ञान के साधन उसे बन्ध में डाले रखते हैं। उनसे छूट जाना मोक्ष है। उसके उपायों का वर्णन करने के लिये शास्त्र का प्रवचन किया गया। प्रस्तुत शास्त्र का यही लक्ष्य है। पर देह एवं बुद्धि आदि करण सब अनित्य हैं। देह का पात होने पर बुद्धि आदि करणों का भी नाश हो-जाना चाहिये, तब स्वतः आत्मा इनसे छुटकारा पाजायेगा, शास्त्र का प्रवचन निरर्थक है। जीवात्मा का उक्त स्वरूप मानने में यह दोष प्रतीत होता है।

आचार्य ने समाधान किया, देहपात के साथ बुद्धि आदि करणों का विनाश नहीं होता। जीवात्मा इनसे परिवेष्टित रहता हुआ एक शरीर को छोड़कर कर्मानुसार शरीरान्तर को ग्रहण करता है। इसप्रकार जीवात्मा अपनी संसारी अवस्था में निरन्तर बुद्धि आदि करणों से परिवेष्टित बना रहता है। उसकी संसारी अवस्था उस समय तक है, जबतक उसे स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होजाता। आत्मा के संसारी अवस्था में होने का प्रयोजन उसके भोग और अपवर्ग को निष्पन्न करना है। योगदर्शन [२।१८] में बताया–'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' यह जगत् जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिये है। भोग के लिये शरीर और बुद्धि आदि करण अपेक्षित हैं। अपवर्ग का स्वरूप है–विवेकज्ञानपूर्वक ब्रह्म का साक्षात्कार। इसके लिये यम नियम आदि के पालनद्वारा समाधिपर्यन्त अवस्था के प्राप्त करने में समस्त प्रयास देह तथा बुद्धि आदि करणों की पूर्णरूप से अपेक्षा रखते हैं। इसलिये जबतक जीवात्मा ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर लेता, बुद्धि आदि का इसके साथ सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है। उन उपायों की जानकारी के लिये शास्त्रों का प्रवचन आवश्यक है, इनके व्यर्थ होने का दोष असंगत है।

आत्मा की संसारी अवस्था में बुद्धि आदि करणों का उसके साथ सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है, इसके निर्देश शास्त्र में उपलब्ध होते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।७] में बताया–'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव' जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा–आत्मा कौनसा है? याज्ञवल्क्य ने कहा–जो यह विज्ञानमय–प्राणों की विद्यमानता में–हृदय के अन्दर चेतन पुरुष है, वह आत्मा है, वह बुद्धि आदि करणों के सहित रहता हुआ दोनों लोकों [इस लोक और परलोक] में अनुसञ्चरण करता है। स्वकृत शुभा-शुभ कर्मों का चिन्तन जैसा करता हुआ तथा अत्यर्थ अभिलाषा जैसी करता हुआ संचरण करता है। उपनिषद् के इस सन्दर्भ में 'विज्ञान' पद का अर्थ 'बुद्धि' है। समस्त करणों में प्रधान होने से यह अन्य सबका उपलक्षण है। अन्यत्र उपनिषद् [बृ० ४।४।५]

में अन्य करणों के साथ इसका उल्लेख है–'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इत्यादि। ये सन्दर्भ जीवात्मा का वर्णन करते हैं, यह बात 'विज्ञानमयः, प्राणेषु हृद्यन्तः, उभौ लोकावनुसञ्चरति, ध्यायतीव, लेलायतीव' इत्यादि पदों से स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है, कि आत्मा की संसारी अवस्था का यह वर्णन है। सन्दर्भ में जाग्रत आदि का निर्देश इस तथ्य को स्पष्ट करता है–'स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि' वह निश्चय से स्वप्न एवं सुषुप्ति दशा में प्राप्त होकर इस जाग्रत लोक को लांघ जाता है, और दुःखों की प्रतीतियों को। यह जीवात्मा की संसारी अवस्था है। इसमें उसे बुद्धि आदि करणों से युक्त–संवेष्टित बताया है। यह क्रम आत्मसाक्षात्कार होने तक बराबर चालू रहता है। देहपात होने पर बुद्धि आदि करणों का संपर्क आत्मा के साथ बना रहता है, तब देहपात के साथ इनके नाश की कल्पना कर अनायास मोक्ष-लाभ होने की आशंका नहीं कीजानी चाहिये ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या जीवात्मा के साथ बुद्धि आदि का सम्पर्क मोक्ष अवस्था में माना जाना चाहिये? शास्त्र बताता है कि वहां जीवात्मा ब्रह्मानन्द की अनुभूति किया करता है, तब उसके लिये बुद्धि आदि करणों का सम्पर्क अपेक्षित होगा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

[पुंस्त्वादिवत्] पुंस्त्व आदि की तरह [तु] तो [अस्य] इस [सतः] विद्यमान हुए का [अभिव्यक्तियोगात्] अभिव्यक्ति के साथ सम्बन्ध होने से। योगसमाधिद्वारा आत्मा के विद्यमान सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होजाने से मोक्ष में उस आत्मस्वभाव सामर्थ्य से ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है, पुंस्त्व आदि के समान।

लोक में देखा जाता है, कि पुंस्त्व आदि धर्म विद्यमान होते हुए बाल्य आदि काल में अनभिव्यक्त–अविद्यमान जैसे रहते हैं, यौवन आने पर अभिव्यक्त होजाते हैं। ऐसे ही जीवात्मा का स्वभावसामर्थ्य संसारी दशा में अनभिव्यक्त रहता है, तब आत्मा को प्रत्येक कार्य के लिये बुद्धि आदि करणों के सहयोग की अपेक्षा रहती है। योगसमाधि से आत्मसाक्षात्कार होजाने पर आत्मा का वह सत्यसंकल्प स्वभावसामर्थ्य अभिव्यक्त होजाता है, उसीके द्वारा मोक्ष अवस्था में आत्मा ब्रह्मानन्द का अनुभव किया करता है, उस दशा में प्राकृतिक बुद्धि आदि करणों के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। मुक्त आत्मा उस स्वाभाविक सत्यसंकल्प सामर्थ्य से ब्रह्मानन्द को भोगलेता है। शतपथ ब्राह्मण [१४।४।२।१७] में इसी आशय को स्पष्ट किया–'प्राणश्चैव प्राणो नाम भवति, [illegible], पश्यँश्चक्षुः, शृण्वञ्छ्रोत्रम्, मन्वानो मनस्, तस्यैतानि कर्मनामानि' स्वशक्ति से जीवात्मा मोक्ष में जब चाहता है प्राणादिरूप होजाता है, उस सामर्थ्य से आनन्दानुभूति किया करता है। इससे सिद्ध होता है, कि मोक्ष अवस्था में आत्मा के साथ बुद्धि आदि प्राकृतिक

करणों का सहयोग नहीं रहता, वह केवल संसारी अवस्था में रहता है। तब अणु जीवात्मा शरीर के एकदेश में रहता हुआ बुद्धि आदि करणों के सहयोग एवं शरीर की अनुकूल रचना के अनुसार समग्रशरीरवर्त्ती वृत्तान्तों को जानता रहता है। इस समस्त प्रसंग से जीवात्मा का अणुपरिमाण होना स्पष्ट होता है ॥३१॥

जीवात्मा के अणुपरिमाण प्रकरण का निगमन करते हुए सूत्रकार ने कहा—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

[नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः] नित्य उपलब्धि अथवा नित्य अनुपलब्धि का प्रसंग [अन्यतरनियमः] इन दोनों में से एक का नियम [वा] अथवा [अन्यथा] नहीं तो। अन्यथा—यदि आत्मा को अणु न माना जाय, तथा अणु मानकर बुद्धि आदि करणों का सहयोग स्वीकार न किया जाय, तो ज्ञान के सदा होने या सर्वथा न होने की आपत्ति होगी, या इन दोनों में से किसी एक के नियम की प्रसक्ति होगी।

जीवात्मा के अणुपरिमाण को पुष्ट करता हुआ आचार्य सूत्रकार प्रकरण के उपसंहार के बहाने तर्क प्रस्तुत करता है, यदि जीवात्मा को अणु न माना जाय, तो वह परिमाण कहीं मध्य में न रुककर विभु मानना होगा। विभु आत्मा का समस्त इन्द्रियों के साथ सदा सम्बन्ध रहने से प्रत्येक ज्ञान निरन्तर होता रहना चाहिये। यदि सम्बन्ध रहने पर भी ज्ञान नहीं होता, तो ज्ञान कभी न होना चाहिये। पर ये दोनों अवस्था लोकानुभव के विरुद्ध हैं। इसलिये विभु आत्मा का ऐसा स्वभाव नहीं माना जासकता, कि वह उपलब्धि-अनुपलब्धि दोनों का सहनियामक है। यदि इन दोनों में से अन्यतर का नियम माना जाय; अर्थात् कहा जाय, कि आत्मा इन दोनों में से किसी एक का नियामक है, तो उसके अनुसार या तो सदा उपलब्धि होती रहनी चाहिये, या सदा अनुपलब्धि, पर लोक में ऐसा कभी नहीं देखा जाता; उपलब्धि और अनुपलब्धि क्रम से हुआ करती हैं। यह व्यवस्था आत्मा के विभु मानने पर संभव नहीं रहती।

कहा जासकता है, कि मन आदि अन्तःकरण अणु है, उसके आधार पर विषय के साथ सम्बन्ध और असम्बन्ध से उपलब्धि आदि का क्रम नियमित रह सकेगा। यदि ऐसा मानलियाजाय, तो आत्मा के विभु मानने का प्रयोजन क्या रहजाता है। किसी अर्थ को निष्प्रयोजन स्वीकार करना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। पहले आत्मा को विभु मानो, फिर उपलब्धि आदि की व्यवस्था के लिये नियामक अणु मन को मानो; इससे आत्मा को अणु क्यों न मानलिया जाय, जो शास्त्रीय एवं लौकिक समस्त व्यवहारों के अनुकूल है।

आत्मा को अणु मानकर उपलब्धि आदि के लिये यदि बुद्धि आदि करणों का सहयोग स्वीकार नहीं किया जाता, तो भी पूर्वोक्त नित्य उपलब्धि आदि दोष प्रसक्त होते हैं। साधनरहित आत्मा को या तो सदा उपलब्धि होती रहे, या सर्वथा न होनी चाहिये।

यह सब लोकव्यवहार के विरुद्ध है। जीवात्मा के उपलब्धि आदि के साधन बुद्धि आदि करण उसकी संसारी दशा में सदा उससे आवश्यकरूप से संबद्ध रहते हैं। उनके सहयोग से वह अपने भोग और अपवर्ग की निष्पत्ति में समर्थ होता है। इस समस्त विवेचन के अनुसार आत्मा अणुपरिमाण सिद्ध है। अंगुष्ठमात्र आदि कथन उसके निवास की प्राकृतिक रचना के अनुसार औपचारिक हैं। बुद्धि मन एवं चक्षु आदि करणों के सहयोग तथा असहयोग से उपलब्धि-अनुपलब्धि हुआ करते हैं, यह तथ्य शास्त्रद्वारा पूर्णरूप से अनुमोदित है [बृ० १।५।३] ॥३२॥

जीवात्मा के अणुपरिमाण का निश्चय कर आचार्य सूत्रकार प्रसंगप्राप्त उसके कर्तृत्व का उपपादन करता है—

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ३३

[कर्त्ता] कर्त्ता है [शास्त्रार्थवत्त्वात्] शास्त्र में बताये गये अर्थ वाला होने से। वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधरूप अर्थ जीवात्मा को लक्ष्यकर निर्दिष्ट किये गये हैं, उनके अनुष्ठाता होने से वह कर्त्ता है।

वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा के उद्देश्य से कर्तव्य कर्मों का विधान और अकर्तव्य का निषेध है। 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात् भूतिकामः' इत्यादि विधिवाक्य याग एवं अग्निहोत्रहोम के अनुष्ठान का आत्मा के लिये आदेश देते हैं, अधिकारी जीवात्मा उनका अनुष्ठान करता है। वेदादि शास्त्रों के अनेक वाक्य इस विषय के पोषक हैं—'घृतं तीव्रं **जुहोतन**' [ऋ० ५।५।१॥ यजु० ३।२], 'कृषिमित्कृषस्व' [ऋ० १०।३४।१३], **कुर्वन्नेवेह** कर्माणि' [यजु० ४०।२], '**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत**' [छा० १।१।१], 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' [श० ११।५।७।२], 'सत्यं **वद**, धर्मं **चर**' [तै० १।११], 'मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्···। **जपेच्च जुहुयाच्चैव**···' [मनु० ४।१४५], 'वेदमेवाऽभ्यसेत्···' [मनु० ४।१४७], इत्यादि सन्दर्भों में जीवात्मा के लिये विविध कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान का विधान है। अकर्त्तव्य का निषेध है—'**अक्षैर्मा** दीव्यः' [ऋ० १०।३४।१३], 'गां **मा हिंसीः**' [यजु० १३।४३], 'इमं **मा हिंसीर्द्विपादं** पशुं' [यजु० १३।४७], 'स्वाध्यायान्मा **प्रमदः**, प्रजातन्तुं **मा व्यवच्छेत्सीः**, देवपितृकार्याभ्यां **न प्रमदितव्यम्**' [तै० १।११] इत्यादि वाक्यों के द्वारा हिंसादि कर्मों का तथा विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रमाद का निषेध किया गया है। इन सब शास्त्र-वाक्यों के आधार पर यह स्पष्ट होता है, कि आत्मा कर्त्ता है, अन्यथा उसके लिये कर्मों का विधान व निषेध असंगत होगा, जो किसी दशा में वाञ्छनीय नहीं। इसीकारण अन्यत्र उपनिषद् [प्र० ४।९] में कहा—'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' यह जीवात्म-पुरुष द्रष्टा श्रोता कर्त्ता आदि है। श्वेताश्वतर [५।७] में बताया—'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता' गुणान्वित अर्थात्

संसारी जीवात्मा फलप्राप्ति के लिये कर्मों का कर्त्ता है, और किये कर्मों का उपभोक्ता है। यह सब वर्णन आत्मा के कर्त्ता होने का निश्चायक है ॥३३॥

सूत्रकार इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

विहारोपदेशात् ॥३४॥

[विहारोपदेशात्] विहार के उपदेश से। आत्मा के विहार के उपदेश से आत्मा का कर्त्ता होना सिद्ध होता है।

'विहार' पद का अर्थ है—इच्छानुसार परिभ्रमण—आचरण आदि करना। बृहदारण्यक उपनिषद् [२।१।१८] में आया—'एष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते'। यह जीवात्म-पुरुष इन इन्द्रियों [प्राणान्] को अपने साथ लेकर अर्थात् करणों के सहयोग से अपने शरीर में इच्छानुसार आचरण करता है। इसीप्रकार अन्यत्र [बृ० ४।३।१२] कहा—'स ईयतेऽमृतो यत्रकामम्' वह अमरणधर्मा जीवात्म-पुरुष जहां-जहां कामना होती है, बुद्धि मन आदि करणों द्वारा वहां-वहां प्राप्त होता है, अर्थात् उन विषयों का अनुभव करता है। इन प्रसंगों में स्पष्ट जीवात्मा को 'परिवृत्ति' एवं 'ईयति' आदि क्रियाओं का कर्त्ता कहा है। इससे जीवात्मा का कर्त्ता होना पुष्ट होता है ॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

उपादानात् ॥३५॥

[उपादानात्] उपादान से—ग्रहण करने से। ग्रहण करने अर्थात् ग्रहीता होने से आत्मा कर्त्ता सिद्ध होता है।

जीवात्मा के प्रकरण में उपनिषत्कार वर्णन करता है—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' [बृ० २।१।१७] जो यह चेतन जीवात्म-पुरुष है, वह इन चक्षु आदि इन्द्रियों के [प्राणानां] विषयग्रहणसामर्थ्य को [विज्ञानं] बुद्धि के द्वारा [विज्ञानेन] लेकर अपने अधीनकर उस आकाश में सोजाता है, जो यह आकाश हृदय के मध्य में है। उपनिषद् [२।१।१७] में आगे ग्रहण के स्वरूप को बताया—'तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति' जब यह इन्द्रियों को ग्रहण करलेता है, बाह्य विषयों से हटाकर अपने वश में ले आता है, तब इसका 'सो रहा है' [स्वपिति] यह नाम होता है, जीवात्मा के लिये यह व्यवहार किया जाता है। उस समय इन्द्रियसमूह इसके द्वारा गृहीत होजाता है। यह सुषुप्ति अवस्था का वर्णन है। यहां जीवात्मा को इन्द्रियों की विषयग्रहणशक्ति का आदाता बताया है, आदाता कभी अकर्त्ता नहीं होसकता। अगली कण्डिका [बृ० २।१।१८] में इसीके अनुसार 'प्राणान् गृहीत्वा' कहा है। प्राणों का ग्रहीता—उपादाता आत्मा उपादान क्रिया के आधार पर कर्त्ता सिद्ध होता है ॥३५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गतसूत्र में उदाहृत उपनिषद् वाक्य के अनुसार यदि आत्मा बुद्धि के आधार पर इन्द्रियों के ज्ञानग्रहणसामर्थ्य का उपादान करता है, तो बुद्धि को कर्त्ता क्यों न मानलिया जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥३६॥

[व्यपदेशात्] कथन से [च] भी [क्रियायां] क्रिया में, [न] नहीं [चेत्] यदि, [निर्देशविपर्ययः] निर्देश का विपर्यय होजाय। लौकिक वैदिक क्रिया में भी आत्मा को कर्त्ता कहा गया है। यदि ऐसा न मानकर बुद्धि को कर्त्ता कहा जाता है, तो इस विषय के वाक्य में जो निर्देश किया गया है, उसका विपर्यय होजायगा।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।५।१] में कहा है–'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' विज्ञान अर्थात् संसारी जीवात्मा यज्ञ का विस्तार अनुष्ठान करता है, तथा अन्य लौकिक कर्मों को करता है। इस सन्दर्भ में 'विज्ञान' पद जीवात्मा का बोधक है, और उसे स्पष्टरूप से वैदिक-लौकिक कर्मों का अनुष्ठाता-कर्त्ता बताया है। यदि यहां 'विज्ञान' पद बुद्धि का वाचक रहा होता, तो 'तनुते' क्रिया के कर्त्तारूप में इसका प्रयोग न होकर 'विज्ञानेन' इसप्रकार करणरूप में होता। इससे निश्चित है, कि यहां 'विज्ञान' पद आत्मा का बोधक है, उसका वैदिक-लौकिक क्रियाओं में कर्त्तारूप से वर्णन किया गया है।

शिष्य की जिज्ञासा का आधार 'विज्ञान' पद का केवल करण अर्थ में प्रयोग समझना है, जैसा बृहदारण्यक [२।१।१७] में 'विज्ञानेन' पद के प्रयोग से स्पष्ट होता है। आचार्य के समाधान का आशय है–'विज्ञान' पद का प्रयोग निर्वचन के आधार पर कर्त्ता अर्थ में होने से आत्मा के लिये सुसंगत है। इसी के अनुसार तैत्तिरीय उपनिषद् [२।५।१] में इसका प्रयोग है। आत्मा के लिये 'विज्ञान' पद का प्रयोग उपनिषद् में अन्यत्र उपलब्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।२२–जो काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण का भाग है] में–'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्' इत्यादि पाठ है। इसके स्थान पर माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण [१४।६।७।३०] में पाठ–'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादि है। इससे स्पष्ट होता है–काण्वशाखीय उपनिषद् में 'विज्ञान' पद का प्रयोग 'आत्मा' के अर्थ में हुआ है। अतः तैत्तिरीय [२।५।१] के सन्दर्भ में कर्त्तारूप से प्रयुक्त विज्ञान पद आत्मा का बोधक है। यह वर्णन आत्मा के कर्त्ता होने को स्पष्ट करता है। फलतः बुद्धि को कर्त्ता मानना संगत नहीं ॥३६॥

शिष्य तर्क करता है, यदि जीवात्मा कर्त्ता है, तो वह स्वतन्त्र होता हुआ अपने लिये प्रिय और हित का सम्पादन करे, पर ऐसा नहीं है; उसकी प्रवृत्ति इसके विपरीत भी देखी जाती है, इसलिये आत्मा को कर्त्ता नहीं माना जाना चाहिये। आचार्य ने समाधान किया—

उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

[उपलब्धिवत्] उपलब्धि के समान [अनियमः] अनियम है। जैसे आत्मा इष्ट और अनिष्ट की उपलब्धि करता है, ऐसे ही अनियम से प्रिय और अप्रिय का अनुष्ठान करता है।

शिष्य के तर्क का केवल इतना आशय है, कि कोई कर्त्ता स्वतन्त्र रहता हुआ अपने लिये अनिष्ट व अप्रिय का आपादन न करेगा, पर आत्मा को अप्रिय की प्राप्ति होना देखा जाता है, इसलिये उसे कर्त्ता नहीं माना जाना चाहिये, क्योंकि कर्त्ता का स्वरूप अपनी क्रिया में स्वतन्त्र होना है, तब अपने लिये अप्रिय क्यों करेगा ?

आचार्य के समाधान का आशय है, आत्मा को प्रिय और अप्रिय दोनों की प्राप्ति देखी जाती है। ऐसा नियम व व्यवस्था नहीं है, कि उसे केवल प्रिय की प्राप्ति हो, अथवा केवल अप्रिय की। प्रिय और अप्रिय की अनियम से प्राप्ति होना यह स्पष्ट करता है, कि आत्मा ने इष्ट-अनिष्ट अथवा शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठान किया है। ऐसा नहीं है, कि नियम से केवल शुभ का अनुष्ठान किया हो अथवा केवल अशुभ का। जैसा अनुष्ठान है, वैसी उपलब्धि है। उपलब्धि अनुष्ठान के स्वरूप को स्पष्ट करती है। वह अनुष्ठान आत्मा के कर्त्ता होने को सिद्ध करता है। तात्पर्य यह है, कि आत्मा को इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति उसके कर्मों के अनुसार है, वे कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक किये हुए हैं। उपलब्धिद्वारा बोधित वह कर्मानुष्ठान आत्मा के कर्तृत्व को प्रमाणित करता है। आत्मा बुद्धि आदि करणों के द्वारा अपने कार्यों का सम्पादन करता है, केवल इतने से करण-तत्त्व कर्त्ता नहीं होजाते, और न कर्त्ता अपने कर्तृत्व को छोड़ बैठता है। संसारी आत्मा अपने भोगादि कार्यों के सम्पादन के लिये आन्तर बाह्य आदि सब प्रकार के साधनों की सदा अपेक्षा रखता है। ये साधन अथवा करण अपनी जगह हैं और कर्त्ता अपनी जगह। इस विवेचन से आत्मा का कर्त्ता होना निश्चित होता है॥३७॥

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

[शक्तिविपर्ययात्] शक्ति के विपर्यय से, बुद्धि कर्त्ता नहीं; केवल आत्मा कर्त्ता है।

पूर्वोक्त उपनिषद् [तै० २।५।१] वाक्य में 'विज्ञान' पद का बुद्धि अर्थ समझकर यदि उसे कर्त्ता मानलिया जाता है, तो इससे शक्ति का विपर्यय—उलट होजाता है। बुद्धि को कर्त्ता मानने पर वह करणशक्ति से रहित होजायगी, तथा उसमें कर्तृशक्ति की प्राप्ति होजायगी। तब प्रत्येक प्रतीति में 'अहम्' का विषय बुद्धि को मानना होगा। मैं खाता हूं मैं पीता हूं मैं जाता हूं मैं आता हूं, इत्यादि प्रतीतियों में 'मैं' पद का अर्थ बुद्धि होगा। समस्त प्रवृत्तियां 'अहं' भावना को लेकर होती हैं, जो कर्त्ता का

धर्म है। जब बुद्धि कर्तृशक्ति से युक्त मानली गई, तब उसके समस्त कार्यों के संपादन के लिये किसी अन्य 'करण' की अवश्य कल्पना करनी होगी; क्योंकि कोई संसारी कर्त्ता करण की उपेक्षा करके अपनी क्रियाओं के संपादन में प्रवृत्त होता नहीं देखा जाता। कर्त्ता को अपने क्रियाकलाप की सिद्धि के लिये करण की सदा अपेक्षा रहती है। ऐसी स्थिति में यह केवल एक नाममात्र का विवाद रहा, वस्तुसत्ता में कोई अन्तर नहीं आया। कर्त्ता और करण को भिन्नरूप में मानना आवश्यक है। फलतः आत्मा कर्त्ता है और बुद्धि आदि उसके करण हैं, यह निश्चित है ॥३८॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी विषय में अन्य हेतु कहा—

समाध्यभावाच्च ॥३९॥

[समाध्यभावात्] समाधि के अभाव से [च] भी। यदि बुद्धि को कर्त्ता माना जाय, तो समाधि का अभाव प्रसक्त होगा; इसलिये भी आत्मा को कर्त्ता मानना निश्चित होता है।

शास्त्र में आत्मज्ञान के लिये समाधि अवस्था को प्राप्त करने का निर्देश है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृ० २।४।५]। आत्मा को देखने जानने के लिये आत्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन आवश्यक हैं। अन्तिम अवस्था आत्मविषयक ध्यान व समाधि का निर्देश करती है। सम्प्रज्ञात समाधि में आत्मा को यह साक्षात्कार होता है, कि आत्मा बुद्धि से भिन्न है। उस साक्षात्कार में आत्मा 'अहं' रूप से भासित होता है, उसमें 'अहं' अनुभूति से बोधित जो कर्त्ता है, वह चेतन आत्मा है, जो अपने आपको अचेतन बुद्धि से भिन्न अनुभव करता है। इसलिये समाधि से अतिरिक्त दशा में भी उसी आत्मा को कर्त्ता माना जाना चाहिये। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होजाने पर बुद्धि का कार्य उस अवस्था की सीमा से पहले पूरा होजाता है। तब वहां केवल शुद्ध आत्मा द्रष्टारूप में भासित होता है। उस अवस्था में आत्मदर्शन के द्रष्टा आत्मा का कर्त्ता होना स्पष्ट होता है। तब अन्य सब अवस्थाओं में वही आत्मा कर्त्ता माना जासकता है। यदि बुद्धि को कर्त्ता माना जाय, तो उक्त समाधि के अभाव की प्रसक्ति होगी, समाधि का स्वरूप ही न बन-सकेगा। अतः आत्मा कर्त्ता है, बुद्धि आदि उसके करण हैं, जिनके द्वारा वह समस्त वृत्तान्तों को जाना करता है ॥३९॥

शिष्य आशंका करता है, जीवात्मा का कर्तृत्व इन्द्रियादिव्यापार के रहने पर अभिव्यक्त होता है; समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष आदि अवस्थाओं में इन्द्रियव्यापार नहीं रहता, इसलिये आत्मा में तब कर्तृत्व नहीं माना जाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

[यथा] जैसे [च] और [तक्षा] बढ़ई [उभयथा] दोनों प्रकार से। और जैसे बढ़ई लकड़ी काटते छीलते समय तथा यह सब न करते समय दोनों प्रकार की दशा में बढ़ई रहता है, ऐसे ही आत्मा इन्द्रियव्यापार और अव्यापार दोनों अवस्थाओं में कर्त्ता रहता है।

शिष्य की आशंका का आधार है–कर्त्ता होने का प्रयोजक इन्द्रियव्यापार को समझना। यद्यपि समाधि अवस्था में आत्मा को अपना व ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार विशुद्ध ज्ञान है, उसका ज्ञाता आत्मा है; इस रूप से आत्मा का कर्तृत्व तब भी सुनिश्चित है। सुषुप्ति दशा में समस्त करणों का साधारण व्यापार प्राण जीवनवृत्तिरूप से निरन्तर संचारित होता रहता है, उस अवस्था में इस व्यापार का कर्त्ता निश्चितरूप से आत्मा है; यदि आत्मा का अस्तित्व जीवनवृत्ति के प्रयोजकरूप में वहां न हो, तो प्राण-संचार अथवा प्राणवृत्ति का होना असंभव है। इस वृत्ति या व्यापार का सुषुप्त दशा में भी नियामक होने के कारण आत्मा का कर्तृत्व अक्षुण्ण बना रहता है। मोक्ष दशा में आत्मा योगसमाधि से अभिव्यक्त अपने स्वाभाविक [स्वरूप] सामर्थ्य के द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। यह 'अनुभव करना' आत्मा के कर्तृत्व को उस दशा में स्पष्ट करता है। तथापि शिष्य ने जिसप्रकार लौकिक बुद्धि से आशंका की, सूत्रकार ने लौकिक दृष्टि से समाधान प्रस्तुत किया। बढ़ई अपने व्यापार के कारण 'बढ़ई' कहा जाता है। इस व्यवहार का निमित्त लकड़ी का काटना छीलना आदि व्यापार है। पर बढ़ई निरन्तर दिन-रात चौबीस घण्टे इसी व्यापार को नहीं करता, फिर भी–करने, न करने–दोनों प्रकार की स्थिति में वह 'बढ़ई' है, बढ़ई कहा जाता है, अपने आपको बढ़ई मानता है। इसमें रहस्य यही है, कि यद्यपि एक समय वह तक्षन [तक्षण] व्यापार नहीं कर रहा, पर उसकी भावना इसके लिये निरन्तर बनी रहती है। लौकिक दृष्टि से यही कहा जासकता है, कि उस दशा में उसका 'तक्षन'–व्यापार ['तक्षा' व्यवहार का प्रवृत्तिनिमित्त] अनभिव्यक्त है, तब भी इस तथ्य को जानते हुए प्रत्येक व्यक्ति उसे 'तक्षा' कहकर व्यवहार करता है। इसीप्रकार आत्मा का कर्तृत्व बाह्यव्यापार के अभाव में भले ही लौकिक दृष्टि से अभिव्यक्त न हो; पर कर्तृभाव का सामर्थ्य वहां सदा बना रहता है। इस विवेचन के अनुसार आत्मा का कर्तृत्व प्रत्येक दशा में निर्बाध समझना चाहिये। इसी कारण उपनिषदों [प्र० ४।९॥ श्वे० ५।७] में आत्मा को स्पष्टरूप से कर्त्ता बताया गया है ॥४०॥

संसार जब तक बना रहता है, जीवात्मा लौकिक-वैदिक कर्मों का कर्त्ता है, यह निश्चित होने पर शिष्य आशंका करता है, जीवात्मा लौकिक-वैदिक कर्मों के आचरण में क्या ब्रह्म से प्रेरित व नियन्त्रित होता है, अथवा बिना ब्रह्म की प्रेरणा के

स्वतः ऐसा किया करता है ? पहले पक्ष में आत्मा कर्त्ता नहीं रहता, क्योंकि क्रिया करने में जो स्वतन्त्र हो, वही कर्त्ता है, ब्रह्म से प्रेरित व नियन्त्रित होने पर उसका स्वातन्त्र्य नहीं रहता, तब कर्तृत्व वहां से स्वतः निवृत्त होजाता है। द्वितीय पक्ष में आत्मा का स्वातन्त्र्य तो सुरक्षित रहता है, परन्तु शास्त्र के कतिपय वाक्यों से इसका विरोध प्राप्त होता है, जहां ब्रह्म को सब प्राणियों का शासक [ऋ० १०।१२१।३] तथा नियन्ता [बृ० ३।७।३–२३] बताया गया है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

[परात्] पर से [तु] तो [तत्] वह कर्तृत्व [श्रुतेः] श्रुतिप्रमाण से। आत्मा का वह कर्तृत्व तो परब्रह्म-प्रेरणा से होता है, यह श्रुति से प्रमाणित है।

ऋग्वेद [१०।१२१।३] में कहा–'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः' अपनी महत्ता के कारण जो प्राणी एवं अप्राणी समस्त जगत् का राजा है, शासक है, जो समस्त प्राणियों पर शासन व नियन्त्रण करता है, तथा सबकी रचना करता है, ऐसा वह परमेश्वर है। माध्यन्दिन-शाखीय शतपथ ब्राह्मण [१४।६।७।३०] में आया–'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरः ···य आत्मानमन्तरो यमयति' जो आत्मा में रहता, आत्मा से भिन्न हुआ [illegible] का नियन्त्रण करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् [६।६] में कहा–'धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम' धर्म की ओर लानेवाले, पाप से हटानेवाले, [illegible] ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानना सबके लिये अभीष्ट है। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है, परब्रह्म समस्त प्राणियों का नियन्ता है, शासक है, धर्म की ओर प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति की प्रेरणा करता है। यह उस प्रेरणा से तात्पर्य है, जो कोई कार्य करते समय मनुष्य के हृदय में उत्साह व भय आशंका आदि के रूप में उठा करती है। इसको लोकव्यवहार में 'हृदय की पुकार' कहा जाता है। हृदय में आत्मा के अन्दर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर इसको धर्म की ओर प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति के लिये प्रेरणा किया करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [५।२।१–३] की एक आख्यायिका प्रकारान्तर से इस विषय पर प्रकाश डालती है। देव, मनुष्य और असुरों ने प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य-वास किया। अनन्तर उपदेश के लिये प्रार्थना की। सर्वप्रथम प्रजापति ने देवों को 'द' अक्षर का उपदेश किया, और पूछा, क्या तुमने समझ लिया ? देवों ने कहा, हां, समझ लिया; आपने कहा है–'दाम्यत' दमन करो, अपने आपको वश में करो। प्रजापति ने कहा–हां, तुमने ठीक समझा।

अब मनुष्यों ने प्रजापति के सन्मुख जा उपदेश के लिये प्रार्थना [illegible] प्रजापति ने उनको भी 'द' अक्षर का उपदेश किया, और पूछा–क्या आपने [illegible] लिया ?

उन्होंने कहा—हां, हमने समझ लिया, आपने कहा है—'दत्त' दान दो। प्रजापति ने उनको कहा—हां, तुमने ठीक समझा है।

अनन्तर असुरों ने आकर उपदेश के लिये प्रार्थना की, प्रजापति ने उनको भी 'द' अक्षर का उपदेश किया, और पूछा, क्या आपने यह समझ लिया? असुरों ने कहा, हां, हमने समझ लिया, आपने कहा है—'दयध्वम्' दया करो। प्रजापति ने कहा—हां, तुमने उपदेश को ठीक समझ लिया है।

दैवी अवस्था प्राप्त होने पर ऐश्वर्यों की ओर आसक्ति की भावना जाग उठती है। मनुष्य की साधारण अवस्था में लोभ लालच की भावना का प्राबल्य रहता है। आसुरी दशा में हिंसा क्रोध आदि की ओर प्रवृत्ति अधिक रहती है। इन सब स्थितियों के अनौचित्य के स्तर पर पहुंचने से आत्मा पतन की ओर जाता है। तब इनसे निवृत्ति के लिए हृदय में एक भावना उठती है, जिसका 'द' अक्षर के द्वारा तीनों स्तरों पर उपनिषत्कार ने खुलासा किया है। देव आदि को अपने चालू साधारण विचारस्तर के प्रतिक्रियारूप में वे भावना जागृत होती हैं, जो 'द' अक्षर की व्याख्या के रूप में प्रकट कीगई हैं। यह प्रजापति हृदयस्थित परब्रह्म समझना चाहिये, जैसा आगे उपनिषद् [बृ० ५।३।१] में कहा—'एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म'।

यह ब्राह्मी प्रेरणा जीवात्मा के स्वातन्त्र्य में किसीप्रकार की बाधा नहीं डालती। यह तो परमेश्वर का महान अनुग्रह है, कि उसने आत्मा को सन्मार्ग पर चलाने के लिये दुहरा प्रबन्ध किया हुआ है। प्रथम वेद के द्वारा सन्मार्ग का उपदेश दिया, इसको समझो, और इसपर आचरण करो। उसके अनन्तर प्रतिअवसर पर हृदयस्थित वह परमेश्वर धर्म-अधर्म की ओर प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिये उत्साह, भय आशंका आदि विकारोद्भावन के द्वारा प्रेरणा किया करता है। प्रेरयिता से प्रेरणा पाने पर भी कर्त्ता का स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं होता। साधारण लोकव्यवहार में देखा जाता है, एक व्यक्ति दूसरे को कहता है, अमुक कार्य के लिये उस गांव में चले जाओ। गांव जाने का व्यापार और उस कार्य को संपादन करने में जानेवाले की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं है। उस क्रिया व कार्य-संपादन का वह व्यक्ति स्वतन्त्र कर्त्ता है। प्रेरयिता ने उस क्रिया व कार्य को नहीं किया है। जीवात्मा के लिये जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य हैं, उनको बताने वाला चाहे कोई अन्य हो, पर उनके अनुष्ठान में जीवात्मा स्वतन्त्र है, उसका कर्त्तृत्व अक्षुण्ण बना रहता है। उसके द्वारा किये जाने वाले अनुष्ठानों पर परब्रह्म की सर्वज्ञता का कोई दबाव नहीं होता। हृदय की पुकार की हम उपेक्षा कर सकते हैं, पर उसके फल से अपने आपको बचा नहीं सकते। फलतः जीवात्मा की प्रवृत्तियों में परमेश्वर की आन्तर प्रेरणा होने पर भी आत्मा का कर्त्तृत्व निर्बाध बना रहता है॥४१॥

शिष्य आशंका करता है, यदि जीवात्मा की प्रवृत्ति परमेश्वर की प्रेरणा से हुआ करती हैं, तो शास्त्र के विधि-निषेध व्यर्थ हैं, क्योंकि ईश्वरप्रेरणा से सब होजाने पर

उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर प्रेरणा समान होने पर सब आत्माओं की प्रवृत्ति समान होनी चाहिये, जगत् में विषम प्रवृत्ति क्यों है ? सूत्रकार ने समाधान किया—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

[कृतप्रयत्नापेक्षः] किये गये प्रयत्नों—कर्मों की अपेक्षा रखता हुआ [तु] तो [विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः] विहित और प्रतिषिद्ध के व्यर्थ न होने आदि से। जीवात्माओं के किये कर्मों के अनुसार प्रेरणा की व्यवस्था रहती है, इसकारण शास्त्र में विहित-प्रतिषिद्ध कर्मों का वैयर्थ्य नहीं होता, और जगत् का वैचित्र्य बना रहता है।

जीवात्मा अनादिकाल से कर्मों को करता और उनके फलों को यथाक्रम व्यवस्थानुसार भोगता आरहा है। ईश्वरीय उपदेश वेद और हार्दिक प्रेरणा का क्रम भी अनादिकाल से चालू है। जीवात्माओं की प्रवृत्तियों में परमात्म-प्रेरणा के साथ जीवात्म-कर्मों का महान एवं अनुपेक्षणीय सहयोग है। परमेश्वर प्रेरणा के रूप में अपनी ओर से जीवात्माओं पर कोई दबाव नहीं डालता। विचारना चाहिये, वह प्रेरणा क्या है ? जीवात्मा जिन विभिन्न कर्मों का अनुष्ठान करता है, उनके उस आचरण व उद्योग की अपेक्षा करके परमेश्वर अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक उसके शुभाचरण के लिये उसे सचेत किया करता है। जो आचरण किया जारहा है, वह अच्छा है या बुरा; कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य ? ऐसे विवेचनपूर्वक तथ्य का स्पष्ट होना प्रेरणा का स्वरूप कहा जासकता है; कर्म और फलोपभोग की व्यवस्था इसीमें अन्तर्हित समझनी चाहिये। तात्पर्य यह, कि जीवात्माओं के कर्मानुसार उन्हें प्रेरणा प्राप्त हुआ करती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो शास्त्र में जिन कर्मों का विधान या निषेध किया गया है, वह सब व्यर्थ हो-जायगा, और जगत् के वैचित्र्य का भी कोई कारण न बताया जासकेगा। इसलिये यह सब व्यवस्था जीवात्माओं के कर्मानुसार होती है, यह मानना आवश्यक है। परमात्मा की प्रेरणा में किसीके प्रति राग, द्वेष या पक्षपात एवं स्वातन्त्र्य के विघात की कल्पना नहीं कीजासकती। इस विषय में यही समझना चाहिये, कि वह केवल अपने रूप में वास्तविक तथ्य का प्रकाश है, उसका प्रकाशमात्र—सचाई की एक झलक—परमेश्वर की प्रेरणा है, उसमें किसी आत्मा पर बलपूर्वक कार्यानुष्ठान का आरोप नहीं है। वह अपनी इस स्थिति को किसी पर लादता नहीं।

यदि कोई व्यक्ति वेदादिविहित अहिंसा ब्रह्मचर्य यज्ञ दान आदि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है, तो परमात्मा की प्रेरणा ऐसी नहीं होती, कि ऐसे अनुष्ठाता को कोई अनर्थ की प्राप्ति हो; तथा जो हिंसा, विषयों में अनुचित आसक्ति, चोरी, असत्यभाषण आदि निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान करता है, उसे अनुकूल दिव्य सुखादि अर्थों का लाभ हो। इसलिये आत्मा के कर्मानुसार फलप्राप्ति और जगत् का वैचित्र्य आदि व्यवस्था संपन्न होती है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं, कि इसमें परमेश्वर की अत्यन्त उपेक्षा

करदी जाय। ऐसा होने पर तो आत्मा का कोई कार्य कोई प्रयत्न सफल नहीं होसकता, क्योंकि तब आत्माओं के कृतकर्मों का व्यवस्थानुसार फलप्रदाता कोई नहीं रहता, तो कृतहानि और अकृत की प्राप्ति आदि दोष भी सामने आते हैं।

ब्रह्म की सर्वथा उपेक्षा किये जाने पर न केवल कर्मफलव्यवस्था, अपितु समस्त संसार की चालू व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जायगी। तात्पर्य, जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कोई नियामक न रहेगा; जबकि वेद कहता है–'यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा' [अथर्व० १३।३।३] जो समस्त विश्व के प्रलय, सर्ग और स्थिति का नियामक है, यही परब्रह्म का महान अनुग्रह है, जो आत्माओं के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये ऐसे विश्व की रचना करता है, जो प्रत्येक प्रकार के साधनों से परिपूर्ण है। आत्मा की इस अनादि अनन्त यात्रा में अन्तर्यामी परब्रह्म का अनुग्रह एक भारी सहारा है। ऋग्वेद [२।४१।११] में कहा–'इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः' अनन्त ऐश्वर्यशाली परब्रह्म हमारे ऊपर अनुग्रह कर हमें सुखी बनाता है, तब पाप हमारा पीछा नहीं करता, और कल्याण हमारे सामने उपस्थित रहता है। यह सब परब्रह्म के अनुग्रह कृपा और उसकी आज्ञाओं के पालन से होता है। फलतः कर्मानुसार व्यवस्था होने से न तो वेदादि सत्यशास्त्रों में विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्मों का वैयर्थ्य है, और न जगत् के वैचित्र्य में कोई बाधा आती है ॥४२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, आत्मा का कर्तृत्व तथा आत्मा पर परब्रह्म के प्रेरणा-अनुग्रह का उपपादन किया गया, यह ठीक है। परन्तु परमात्मा का जीवात्माओं पर ऐसा अनुग्रह क्यों होता है? इनका क्या सम्बन्ध है? यह सब स्पष्ट नहीं होपाया। उपनिषदों में आत्मा को परब्रह्म से कहीं भिन्न और कहीं अभिन्न कह दिया गया है। आचार्य सूत्रकार ने इसको स्पष्ट करते हुए समाधान किया—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥

[अंशः] अंश है [नानाव्यपदेशात्] भिन्न कथन से [अन्यथा] अन्य प्रकार से [च] तथा [अपि] भी [दाशकितवादित्वम्] दाश कितव आदि होने के रूप में [अधीयते] पढ़ते हैं [एके] कोई आचार्य। भिन्न कथन तथा अभिन्न कथन भी होने से जीवात्मा परब्रह्म का अंश है; कोई आचार्य आत्मा को दाश कितव आदि के रूप में पढ़ते हैं।

सूत्र में 'दाश' पद सामान्यस्त्रीपरक है। दानार्थक 'दाश्' धातु से यह पद निष्पन्न होता है। दान गुण के कारण यह स्त्रीमात्र अर्थात् 'मादा-वर्ग' का बोध कराता है। सन्तान आदि का प्रदान और अपने आपको समर्पण करने की भावना इसमें निहित है। इसीप्रकार सूत्र का 'कितव' पद पुरुष-सामान्य का कथन करता है। यह प्राणीमात्र के 'नर-वर्ग' का बोध कराता है, कित–ज्ञान अथवा अपने पुरुषकार से अपने कार्यों में प्रवृत्त

होना और उन्हें पूरा करने की भावना इसमें अन्तर्हित है । आचार्य सूत्रकार ने बताया, जैसे लोक में पुत्र पिता का अंश समझा जाता है, ऐसे जीवात्मा को परब्रह्म का अंश जैसा समझना चाहिये । पिता जैसे अपने पुत्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये यथाशक्ति प्रभूत साधन प्रस्तुत करने का बराबर प्रयास किया करता है; ऐसे ही परब्रह्म अपने पुत्र के समान अंशभूत जीवात्माओं के लिये समग्र ऐश्वर्यसम्पन्न जगत् को उत्पन्न करता, और उन्हें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता रहता है ।

पुत्र और पिता में अंशांशिभाव कैसा है, यह विचारना चाहिये । पुत्र या पिता दो प्रकार के तत्त्वों का संघटन है–एक चेतन दूसरा अचेतन । प्रत्येक शरीर में आत्मा चेतनतत्त्व है, और शरीर अचेतन । पुत्र-पितृशरीरों में चेतनतत्त्व आत्मा सर्वथा एक दूसरे से पृथक् हैं, उनमें किसीतरह के अंशांशिभाव की कल्पना अप्रामाणिक है । चेतन आत्मतत्त्व अखण्ड है, उसमें अंश आदि की कल्पना सर्वथा असंगत है । शरीर भी दोनों के यद्यपि एक दूसरे से पृथक् हैं, परन्तु पुत्र के शरीर की रचना में पितृ-शरीर के अंशों का उपयोग होता है; इतने आधार पर पुत्र-पिता के परस्पर अंशांशिभाव की कल्पना है । इस तथ्य को जब मूलरूप में समग्रसृष्टि की भावना से देखा जाता है, तो लौकिक माता-पिताओं के वे देहांश जो पुत्रदेह की रचना में उपयोगी होते हैं, सब प्राकृतिक तत्त्व हैं । वे तत्त्व मूलप्रकृति से यथाक्रम परिणत होकर उस रूप में आते हैं । चेतनतत्त्व परब्रह्म के साथ अचेतन प्रकृतिसत्ता को उसके शरीर के रूप में कल्पना किया गया है । इसप्रकार समस्त जीवात्माओं के शरीर उन प्राकृत अंशों से बनते हैं, जो प्रकृति-सत्ता परब्रह्म का शरीर मानलिया गया है । ये परब्रह्म के पुत्रसमान जीवात्मा इसप्रकार अंश कहे गये हैं । यद्यपि जीवात्माओं की अपनी सत्ता सर्वथा स्वतन्त्र है । मुख्यरूप से चेतनतत्त्व में–चाहे वह परब्रह्म हो अथवा जीवात्मा–अंश आदि की कल्पना नहीं की जासकती । चेतन अपने रूप में अखण्ड तत्त्व है।

परब्रह्म सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता चेतनतत्त्व है । जीवात्मा अल्पज्ञ परिच्छिन्न देहमात्र में नियन्ता चेतन है । चैतन्यस्वरूप दोनों का समान है । परब्रह्म नियन्ता तत्त्व है, जीवात्मा फलावाप्ति आदि में नियम्य है; इस भावना के अनुसार भी इनके अंशांशिभाव, पुत्र-पितृभाव, स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्धों की कल्पना कीजासकती है ।

जीवात्माओं के पिता के रूप में परब्रह्म का वर्णन वेदों में अनेकत्र पाया जाता है । ऋग्वेद में बताया–'त्वं पिताऽसि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्' [१।३१।१०], तू हमारा पिता है, आयु का देनेवाला, हम तेरे अपत्यों के सदृश हैं । 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ' [८।९८।११], तू हमारा पिता और तू माता है । 'अर्चन्तु पुत्रकाः' [८।६९।८] परब्रह्म की अर्चना उपासना करनेवाले जीवात्माओं को यहां परमात्मा के 'पुत्रकाः' कहकर निर्देश किया गया है । इस विषय में ऋग्वेद के ये [६।५२।६। २०।८२।३] स्थल भी द्रष्टव्य हैं । इसप्रकार पुत्र और पिता के समान जीवात्मा तथा

परमात्मा का परस्पर अंश-अंशिभाव स्पष्ट होता है। अग्नि और उससे निकलनेवाली चिनगारियों के समान अंशांशिभाव की कल्पना चेतनतत्त्वों में नहीं कीजासकती। मुण्डक उपनिषद् [२।१।१] के–'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' इस सन्दर्भ में 'अक्षर' पद प्रकृति का वाचक है, उससे समानरूप विविध जगत् की उत्पत्ति और उसीमें लय होने का यहां वर्णन है; इसका पहले [ब्र० सू० १।२।२१] उल्लेख किया जाचुका है।

जीव और परब्रह्म के अंशांशिभाव बतलाने में आचार्य ने हेतु दिया है–इन दोनों का भेद तथा अभेद से शास्त्र में व्यपदेश। जीवात्मा को कहीं ब्रह्म से भिन्न बताया है, और कहीं अभिन्न। 'द्वा सुपर्णा सयुजा' [मु० ३।१।१] इत्यादि में भिन्न कहा, और 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः [ईशा० ७] इसमें अभिन्न। इन दोनों का स्वरूप से भेद और चेतनभाव से अभेद है। जब प्रकृति के सम्पर्क में आत्मा नहीं रहता; केवल विशुद्ध स्वरूप से अवस्थित होता है, तब वह ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ अभेद जैसी स्थिति में समझा जाता है। श्वेताश्वतर शाखा के आचार्यों ने जीवात्मा को स्पष्ट स्त्री-पुरुष आदि के रूप में पढ़ा है–'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' [४।३]। जीवात्मा को ब्रह्म-रूप मानने पर इस वर्णन का सामञ्जस्य उपपादित नहीं किया जासकता। लोक में पिता-पुत्र का स्पष्ट भेद अवगत होने पर भी शास्त्रकारों ने किसी भावना के आधार पर 'आत्मासि पुत्र मा मृथाः' [साममन्त्र ब्रा० १।५।१८], 'आत्मा वै पुत्रनामासि' [शत० १४।६।४।२६] आदि अभेदमूलक वर्णन किये हैं। फलतः उक्त विवेचन के अनुसार पुत्र-पिता के सदृश आत्मा–परब्रह्म का अंशांशिभाव आदि सम्बन्ध कल्पना किया जाता है।

सूत्र के 'दाश' और 'कितव' पदों का अर्थ मछेरा धीवर और जुआरी प्रायः सभी व्याख्याकारों ने किया है। इसके लिये एक उद्धरण आथर्वणिकों के ब्रह्मसूक्त का आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इसप्रकार दिया है–"एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण सामनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते–'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना।" इस उद्धरण के मूलस्थान का अभी पता नहीं लगा। इसके आधार पर आचार्य शंकर ने यह प्रतिपादित किया है, कि मछेरे धीवर अथवा नौका चलानेवाले केवट, अन्यों के सेवक और जुआरी सब ब्रह्म ही हैं।

इस विषय में विचारणीय यह है, कि यदि यह प्रतिपादन वास्तविक अर्थ को प्रकट करता है, तो इसमें औपचारिक अंशांशिभाव नहीं कहा जासकता; तब ब्रह्म और जीवात्माओं का मुख्य अंशांशिभाव माना जाना चाहिये, अग्नि और चिनगारियों के समान। यद्यपि आचार्य ने अग्नि-विस्फुलिंग का इस विषय में दृष्टान्त दिया है; पर यह कथन स्वयं आचार्य के अन्य लेख के विरुद्ध जाता है, जहां यह बताया गया है, कि जीव-

ब्रह्म का अंशांशिभाव औपचारिक है, यथार्थ नहीं।[1]

आथर्वणिकों के उक्त उद्धरण का तात्पर्य इतना होसकता है, कि ब्रह्म ने जगत् की रचना समस्त प्राणियों के लिये की है, साधु महात्मा संन्यासी ब्राह्मण आदि केवल धर्मात्माओं के लिये नहीं। उसने हवा पानी पृथिवी आग सूरज चांद का प्रकाश आदि सबके लिये समानरूप में दिया है। इसलिये उसका अनुग्रह उसकी प्रेरणा दया आदि सबके लिये एक जैसा है, जैसा ब्राह्मण धर्मात्मा आदि के लिये वैसा मछेरे धीवर, सेवक व जुआरी आदि पापात्माओं के लिये। जीवात्मा अपनी किसी परिस्थिति में हो, मानव होने पर चाहे धर्मात्मा-पापात्मा हो, चाहे तिर्यक् आदि प्राणियों की स्थिति में हो, परमेश्वर का अनुग्रह सबके ऊपर समान है, इसीरूप में जीवात्मा का परब्रह्म के साथ अंशांशिभावसम्बन्ध कल्पना किया गया है। दाश कितव आदि को ब्रह्म ही माने जाने पर तो सूत्रकार का 'नानाव्यपदेशात्' हेतु ही व्यर्थ होजायगा। अभेदकथन का तात्पर्य प्रथम व्याख्यात कर दिया गया है ॥४३॥

जीव-ब्रह्म के अंशांशिभाव में आचार्य सूत्रकार ने वेदप्रमाण का निर्देश करते हुए हेतु प्रस्तुत किया—

मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

[मन्त्रवर्णात्] मन्त्रवर्ण से [च] तथा। और मन्त्रवर्ण से जीव-ब्रह्म का अंशांशिभाव अवगत होता है।

वेद [ऋ० १०।९०।३॥ यजु० ३१।३] में कहा–'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' यह समस्त विश्व उस परमेश्वर की महिमा का बखान करता है, वह अचिन्त्य पुरुष इसकी अपेक्षा अति महान है। ये समस्त भूत-प्राणी स्थावर जंगमरूप में विद्यमान, उसी पुरुष का एक पाद है, एक अंशमात्र है। यहां स्पष्टरूप से भूतों-प्राणियों को परमेश्वर का पाद–अंश कहा है। पाद, अंश, भाग आदि पद एक ही अर्थ को कहते हैं। निरवयव अखण्ड ब्रह्म के किसी मुख्य अंश या खण्ड की कल्पना नहीं कीजासकती। इसलिये यह कथन केवल कल्पनामूलक औपचारिक समझना चाहिये। ऋचा के अन्तिम पदों में यह कहकर, कि उसके तीन पाद अपने अविनाशी प्रकाशस्वरूप में विद्यमान रहते हैं, उसके अनन्त माहात्म्य का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है, कि उसकी सत्ता के सन्मुख यह अनन्त विश्व भी कुछ

१. 'जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाग्नेर्विस्फुलिंगः। अंश इवांशः, न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति।' [ब्र० सू० २।३।४३]। जीव ईश्वर का अंश होसकता है, जैसे आग की चिनगारियां। यह अंश जैसा अंश है, अंश की तरह लगने वाला अंश है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का मुख्य अंश संभव नहीं।

थोड़ा अंश है, तुच्छ जैसा है। यद्यपि भूतों के अंशभाव का यहां स्पष्ट निर्देश है, पर है यह औपचारिक ही ।।४४।।

इसी विषय में सूत्रकार ने उक्त मन्त्रवर्ण का उपनिषत्कारद्वारा स्मरण किये जाने का निर्देश किया—

अपि च स्मर्यते ।।४५।।

[अपि] भी [च] और [स्मर्यते] स्मरण किया गया है। और उक्त मन्त्रवर्ण उपनिषत्कारद्वारा भी स्मरण किया गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् [३।१२।६] के इस खण्ड में गायत्रीद्वारा ब्रह्म का वर्णन है। उसको समस्त विश्व का आधार कहा है। इसी प्रसंग में ब्रह्म की महिमा का निर्देश करने के लिये गायत्री छन्द की ऋचा को इसप्रकार प्रस्तुत किया—"तदेतदृचाभ्यनूक्तम्—तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"[1] इति।" स्पष्ट है—यहां उपनिषत्कार ने प्रसंग की पुष्टि के लिये उक्त मन्त्रवर्ण को स्मरण किया है। सूत्रकार ने अपने पूर्व हेतु की पुष्टि में उपनिषत् के प्रसंग का निर्देश किया।

प्रायः सभी व्याख्याकारों ने यहां भगवद्गीता [१५।७] के 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' श्लोक को स्मृति के रूप में उद्धृत किया है। यदि ब्रह्मसूत्र और महाभारतान्तर्गत गीता दोनों रचना वेदव्यास बादरायण की हैं; तो अपनी उक्ति को स्वयं प्रमाणरूप में प्रस्तुत करना चिन्त्य है। कृष्ण के प्रवचन के रूप में प्रमाण मानना किसी अंश तक विचारणीय होगा ।।४५।।

शिष्य आशंका करता है, यदि जीव-ब्रह्म का अंशांशिभाव सम्बन्ध है, चाहे यह औपचारिक हो; पर आत्मा का जो निवास हृदयदेश है, वहां आत्मा दुःख आदि दोषों का अनुभव करता है; सर्वव्यापक होने से उसी प्रदेश में परब्रह्म विद्यमान है। दोनों चेतन हैं, ऐसी स्थिति में ब्रह्म जैसे जीवात्मा को प्रेरणा प्रदान करता है, ऐसे ब्रह्म को जीवात्मा के दुःख आदि दोषों से पीड़ित मानना चाहिये? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ।।४६।।

[प्रकाशादिवत्] प्रकाश आदि के समान [न] नहीं [एवं] ऐसा [परः] परमात्मा। परब्रह्म परमात्मा जीवात्मा जैसा दुःखी आदि नहीं है, प्रकाश आदि के समान।

१. उपनिषद् पाठ में ऋचा के तीन पद भिन्न रूप में दिये गये हैं। ऋचा के 'एतावान्' के स्थान पर 'तावान्', 'अतः' के स्थान पर 'ततः' और 'विश्वा' के स्थान पर 'सर्वा' पाठ उपनिषद् में है। पाठभेद का कारण अज्ञात है। उद्धरण यह ऋचा का है, उपनिषद्वाक्य से स्पष्ट है। ऋ० [३।१२] में पाठ ऋचा के अनुसार है।

सूत्र में 'आदि' पद से आकाश काल आदि पदार्थों का ग्रहण समझना चाहिये। प्रकाशस्वरूप होने से 'प्रकाश' पद सूर्य का बोध कराता है। साधारणरूप से लोक-प्रसिद्ध 'प्रकाश' पद का अर्थ मानने पर भी कोई दोष नहीं। प्रकाश की विद्यमानता में अनेक दूषित व अदूषित पदार्थ पड़े रहते हैं, उन दोषों से प्रकाश दूषित नहीं होता; क्योंकि उसकी सत्ता उसका स्वरूप उन पदार्थों से सर्वथा अतिरिक्त है। ऐसे ही परब्रह्म जीवात्मप्रदेशों में रहता भी उनके दुःख आदि भावों से दुःखी या दूषित–लाञ्छित नहीं होता। इसी भाव को कठ उपनिषद् [२।२।११] में कहा–'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' सूर्य जैसे सब लोक का चक्षु होकर चक्षु में होनेवाले बाह्य दोषों से लिप्त–दूषित नहीं होता; वैसे एक परब्रह्म समस्त भूतों में व्याप्त रहता हुआ लोकदुःख से दुःखी नहीं होता; क्योंकि वह स्वरूप से उससे पृथक् है। स्पष्ट है, जीवात्मा संसार में लिप्त रहता, भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये शुभाशुभ कर्मों को करता, और उनके फलों को भोगता है; तथा परब्रह्म उनका अन्तरात्मा रहता हुआ उनपर अनुग्रह करता है, उनके दोषों से लिप्त नहीं होता।

सूत्रकार ने सूत्र के 'एवं न परः' वाक्य में 'परः' पद से ब्रह्म को बोधित कर यह स्पष्ट किया है, कि जीवात्मा से ब्रह्म सर्वथा भिन्न तत्त्व है, उनकी एकता की कल्पना करना अशास्त्रीय होगा। शास्त्र में जहां एकता का कथन आपाततः प्रतीत होता है, वहां उनके केवल चेतनभाव की समानता को अभिव्यक्त करता है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में यही भाव है। छान्दोग्य [६।१–१५] के प्रसंग में अपने देहादि पर गर्व करने वाले श्वेतकेतु को यही समझाने का प्रयास किया गया है, कि तू चेतन ब्रह्म के समान चेतन आत्मतत्त्व है, प्राकृतिक देहादि के समान जड़ नहीं ॥४६॥

जीवात्मा के भोग आदि भावों से परब्रह्म अलिप्त रहता है, सूत्रकार ने इस विषय में शास्त्रवचनों को स्मरण कराया—

स्मरन्ति च ॥४७॥

[स्मरन्ति] स्मरण करते हैं [च] और। और शास्त्र इस तथ्य का स्मरण करते हैं–कथन करते हैं। सूत्र में 'स्मरन्ति' क्रियापद 'समामनन्ति' का उपलक्षण समझना चाहिये। शास्त्र उक्त अर्थ का समाम्नान–कथन करते हैं।

जीवात्मा क्लेश कर्म विपाक आदि भोगभावना से लिप्त रहता है, परमेश्वर ऐसा नहीं है, इसको स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र के आचार्यों ने कहा–'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' क्लेश आदि जीवात्म-धर्मों से सर्वथा अलिप्त, जीवात्मा के समान चेतन, पर उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता जगत् का उत्पादक आदि है, यही परमात्मा की विशिष्टता है।

यह स्थिति जीवात्मा से परमात्मा को भिन्न करती है। गतसूत्र की व्याख्या में उद्धृत कठ उपनिषद् '[२।२।११] का सन्दर्भ इसी अर्थ को स्पष्ट करता है। जीवात्मा भोक्ता है, उसके कर्म आदि से अलिप्त रहने के कारण परमेश्वर अभोक्ता है, इस अर्थ को 'द्वा सुपर्णा सयुजा' [ऋ० १।१६४।२०] इत्यादि ऋचा में कहा है। इसप्रकार शास्त्रों में अनेकत्र इस अर्थ का कथन है, कि परमात्मा जीवात्मा के भोगों–क्लेश आदि से सर्वथा अलिप्त रहता है ॥४७॥

शिष्य आशंका करता है, ब्रह्म जीवात्मा के समान भोगादि में लिप्त न रहो; पर जीवात्मा को ब्रह्म के समान क्यों न मानलिया जाय? अन्यथा अंशांशिभाव की कल्पना के लिये इनके अभेदकथन [ब्र० सू० २।३।४३] का प्रयोजन ही क्या रहेगा? तब जीवात्मा को ब्रह्म के समान मानलेने पर शास्त्र में जीवात्मा के लिये विधि-निषेध का कथन निरर्थक होगा; क्योंकि वह ब्रह्म के लिये नही है; और जीवात्मा ब्रह्म के समान है, उसके लिये भी वह न होना चाहिये? सूत्रकार ने समाधान किया—

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

[अनुज्ञापरिहारौ] विधि और निषेध [देहसम्बन्धात्] देह के साथ सम्बन्ध से [ज्योतिरादिवत्] ज्योति आदि के समान। जैसे ज्योति-अग्नि आदि पदार्थ स्थानविशेष के सम्बन्ध से ग्राह्य और परिहार्य होते हैं, ऐसे ही जीवात्मा के लिये अनुज्ञा-परिहार देह-सम्बन्ध से होते हैं।

'कृषिमित्कृषस्व' [ऋ० १०।३४।१३] 'खेती ही कर' यह अनुज्ञा अर्थात् विधि-वाक्य है। 'अक्षैर्मा दीव्यः' [ऋ० १०।३४।१३] यह परिहार अर्थात् निषेधवाक्य है। इसीप्रकार–'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' [शत० २।२।२।१८] 'सत्यं वद, धर्मं चर' [तै० १।११] 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' [ऋ० १०।१९१।२] इत्यादि विधिवाक्य हैं; और 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' [तै० १।११] 'गां मा हिंसीः' [यजु० १३।४३] इत्यादि निषेधवाक्य हैं। आत्मा के लिये कहे गये ये सब विधि-निषेध जीवात्मा का देह के साथ सम्बन्ध होने पर सम्भव होते हैं। तात्पर्य यह, कि विधि-निषेध के अनुष्ठान के लिये आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है। सूत्र का 'देह' पद सूक्ष्म-स्थूल दोनों प्रकार के देहों का बोधक है। यद्यपि जीवात्मा सदा चेतन है, और इस आधार पर ब्रह्म के साथ उसके अंशांशिभाव की कल्पना कीजाती है, पर चेतन होते हुए भी विधि-निषेध के अनुष्ठान की प्राप्ति उसे देहसम्बन्ध से होती है। स्वकृत कर्मों के भोग व कर्म के लिये जीवात्मा का देहसम्बन्ध अवश्यम्भावी है। यह स्थिति ब्रह्म के लिये नहीं है। जैसा जीवात्माओं का देहसम्बन्ध होता है, ब्रह्म का कभी नहीं होता। इसलिये अनुज्ञा-परिहार ब्रह्म के लिये न होने पर भी जीवात्मा के लिये सार्थक हैं। समानता केवल चेतनभाव के आधार पर कही जाती है।

लोक में यह स्पष्ट देखा जाता है, अग्न्याधान के लिये आग किसी पवित्र स्थान–श्रोत्रिय आदि के घर–से लाई जाती है, श्मशान आदि अपवित्र स्थान से नहीं। आग यद्यपि समान है, पर स्थानविशेष के सम्बन्ध से वह स्वीकार्य व परिहार्य होती है। पृथिवी आदि से उत्पन्न ओषधि तथा फल अन्न आदि ग्राह्य होते हैं; पर उन्हीं से बने शव–मृतशरीर आदि परिहार्य होजाते हैं। बहता हुआ स्वच्छ जल आदेय होता है, वही गड्ढे में भरा मलिन अल्प जल परिहार्य होता है। वस्तुओं के विषय में ये अनुज्ञा-परिहार जैसे स्थानविशेष आदि के सम्बन्ध से होते हैं, ऐसे ही आत्मा के लिये शास्त्रीय अनुज्ञा-परिहार देहसम्बन्ध से होते हैं। जीवात्मा का देहसम्बन्ध निश्चित है,[1] अतः उसके लिये ये सार्थक हैं। जब तक देहसम्बन्ध रहता है, विधि-निषेध उसके लिये बने रहते हैं। इस रूप में वह ब्रह्म के समान नहीं ॥४८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जीवात्मा और ब्रह्म के अंशांशिभाव की कल्पना में यदि इनका अभेद आधार है, तो जीवात्माओं द्वारा किये कर्मों का एक दूसरे के साथ सांकर्य क्यों नहीं होजाता ? सूत्रकार ने समाधान किया—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

[असन्ततेः] सन्तति–फैलाव के न होने से [च] तथा [अव्यतिकरः] व्यतिकर–सांकर्य नहीं है। तथा जीवात्माओं का सर्वत्र फैलाव न होने से उनके कर्म तथा कर्मफलों का सांकर्य नहीं होता।

शिष्य की जिज्ञासा का तात्पर्य यह है, कि जीव और ब्रह्म का अभेद मानने पर प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप होने से किसी एक जीवद्वारा किये गये कर्म और उनके फलोप-भोग की यह व्यवस्था नहीं की जासकती, कि उस कर्म और फल का संबन्ध उसी जीवात्मा से है; क्योंकि वे सब अभेदरूप से एक ब्रह्म हैं। अन्तःकरणों के आधार पर भी इस अव्यवस्था या सांकर्य का समाधान नहीं होपाता। परिच्छिन्न अन्तःकरण जिस देह से सम्बद्ध है, वह देह बराबर गतिशील रहता है, अन्तःकरण भी उसके साथ देशान्तर में जाता है; परन्तु ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्म से अभिन्न जीवात्मा में गति का होना संभव नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। गतप्रकरण में कर्त्ता या भोक्ता होना चेतनतत्त्व जीवात्मा का निश्चित किया गया है। सब जीवात्माओं के ब्रह्मरूप होने से वह समस्त कृति और भोग समानरूप से ब्रह्म में प्राप्त होता है। जिस अन्तःकरणयुक्त ब्रह्मप्रदेश के द्वारा कोई कर्म किया गया; उसीके द्वारा भोगे जाने की व्यवस्था अभेद-विचार में संभव नहीं होती। इसप्रकार कर्म और कर्मफल का सांकर्य प्राप्त होता है। अभेदविचार में जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व कोई नहीं है'।

१. इसी सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने बताया है–'उपाधितन्त्रो हि जीव

आचार्य सूत्रकार के समाधान का तात्पर्य है, जीव और ब्रह्म का अभेद वास्तविक नहीं है। जिज्ञासु ने उसे वास्तविक समझकर सांकर्य दोष की उद्भावना की है। जीवात्मा अपनेरूप में एक स्वतन्त्र चेतनतत्त्व है, जो परिच्छिन्न है। वह अतिसूक्ष्म होने से देह के एकदेश में निवास करता है, उसका फैलाव–विस्तार [-सन्ततिः] सर्वत्र नहीं है। देहादि की गति के साथ उसकी गति है। वह जो कर्म करता है, वही उसको भोगता है; यह बात आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और उसे परिच्छिन्न मानने पर संभव है। ऐसी स्थिति में कर्म और कर्मफल के सांकर्य दोष की उद्भावना का अवसर नहीं रहता। यह सूत्र सूत्रकार के इस आशय को प्रकट करता है, कि जीवात्मा और ब्रह्म का जो अभेद किसी विशेष भावना के आधार पर कहा गया है [ब्र० सू० २।३।४३], वह वास्तविक नहीं है। अभेदकथन की भावना के विषय में प्रकरण के गतसूत्रों पर व्याख्यान कर दिया है। जीवात्मा के लिये जैसे शास्त्रीय विधि-निषेध देहसम्बन्ध से माने जाते हैं, ऐसे ही परिच्छिन्न आत्मा के कर्म और भोग देहादिसम्बन्धद्वारा संपन्न होते हैं। जीवात्मा की ऐसी स्थिति मानने पर सांकर्य दोष की संभावना नहीं रहती ॥४६॥

आत्मा की कैसी स्थिति मानने पर सांकर्य दोष की उद्भावना होसकती है, आचार्य सूत्रकार ने इसे स्वतः स्पष्ट किया—

आभास एव च ॥५०॥

[आभासे] आभास में [एव] ही [च] तथा। जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने में ही सांकर्य दोष का उद्भावन संभव है।

यदि एकमात्र ब्रह्म चेतनतत्त्व को माना जाता है, उससे अतिरिक्त कोई चेतन अथवा अचेतनतत्त्व नहीं है; जीवात्मतत्त्व ब्रह्म का केवल आभासरूप है। आभास का तात्पर्य होता है–प्रतिबिम्ब अथवा प्रभा। जैसे मणि आदि की प्रभा का मणि से भिन्न आभास होता है, तथा जैसे सूर्य आदि का विभिन्न वस्तुओं जलादि में प्रतिबिम्ब पड़ता है; ऐसे ही जीवात्मा एक ब्रह्म का आभास व प्रतिबिम्बमात्र है; तो ऐसी मान्यता में सांकर्य दोष संभव है। इस विषय में यह भी विचारना चाहिये, कि ब्रह्म जैसे तत्त्व का प्रतिबिम्ब हो भी सकता है, या नहीं? सूर्य अथवा मुख आदि का दृष्टान्त इस प्रसंग में सर्वथा विषम हैं; क्योंकि ये पदार्थ स्थूल सावयव सरूप हैं, सर्वथा निरवयव नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब व आभास कैसे संभव है? इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब किसी अन्य वस्तु में होसकता है, ब्रह्म से अन्य यदि कोई सत्ता नहीं, तो प्रतिबिम्ब होगा कहां? इसलिये यह

इत्युक्तम्।' चेतन ब्रह्म का जीव व्यवहार केवल अन्तःकरण उपाधि के अधीन है। उपाधि के स्थानान्तरित होते रहने से 'जीव' पद से व्यवहार्य एक ही चेतनप्रदेश नहीं रहता; तब सांकर्य से कैसे बचा जासकता है?

ब्रह्म के आभास की कल्पना निराधार है। तत्त्व की विवेचना के लिये ऐसी कल्पना की-जासकती है, इसी भावना से सूत्रकार ने कहा—जीवात्मा को आभासमात्र मानने में सांकर्य दोष की संभावना है ॥५०॥

इस विषय में स्वयं सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत किया—

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

[अदृष्टानियमात्] अदृष्ट का नियम न होने से। जीवात्मा को आभास मानने पर अदृष्ट [धर्म-अधर्म] का नियम न रहने से सांकर्य दोष प्राप्त होगा।

आत्मा को ब्रह्म का आभास वा प्रतिबिम्ब मानने पर प्राणीस्थिति की व्याख्या व विवेचन के अनुसार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में कल्पना किया जाता है। अन्तःकरण में ब्रह्म के उसी प्रदेश का आभास होगा, जो उससे सम्बद्ध है। अन्तःकरण देह के साथ एक स्थान से स्थानान्तर में गतिशील रहता है, पर ब्रह्म कूटस्थ निश्चल है। अन्तःकरण के स्थानपरिवर्त्तन के अनुसार आभास बदलता रहेगा। जिस आभास ने कर्म किया है, वह भोगप्रदेश में नहीं है; तथा यह कर्म न करनेवाले अन्य अन्तःकरण-आभास का प्रदेश है। इसप्रकार करनेवाला अन्य तथा भोगनेवाला अन्य होजाता है। जिस अन्तःकरणयुक्त ब्रह्मप्रदेशरूप जीवात्मा ने धर्म-अधर्म किया; भोग के समय देह के स्थानान्तरित होने के साथ अन्तःकरण के भी देशान्तर में चले जाने से अन्तःकरणयुक्त उस प्रदेश का ब्रह्म जीवात्मा कहाजायगा, तब धर्माधर्म करनेवाला अन्य तथा भोगनेवाला अन्य होगा। इसप्रकार अदृष्ट—धर्माधर्म—की व्यवस्था न रहने से सांकर्य दोष प्राप्त होगा।

यदि कहा जाय, कि अखण्ड ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना नहीं होसकती; तो मानना होगा, कि असंख्यात अन्तःकरणों का सम्बन्ध एकमात्र ब्रह्म से है, तो समस्त अन्तःकरणों का एकमात्र ब्रह्म से सम्बन्ध होने पर सांकर्य दोष और अधिक उभर कर सामने आयेगा। क्योंकि अन्तःकरणयुक्त ब्रह्म में अन्तःकरणों की भिन्नता के आधार पर कर्म व भोग की व्यवस्था न रहेगी, सबके कर्म व भोग सबमें प्राप्त होंगे। इस विषय में यह भी विचारना आवश्यक है, कि ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना न मानने पर यही स्वीकार करना होगा, कि अन्तःकरण में पूर्ण अखण्ड ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है, तब अनन्त अन्तःकरण होने से ब्रह्म भी उतने मानने होंगे। यह सर्वथा अशास्त्रीय एवं युक्तिप्रमाण के विरुद्ध है। इस-लिये जीवात्मतत्त्व को ब्रह्म का आभासमात्र कहना सर्वथा निराधार है। अनन्त ब्रह्म मानने से यही श्रेयस्कर है, कि जीवात्मतत्त्व अनन्त हैं, अचेतन प्रकृतितत्त्व उनके भोगापवर्ग का साधन है। इन सबका नियन्ता अधिष्ठाता एकमात्र ब्रह्म है, यही तथ्य स्वीकार किया जाय।

ब्रह्मैकत्ववाद को—इस रूप में प्रस्तुत कर, कि एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है—जितना गंभीरतापूर्वक विचारा जाय, उतना ही यह

विशीर्ण-विच्छिन्न होता चला जाता है। फलतः जीव-ब्रह्म के अंशाशिभाव की कल्पना में इनके अभेद को जो आधार माना है, वह औपचारिक है। दोनों तत्त्वों के चेतनभाव की समानता को लेकर ऐसी कल्पना की गई है, उसीके अनुसार शास्त्रीय वर्णन हैं। ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति चेतन है, जीवात्मा अल्पज्ञ अल्पशक्ति चेतन हैं, इसलिये उसके अंश जैसा इन्हें वर्णन कर दिया गया है। वस्तुतः ये अपने रूप में भिन्न तत्त्व हैं, अतः इनके कर्म व भोग में किसीतरह के सांकर्य की संभावना नहीं कीजासकती।

पूर्ण अखण्ड व्यापक ब्रह्म के प्रत्येक अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने के प्रतिषेध से जीवात्मा का स्वरूप से विभु होना भी प्रतिषिद्ध होजाता है, क्योंकि इस मान्यता में प्रत्येक देह व अन्त:करण से प्रत्येक आत्मा का सम्बन्ध अनिवार्य होगा; उस दशा में अदृष्ट की व्यवस्था न रहेगी। प्रत्येक आत्मा के कर्म व भोग समानरूप से प्रत्येक आत्मा में प्राप्त होंगे, तब भी सांकर्य दोष की आपत्ति होगी। यद्यपि प्रकरण [ब्र० सू० २।३।२१–३२] में आत्मा की अणुता को सिद्ध कर दिया तथापि उसकी दृढ़ता के लिये–आत्मा के विभु मानने में क्या आपत्ति होसकती है–यहां प्रसंगवश प्रतिपादन कर दिया है ॥५१॥

शिष्य आशंका करता है, राग-द्वेषादिमूलक संकल्प के कारण अदृष्ट की व्यवस्था मानी जासकेगी, तब जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने अथवा जीवात्मा को विभु मानने में क्या दोष है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

[अभिसन्ध्यादिषु] अभिसन्धि आदि में [अपि] भी [च] और [एवम्] ऐसा ही है। और अभिसन्धि आदि में भी अदृष्ट के समान अनियम बना रहेगा।

रागद्वेषादिमूलक संकल्प का नाम 'अभिसन्धि' है। सूत्र के 'आदि' पद से प्रयत्न ज्ञान वासना आदि आत्मसम्बन्धी धर्मों का ग्रहण अभीष्ट है। शिष्य की आशंका का अभिप्राय है, कि जीवात्मा को ब्रह्म का आभास अथवा विभु मानने में गतसूत्र से अदृष्ट [धर्म-अधर्म] के अनियम की जो आपत्ति प्रस्तुत की गई है, वह उस समय नहीं रहती, जब रागद्वेषादिमूलक संकल्प के आधार पर धर्माधर्म की व्यवस्था होसकती है। अन्तः-करणयुक्त ब्रह्म जीवात्मा है, उसकी समस्त प्रवृत्तियां रागद्वेषादिमूलक हुआ करती हैं, उन्हींके अनुसार संकल्प बनता है, एकप्रकार की दृढ़ धारणा। जीवात्मा के संकल्प व धारणा के आधार पर धर्माधर्म और भोग की व्यवस्था होजाती है। ऐसा संकल्प इनका नियामक माना जासकता है। तब अदृष्ट का अनियम न रहने से आत्मा को ब्रह्म का आभास व विभु मानने में क्या आपत्ति है ?

आचार्य सूत्रकार के समाधान का तात्पर्य है, कि रागद्वेषादिमूलक संकल्प के होने और धर्माधर्म व भोग में उसका सहयोग होने से किसीको नकार नहीं होना चाहिये; पर जो स्थिति धर्माधर्म की है, वही स्थिति संकल्प आदि की है। जीवात्मरूप जिस ब्रह्म

प्रदेश ने धर्माधर्म के अनुष्ठान के साथ संकल्प किया, वह उस समय छूट जाता है, जब भोगकाल में अन्तःकरण देशान्तर चले जाने से अन्य ब्रह्मप्रदेश के साथ सम्बद्ध होता है। इसलिये अदृष्ट के विषय में जो अनियम कहा गया, संकल्प आदि के विषय में वही बना रहता है। तब संकल्प की नियामकता का अवकाश कहां है? कोई संकल्प एक ब्रह्म-प्रदेश को अन्यत्र ला नहीं सकता, वह सर्वत्र व्याप्त पूर्ण तत्त्व है। किसी अन्तःकरण का सम्बन्ध समस्त ब्रह्म के साथ कभी नहीं माना जासकता। प्रत्येक अन्तःकरण में पूर्ण ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी अकल्पनीय है, जैसा गतसूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया गया।

'अभिसन्धि' पद का अर्थ 'अभिप्राय' अथवा 'गूढ़ अभिप्राय' आदि मानने पर भी आपत्ति वैसी ही बनी रहती है। उक्त विचार के अनुसार जब आत्मा बदलता रहता है, तो 'मेरा यह अभिप्राय था' अथवा 'अमुक कार्य मैंने इस अभिप्राय से किया' इत्यादि लोकव्यवहार सर्वथा असंपन्न होगा। जिसने किया उसे फल नहीं मिला; जो फल भोगता है उसने किया नहीं; यह अव्यवस्था आत्मा को ब्रह्म का आभास–प्रतिबिम्ब मानने पर बराबर बनी रहती है। ऐसे ही प्रत्येक आत्मा को विभु मानने पर प्रत्येक के कर्म व भोग का प्रत्येक के साथ सम्पर्क होने से अव्यवस्था बनी रहेगी। फलतः आत्मा न ब्रह्म का आभास है और न विभु है। सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ब्रह्म की सत्ता पृथक् है, तथा अल्पज्ञ अणु जीवात्मा की पृथक्। तब सांकर्य की संभावना नहीं रहती ॥५२॥

शिष्य ने जिज्ञासा की, आत्मा को ब्रह्म का आभास आदि न मानकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना सत्य है, पर उसे विभु मानने में क्या दोष है? सांकर्य अथवा धर्माधर्म के अनियम का निवारण तो देहादि सम्बन्ध से होसकता है? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

[प्रदेशात्] प्रदेश से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [अन्तर्भावात्] अन्तर्भाव से। देहादि प्रदेश से सांकर्य व अनियम आदि दोषों का निवारण होजायगा, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह कथन स्वयं आपत्तिक्षेत्र के अन्तर्गत आजाता है।

आत्मा को विभु मानने पर उसके धर्म-अधर्म संकल्प ज्ञान यत्न आदि सब देह-प्रदेश में होते हैं। विभु होते हुए भी आत्मा अन्तःकरण आदि के सहयोग से शरीर में ही ज्ञान धर्म आदि वृत्तियों का लाभ करता है, कहीं अन्यत्र नहीं। वहीं कर्मों का अनुष्ठान और वहीं भोग होने से तथा अन्य आत्माओं के देह सर्वथा पृथक् होने से सांकर्य आदि दोष प्राप्त न होंगे। जिस आत्मा का जो शरीर है, वह वहीं करता व भोगता है, तब अव्यवस्था की कोई आशंका नहीं रहती।

आचार्य का समाधान है, जिस आधार पर उक्त वाद में प्रस्तुत आपत्ति की गई

है; यह कथन उसीमें आजाता है। तात्पर्य यह है, कि जिस एक आत्मा का किसी एक देह के साथ सम्बन्ध कहा जाता है, समस्त आत्माओं के विभु होने से उस देह के साथ उन सबका वैसा ही सम्बन्ध है। तब प्रत्येक शरीर में प्रत्येक आत्मा को प्रत्येक कर्म-फल की प्राप्ति होना मानना चाहिये। यदि कहा जाय, कि एक विशिष्ट आत्मा को उसके धर्माधर्म के अनुसार वह देह प्राप्त हुआ है, इसलिये उसको वहां कर्म-भोग आदि प्राप्त होगा, अन्य को नहीं। इस कथन में कोई सार नहीं। कारण यह है, कि जिन धर्माधर्मों को जिस आत्मा से सम्बद्ध कहाजाता है, अन्य समस्त आत्मा वहां पर ठीक उसीकी तरह विद्यमान हैं। तब एक ही आत्मा से उनके सम्बन्ध का नियामक कौन होगा ? किसी आत्मा की कृति या भोग कभी ऐसे संभव नहीं होसकते, जो अन्य आत्माओं के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर किये जासकें। इसलिये जीवात्माओं को विभु मानने पर सांकर्यादि दोषों की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। देहादि प्रदेश के आधार पर इन दोषों का निवारण अशक्य है।

कहा जासकता है, आत्माओं को विभु मानने पर एक आत्माद्वारा किये गये कर्म आदि का दूसरे न करने वाले आत्माओं पर यदि आरोप होना माना जाता है; तो आत्माओं के अणु माने जाने पर भी परब्रह्म के सर्वत्र व्याप्त होने से आत्मकर्मों को न करनेवाले ब्रह्म पर भी उन कर्मों का आरोप माना जाना चाहिये। न करने पर वह भी कर्मों का भागी बने। पर जैसे यहां व्यापक ब्रह्म न करने पर जीवात्म-कर्मों का भागी नहीं बनता; ऐसे ही एक जीवात्मा के किये कर्मों का व्यापक भी अन्य जीवात्मा उन कर्मों को न करने के कारण उनके भागी नहीं बनेंगे। तब जीवात्माओं को विभु क्यों न मानलिया जाय ?

इस विषय में ध्यान देने की बात है, कि ब्रह्म कर्म-भोग की भावना से कभी प्रकृति-सम्पर्क अर्थात् देहादि-सम्बन्ध में नहीं आता। इसलिये वह कर्म-भोग के क्षेत्र से बाहर है। जीवात्मा ऐसा नहीं है, अतः जीवात्माओं के विभु मानने पर उक्त दोषों की सम्भावना निश्चित है। इसके अतिरिक्त यदि जीवात्माओं के समस्त कर्म-भोग देहप्रदेश में ही संभव हैं, तब उनके विभु होने में न कोई प्रमाण है, न प्रयोजन। फलतः आत्मा अणु है, कर्त्ता है, चेतन होने से ब्रह्म के अंश जैसा है, अर्थात् अल्पशक्ति अल्पज्ञ है। वह अपने रूप में स्वतन्त्र तत्त्व हैं। गतप्रकरण से जीवात्मा के विषय में यह सब निश्चय किया गया। ऐसा जीवात्मा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी होता है; जिसके लिये प्रस्तुत शास्त्र का प्रारम्भ है ॥५३॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

गत तृतीयपाद में आकाश आदि की उत्पत्ति का विवेचन तथा जीवात्मा के स्वरूप का उपपादन किया गया । जीवात्मा के भोगापवर्ग के साधन इन्द्रियादि के विषय में आवश्यक विवेचन इस चतुर्थपाद में प्रस्तुत किया जाता है ।

इस पृष्ठभूमि पर शिष्य आशंका करता है, आकाश आदि तत्त्वों की उत्पत्ति का निर्देश करने वाले तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में इन्द्रियों का निर्देश नहीं है; इससे प्रतीत होता है, कि इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं मानी जानी चाहिये । आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तथा प्राणाः ॥१॥

[तथा] वैसे [प्राणाः] प्राण—इन्द्रियां अथवा करण । जैसे आकाश आदि तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण उत्पन्न होते हैं ।

आकाश आदि तत्त्वों का उत्पादक ब्रह्म है, गत प्रकरणों में विस्तार के साथ इसका निश्चय किया है । जैसे आकाश आदि का उत्पादक ब्रह्म है, वैसे इन्द्रिय आदि करणों की रचना में ब्रह्म कारण है । यद्यपि यह निश्चय कर दिये जाने पर, कि समस्त विश्व की रचना का कारण ब्रह्म है, इन्द्रियादि करणों की रचना का कारण वह सिद्ध हो-जाता है; फिर भी उपनिषदों में इस विषय के विभिन्न लेख होने से उनके सामञ्जस्य के लिये इसका विशेषरूप से विवेचन आवश्यक है ।

तैत्तरीय उपनिषद् [२।१] के 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सभूतः' इत्यादि सन्दर्भ में जहां अन्य भूत-भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति का निर्देश है, वहां प्राणों—करणों का उल्लेख नहीं है; अतः इनकी उत्पत्ति के विषय में सन्देह किया जासकता है । वस्तुतः उपनिषदों का मुख्य विषय जगत् के उत्पाद-विनाश आदि का क्रमपूर्वक वर्णन करना नहीं, उन्हें मुख्यरूप से केवल इतना अभीष्ट है, कि जगत् का उत्पन्न करनेवाला एक चेतनतत्त्व ब्रह्म है, और वह जगत् व जगदुपादानतत्त्व से भिन्न है; यह स्पष्ट होना चाहिये । जिससे उसका वास्तविक स्वरूप समझा जासके । इसकारण उपनिषदों में जहां जैसा प्रसंग है, उसके अनुसार जागतिक तत्त्वों का निर्देश कर उनके उत्पादक के रूप में ब्रह्म का उल्लेख हुआ है । ऐसी स्थिति में यदि किन्हीं पदार्थों की उत्पत्ति का एक जगह निर्देश नहीं है, तो अन्यत्र संभव होसकता है । इसके अनुसार अनेक स्थल हैं, जहां प्राणों की उत्पत्ति का निर्देश है । मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] में कहा—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' सात प्राण उससे उत्पन्न होते हैं । इससे पूर्व [२।१।३] कहा—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' यहां पर सब इन्द्रियों की उत्पत्ति का 'इन्द्रिय' पदद्वारा स्पष्ट निर्देश है । उपनिषदों के प्रतिपाद्य अर्थविषयक उक्त भावना के अनुसार इन निर्देशों

में किसीप्रकार के विरोध की आशंका नहीं कीजानी चाहिये ।

तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में भी करणों के उत्पाद की भावना अभिलक्षित होती है । वहां आगे पद हैं–'रेतसः पुरुषः' यहां पुरुष की उत्पत्ति से तात्पर्य 'देह' से है । देह की उत्पत्ति सदा करणों के सहित होने से देह की उत्पत्ति बताने पर करणों की उत्पत्ति का कथन स्वतः होजाता है ।

सूत्र में 'प्राण' पद करणवाचक है । उपनिषदों में इस पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। उनमें एक अर्थ 'करण' है। इसके लिये छान्दोग्य उपनिषद् [५।१।६–९] तथा बृहदारण्यक [२।१।१७, २०] के प्रसंग प्रमाण हैं। मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] का सन्दर्भ प्रथम उद्धृत किया गया है। वस्तुतः शरीरवर्त्ती जिन क्रियाओं का 'प्राण' पद से बोध होता है, वे क्रिया समस्त इन्द्रियों व करणों का 'व्यापार' हैं, करणों की वृत्तियां । करणों के अस्तित्व में ही शरीर के अन्दर यह व्यापार संभव है, इसी आधार पर 'प्राण' पद का प्रयोग इन्द्रियों व करणों के लिये होता है । उपनिषदों में 'प्राण' पद कहीं 'बुद्धि' [महत्तत्त्व–आद्यकार्य] अर्थ में प्रयुक्त है, जैसे मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में, और कहीं 'इन्द्रियों के गोलक' अर्थ में। इसका विवेचन उन-उन प्रसंगों के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, कदाचित् तैत्तिरीय [२।१] में उत्पत्ति का उल्लेख न होने से करणों की अन्यत्र उत्पत्ति का वर्णन औपचारिक–गौण हो, तो यह उत्पत्ति-विषयक सन्देह वैसा ही बना रहेगा ? सूत्रकार आचार्य ने कहा—

गौण्यसम्भवात् ॥२॥

[गौण्यसम्भवात्] गौणी उत्पत्ति के असंभव होने से । प्राणों की उत्पत्ति को गौणी अर्थात् औपचारिक कहना संभव नहीं है ।

यदि किसी प्रतिपाद्य अर्थ के विषय में कोई बाधक हेतु उपस्थित होजाय, तो उस अर्थ को गौण मानाजासकता है । पर यहां करणों की उत्पत्ति के विषय में कोई बाधक हेतु नहीं है, इसलिये उसे गौणी कहना सम्भव नहीं ।

प्राणों के उत्पत्तिविषयक वचन को गौण इसी आधार पर कहा जासकता है, कि तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में उनकी उत्पत्ति का निर्देश नहीं । पर गत-सूत्र की व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया है, कि वहां पुरुष [–देह] की उत्पत्ति के कथन से 'प्राणों–करणों' की उत्पत्ति का कथन स्वतः होजाता है । इसलिये प्राणों की उत्पत्ति का गतसूत्र से किया गया अतिदेश सर्वथा युक्त है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इन्द्रियों का प्रादुर्भाव आकाश आदि के पहले होजाता है, अथवा अनन्तर होता है ? आचार्य ने कहा—

तत्प्राक् श्रुतेश्च ॥३॥

[तत्प्राक्] उनसे पहले [श्रुतेः] श्रुति से [च] और (स्मृति से)। श्रुति और स्मृति से यह जाना जाता है, कि प्राण-इन्द्रियां आकाश आदि से पहले उत्पन्न होजाती हैं।

श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित सृष्टि-उत्पत्तिक्रम के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले तथा आकाश आदि की उनके अनन्तर होती है। मुण्डक उपनिषद् [२।१।१–३] में 'अक्षर'–प्रकृति से साधारणरूप में विविध सृष्टि की उत्पत्ति कहकर तथा अक्षर-प्रकृति से परात्पर ब्रह्म का निर्देश कर, इन कारणों से जो जगत् बनता है, उसका निर्देश इस क्रम से किया–'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'। प्राण, मन, सब इन्द्रिय [पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय], आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। यहां 'प्राण' पद बुद्धितत्त्व का बोधक है, और यह 'अहंकार' का उपलक्षण है। अपने साथ वह 'अहंकार' तत्त्व का बोध करा देता है। उसके अनन्तर मन, तथा इन्द्रियां उत्पन्न होजाती हैं। इनके अनन्तर आकाश आदि की उत्पत्ति का क्रम है। सांख्यस्मृति में इस विषय का विस्तृत विवेचन है, वहां सृष्टि-उत्पत्ति के इसी क्रम को निश्चित किया है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१] के सन्दर्भ में केवल भूतों की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है, जिसका प्राणी-जगत् से सीधा संपर्क है; वहां इतना निर्देश अभीष्ट है, जो प्रसंग के लिये अपेक्षित है। सृष्टि-उत्पत्ति का वहां पूर्ण विवरण अनावश्यक है, क्योंकि यह उसका प्रतिपाद्य विषय नहीं। इसीप्रकार उपनिषदों के विभिन्न प्रसंगों में सृष्टि के अपेक्षित अंशों का प्रसंगानुसार उल्लेख हुआ है। उनमें आपाततः विभिन्नता देखकर उनके परस्पर विरोध की संभावना नहीं कीजानी चाहिये।

प्रश्न उपनिषद् [६।४] के 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च' सन्दर्भ में इन्द्रियों का उल्लेख आकाश आदि के अनन्तर हुआ है। इससे न तो यह संभावना कीजानी चाहिये, कि इन्द्रियों की सृष्टि आकाश आदि के अनन्तर होती है; और न यह, कि पूर्वोक्त मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] के सन्दर्भ से इसका विरोध है। क्योंकि यहां न तो सृष्टि-तत्त्वों का वर्णन अपेक्षित है, और न उनके क्रमनिर्देश की भावना है, यह सन्दर्भ के पदों से स्पष्ट है। इस प्रसंग के प्रारम्भ में 'षोडशकल' पुरुष का निर्देश है; प्रस्तुत सन्दर्भ में उस पुरुष की केवल उन सोलह कलाओं का उल्लेख है, जिनके

१. इसके लिये देखें, सांख्यदर्शन, अध्याय १, सूत्र २६ से ३०; तथा ३६ से ३८। यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित एवं व्याख्यात सांख्यदर्शन की है। इसमें ३५ जोड़कर सांख्यदर्शन के अन्य किसी भी संस्करण में उक्त स्थलों को देखा जासकता है।

कारण पुरुष 'षोडशकल' कहा जाता है। इसकी तुलना उपनिषद् के सृष्टि-उत्पत्ति प्रसंगों से नहीं कीजानी चाहिये। फलतः यह निश्चित होता है, कि इन्द्रियों की उत्पत्ति सृष्टिक्रम में आकाश आदि से पहले होजाती है।

अथवा इस सूत्र की योजना गतसूत्र के 'असंभव' हेतु की पुष्टि में की जासकती है। प्राणों की उत्पत्तिश्रुति को गौण कहना असंभव है; क्यों असंभव है ? इसमें हेतु दिया—'तत्प्राक्श्रुतेः'। उत्पत्ति के विभिन्न प्रसंगों में जहां इन्द्रिय का उल्लेख है, वहां अन्य तत्त्वों का है। उन प्रसंगों में उत्पत्तिवाचक 'जायते, असृजत, प्रभवन्ति' आदि पदों का एक वार पाठ प्रत्येक तत्त्व के साथ सम्बद्ध रहता है, वह इन्द्रिय के साथ गौण हो और अन्य तत्त्वों के साथ मुख्य, ऐसा नहीं मानाजासकता। सन्दर्भों में 'इन्द्रिय' पद के पाठ से पहले उत्पत्तिवाचक पद के श्रवण से इन्द्रियों की उत्पत्ति को गौण नहीं समझना चाहिये। प्रस्तुत सूत्र की ऐसी योजना यद्यपि अधिक स्वारस्यपूर्ण नहीं है। यह एक साधारण बात है, कि एक सन्दर्भ में अनेक पदों के साथ एक क्रिया का सम्बन्ध समानरूप से माना जाता है। फिर उत्पत्तिश्रुति की गौण कल्पना इस आधार पर की गई है, कि कतिपय उत्पत्तिप्रसंगों में 'प्राणों' का उल्लेख नहीं है। इसका यह समाधान शिथिल है, कि उत्पत्तिवाचक पद का सन्दर्भपठित प्रत्येक पदार्थ के साथ सम्बन्ध है ॥३॥

शिष्य आशंका करता है, छान्दोग्य उपनिषद् [६।५।४] के कतिपय वाक्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है, कि इन्द्रियों से पहले भूतों की उत्पत्ति होजाती है, वहां 'वाक्' को तेजोमयी कहा है, इससे ज्ञात होता है, कि तेज वाक् का कारण है, कारण अवश्य कार्य से पूर्व होना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तत्पूर्वकत्वाद् वाचः ॥४॥

[तत्पूर्वकत्वात्] तत्पूर्वक—तेजपूर्वक होने से [वाचः] वाक् के। वाग्व्यवहार का प्रयोजक है तेज, यही भाव उपनिषद् में वर्णित है।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम पद विचार से उपस्थित 'तेज' का बोध कराता है। 'पूर्व' पद प्रयोजककारण का निर्देश करता है। 'वाक्' पद वाग्व्यवहार को उपलक्षित करता है। छान्दोग्य [६।५।४] के उक्त प्रसंग में तीन वाक्य हैं—'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्'। इन वाक्यों का आपाततः यह अर्थ समझा जाता है, कि मन अन्न का, प्राण जलों का और वाणी तेज का विकार है; एवं अन्न आदि मन आदि के कारण हैं। उपनिषद् के प्रसंग का गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है, कि मन आदि की व्यवहारशक्ति को उत्तेजित व अभिव्यक्त करने के लिये अन्न आदि प्रयोजकमात्र हैं, मन आदि के उपादान नहीं, यही भाव उपनिषद् में प्रकट किया गया है। प्रसंग से स्पष्ट है, श्वेतकेतु को पन्द्रह दिन तक आहार छोड़कर केवल जल लेकर उपवास के लिये कहा गया। इसके परिणामस्वरूप मन सहित सब

ज्ञानेन्द्रियों की व्यवहारशक्ति क्षीण होगई, तेज–गति के शिथिल होजाने से सब कर्मेन्द्रियां अपना कार्य छोड़ बैठीं। समस्त इन्द्रियों–करणों का सामान्यव्यापार प्राण जल के सहारे जैसे-तैसे चलता रहा, इस अवस्था को बतलाने के लिये उक्त वाक्य कहे गये हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि अन्न आदि मन आदि के कार्य करने की शक्ति को अभिव्यक्त व उत्तेजित करते हैं। इसी आशय से उक्त वर्णन है। इन वाक्यों का तात्पर्य अन्न आदि को मन आदि का उपादान बताने में नहीं है[1] ॥४॥

प्राण अर्थात् करणों की उत्पत्ति के विषय में निश्चय होजाने पर शिष्य उनकी संख्या के विषय में जिज्ञासा करता है। क्योंकि विभिन्न स्थलों में इन्द्रियों [प्राणों] की विभिन्न संख्या का उल्लेख है। इसी भावना से सूत्रकार ने कहा—

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

[सप्त] सात [गतेः] गति से [विशेषितत्वात्] विशेषित होने से [च] तथा। गति से तथा विशेषित होने से सात प्राण समझने चाहियें।

उपनिषदों तथा अन्य वैदिक साहित्य के विभिन्न स्थलों में प्राणों की विविध संख्याओं का उल्लेख है। मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] में सात प्राण बताये। तैत्तिरीय आरण्यक [१।७।२; ५।४।४] तथा (५४६) तैत्तिरीय संहिता [५।१।७।१] में 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' सिर में रहने वाले सात प्राण कहे। बृहदारण्यक के एक स्थल [३।२।१] में 'ग्रह' पद से आठ प्राणों का उल्लेख किया है–पांच ज्ञानेन्द्रिय, दो कर्मेन्द्रिय [वाक्, हस्त] तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन। ये आत्मा को बांधने वाले हैं, इसलिये इनको 'ग्रह' कहा। बृहदारण्यक में अन्यत्र [३।९।४] ग्यारह प्राण गिनाये हैं–'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय दस, और ग्यारहवां मन। इस प्रसंग में 'आत्मा' पद का प्रयोग 'मन' के लिये हुआ है, क्योंकि यह समस्त इन्द्रियों के साथ प्राप्त–सम्बद्ध रहता है। बृहदारण्यक के अन्य स्थलों [२।४।११, तथा ४।५।१२] में बारह करणों का निर्देश है–दस बाह्यकरण तथा मन और बुद्धि दो अन्तःकरण। प्रश्न उपनिषद् [४।८] में तेरह करणों का निर्देश है। इन सब निर्देशों के आधार पर सन्देह होता है, कि वस्तुतः कितने प्राण अर्थात् करण हैं?

आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से ज्ञानसाधन करणों और अगले सूत्र से कर्मसाधन करणों को बताया है। उपनिषदों में जहां जैसा प्रसंग है, उसके अनुसार करणों का उल्लेख है; प्रत्येक स्थल में उनके संख्यानिर्धारण की कोई भावना नहीं। आचार्य ने उन सभी करणों का दो रूप में विभाजन बताया–ज्ञानसाधन करण और कर्मसाधन।

१. इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' पृ० २९३–२९७।

समस्त स्थलों में इसप्रकार समझ लेना चाहिये, कि कहां कितने करणों–प्राणों का किस रूप से उल्लेख हुआ है। इन उल्लेखों में परस्पर विरोध की आशंका करना सर्वथा निराधार है।

इस भावना के साथ यथाक्रम उन सन्दर्भों पर विचार करें, जहां प्राणों की किसी संख्या का निर्देश है। पहले मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] का वाक्य सामने आता है–'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' परमात्मा से सात प्राण उत्पन्न होते हैं। इसी कण्डिका में आगे वर्णन है–ये प्राण अपने विषय का बोध कराने में साधन होते हैं, सात इनके विषय, सात विषयज्ञान, तथा सात लोक–जिनमें ये प्राण विचरण करते हैं। इन समस्त तत्त्वों का उत्पादक परमात्मा है, यह प्रकरण का तात्पर्य है।

ये सात प्राण कौनसे हैं? इसकी स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध नहीं। कहीं दो आंख दो नाक दो कान एक मुख को गिनकर सात संख्या बताई है, कहीं पांच ज्ञानेन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय वाक् और एक आन्तर इन्द्रिय मन को लेकर सात संख्या पूरी की हैं। इनमें वस्तुतः देखा जाय, तो पहले में इन्द्रियों के गोलकों की गणना है, इन्द्रिय तो वहां चार हैं–चक्षु, प्राण, श्रोत्र और रसन। 'मुख' से 'वाक्' का ग्रहण किया जासकता है। आचार्य शंकर ने मुण्डक उपनिषद् [२।१।८] के इस सन्दर्भ की व्याख्या में 'सप्त शीर्षण्याः प्राणाः' कहकर व्याख्या की है। यह वाक्य अनेक ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थों में है। पर वहां 'पञ्च शीर्षण्याः प्राणाः'[श० ११।२।६।४]पाठ भी उपलब्ध होता है। वस्तुतः ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख विभिन्न निमित्तों के आधार पर हैं; इनमें इन्द्रियों की गणना निर्धारित करने की भावना नहीं है। इस आशय का एक मन्त्र अथर्ववेद [१०।२।६] में है–'कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'। कौन देव शिर भाग में सात इन्द्रियच्छिद्रों को विशेषरूप से घढ़ कर बनाता है, जो दो कान दो नासिका दो चक्षु और मुख के रूप में हैं। स्पष्ट है, कि यह कथन इन्द्रिय गोलकों के विषय में है, 'वि ततर्द' क्रियापद इस भाव को और अधिक स्पष्ट कर देता है, जिसका अर्थ है–काट छीलकर बनाना। इन्द्रियों की गणना में इसका तात्पर्य संभव प्रतीत नहीं होता।

मुण्डक उपनिषद् के सात प्राणों की दूसरी व्याख्या में पांच ज्ञानेन्द्रिय, वाक् और मन को गिना है। इन्द्रियकथन की दृष्टि से शीर्षण्य सात प्राणों की यह गणना उपयुक्त कही जासकती है। 'प्राण' पद का अर्थ 'करण' समझने पर 'बुद्धि' की गणना इसमें नहीं होती। इन्हीं सात में 'हस्त' इन्द्रिय को और मिलाकर 'आठ ग्रह' के रूप में बृहदारण्यक [३।२।१] का उल्लेख है। इन दोनों स्थलों में एक या दो कर्मेन्द्रियों को शेष सबका उपलक्षण मानलिया जाय, तो इन्द्रियों की संख्या का भेद न रहकर इन सब उल्लेखों में समानता स्पष्ट होजाती है।

आचार्य शंकर ने जहां नौ इन्द्रियों का उल्लेख किया है, वहां वाक्य उद्धृत

कियः–'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' इसका मूलस्थान मुद्रित पुस्तकों में [तै० सं० ५।१।७।१] दिया गया है। पर वहां 'द्वाववाञ्चौ' ये पद नहीं हैं। यदि कहीं ऐसा पाठ मानलिया जाय, तो इसका अभिप्राय देह के केवल नौ छिद्रों का निर्देश करना है, इन्द्रियों का नहीं। देह के इन नौ छिद्रों व नवद्वारों का उल्लेख अनेकत्र श्रुति-स्मृतियों में पाया जाता है। अथर्ववेद[१०।२।३१]में 'अष्टचक्रा नवद्वारा···पूः' का वर्णन है। अन्यत्र 'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः' [अनुपलब्धमूल] कहा है। नाभि को छिद्र-समान मानकर नौ छिद्रों के साथ इसे जोड़ दस संख्या कही है। ग्यारह संख्या का स्थल बृहदारण्यक [३।९।४] से उद्धृत किया गया है। इन्द्रियों की दृष्टि से यह सर्वथा युक्त है। पर वहां ग्यारह 'रुद्र' की गणना का प्रसंग है। शरीर छोड़कर जाते समय ये प्राणियों को रुलाते हैं, इसकारण इनकी 'रुद्र' संज्ञा है, यह बताना अभीष्ट है।

जब 'प्राण' पद का अभिप्राय 'करण' लिया जाता है, तब बारह और तेरह की संख्या सामने आती है। ज्ञान व कर्म के साधन इन्द्रियों से अतिरिक्त 'अहंकार' तथा 'बुद्धि' दो करण और हैं। जहां अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव मानलिया गया, वहां बारह, अन्यथा तेरह करणों के रूप में प्राणों को बताया गया है; जैसे प्रश्न उपनिषद् [४।८] में। फलतः प्राणों के विभिन्न वर्णनों में–चाहे वह इन्द्रियरूप से है चाहे करण-रूप से–उनको ज्ञानसाधन और कर्मसाधन इन दो विभागों में समझलेना आवश्यक है। इसी आशय से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में प्रथम ज्ञानसाधन करणों का निर्देश किया है।

सूत्र के 'गति' पद का अर्थ 'ज्ञान' है। ज्ञान से सात करण जाने जाते हैं। ज्ञान के साधन होने से इनका निश्चय होता है। इनमें पांच करण बाह्यसाधन हैं–चक्षु आदि पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रिय। दो उनके अत्यन्त सहयोगी आन्तर करण हैं–मन और बुद्धि। कोई ज्ञान इनके सहयोग बिना पूरा नहीं होपाता। तात्पर्य यह, कि आत्मा को किसी-का ज्ञान होने के ये सात करण हैं। यहां 'अहंकार' का बुद्धि में अन्तर्भाव कर सात ज्ञानसाधन करणों का निर्देश है। 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' सन्दर्भ में 'प्राण' पद से ये सात करण ग्राह्य हैं। 'सप्त शीर्षण्याः प्राणाः' [ऐ० आ० १।५।१] वाक्य में इन सात को विशेषित किया गया है, विशेषतया शिरोभाग में रहने से इनका निर्देश है। फलतः ज्ञानसाधन करण सात हैं।

व्याख्याकारों ने सूत्र के 'गति' पद का साधारण 'जाना' अथवा 'उत्क्रमण' अर्थ लेकर बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] के 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इत्यादि सन्दर्भ को इस सूत्र का लक्ष्यप्रदेश माना है, और यह कहा है, कि वहां सात प्राणों के उत्क्रमण [गति–जाने] का निर्देश होने से प्राण सात समझने चाहियें। यह प्रतिपादन कर इसे पूर्वपक्ष का सूत्र कहा है, अगला सूत्र उत्तरपक्ष का। परन्तु सूत्र की ऐसी व्यवस्था चिन्तनीय है। कारण यह है, कि बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] के उक्त सन्दर्भ में आठ करणों का निर्देश है, सात का नहीं। आचार्य शंकर ने इस यथार्थता

पर लीपापोती करने का प्रयास किया है। क्योंकि आचार्य 'बुद्धि' को करण मानने के लिये तैयार नहीं। यद्यपि उपनिषद् में यहां 'मन' और 'विज्ञान' [बुद्धि] का पृथक् निर्देश है, पर सूत्रगत सात [सप्त] संख्या की तुक मिलाने के लिये इन दोनों को एक लिख दिया है[1]। यदि विज्ञानपदवाच्य बुद्धि की यहां उपेक्षा कीजाती है, तो अगले[2]–'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।२] वाक्य की क्या संगति होगी ? जब प्राणी मृत्युशय्या पर होता है, आत्माद्वारा देह छोड़े जाने का समय आता है, तब समस्त करण अपने व्यापार से विरत होकर उस हृदयदेश में सीमित होते हैं, जहां आत्मा का निवास है। तब उस देह में रहते आत्मा का बाह्य संसार से नाता टूट जाता है, उसका देखना, सुनना, सूंघना, बोलना, छूना, चखना, मनन करना, निश्चय करना आदि सब बन्द होजाता है। समस्त करण आत्म-प्रदेश में एकीभूत होजाते हैं। अब आत्मा देह को छोड़ता है।

'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' आत्मा का उत्क्रमण होते ही 'प्राण' उत्क्रमण करजाता है। प्राण का उत्क्रमण होते ही अन्य सब प्राण उत्क्रमण करजाते हैं। यहां विचारणीय है, कि आत्मा के उत्क्रमण पर जिस 'प्राण' का उत्क्रमण बतलाया, वह क्या है ? वह केवल बुद्धितत्त्व होसकता है; समस्त ज्ञान बुद्धिद्वारा आत्मा में समर्पित होते हैं, वह सब प्राणों [करणों] में मुख्य है। उसके उत्क्रमण के साथ समस्त करण उत्क्रमण करजाते हैं। प्रसंगवश यह समझ लेना चाहिये, जैसे राजा की सवारी निकलने पर आगे राजा, पीछे मन्त्री और उसके पीछे अन्य कर्मचारी व प्रजाजन होते हैं; ऐसे ही आत्मा राजा, बुद्धि मन्त्री और अन्य करण प्रजाजन के समान हैं। यद्यपि राजा मन्त्री प्रजाजन जैसे एक दूसरे के आगे पीछे होते हैं, ऐसी पंक्तिबद्धता आत्मा और करणों के निष्क्रमण में नहीं है। आत्मा और समस्त प्राण–करण देह से एक साथ निकलते हैं, इनके देह छोड़ने में एक क्षण के किसी अंश का भी अन्तर नहीं होता। आत्मा जैसे ही देह को छोड़ता है, तत्काल समस्त करण देह को छोड़जाते हैं। प्राण-रूप करणों से आवृत आत्मा एक देह को छोड़ देहान्तर को प्राप्त होता है, यह तथ्य तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में निश्चित किया गया है।

इस विवेचन के अनुसार निश्चित है, कि बृहदारण्यक के उक्त वाक्य [४।४।२]

१. 'नन्वत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम् ? नैष दोषः; मनो-विज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद् वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः' [शां० भा० २।४।६]।

२. सन्दर्भ का पहला भाग है–'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः, एकीभवति न जिघ्रतीत्याहुः, एकीभवति न रसयत इत्याहुः, एकीभवति न वदतीत्याहुः, एकीभवति न शृणोतीत्याहुः, एकीभवति न मनुत इत्याहुः, एकीभवति न स्पृशतीत्याहुः, एकीभवति न विजानातीत्याहुः'।

में 'विज्ञान' [बुद्धि] की उपेक्षा नहीं कीजासकती, अन्यथा उक्त वाक्य में प्रथम 'प्राण' पद का अर्थ संदिग्ध होजायगा। फलतः यहां आठ प्राणों का निर्देश होने से सूत्र के 'सप्त' पद के साथ इसका सामञ्जस्य न होने पर इस सन्दर्भ को सूत्र का लक्ष्यप्रदेश नहीं माना जाना चाहिये। वस्तुतः यहां करणों की संख्या का निर्धारण नहीं है। प्रसंग में 'वाक्' को अन्य कर्मसाधन करणों का उपलक्षण माना जासकता है। इसलिये दो भागों में विभक्त समस्त करणों का निर्देश यहां समझेजाने के लिये कोई बाधा नहीं है; जैसा कि उपनिषदों में अन्यत्र [बृ० ४।५।१२; प्र० ४।८] उपपादन किया है। इस सब विवेचन के परिणामस्वरूप यह निश्चय होता है, कि यह सूत्र पूर्वपक्ष का न होकर सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन करता है। सूत्रकार ने ज्ञानसाधन करणों–प्राणों का यहां निर्देश किया, और कर्मसाधन करणों का अगले सूत्र में ॥५॥

गतसूत्र से ज्ञानसाधन करणों को समझकर शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या करण ज्ञानसाधन के रूप में ही माने जाते हैं, या अन्य भी कोई करण हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

[हस्तादयः] हाथ आदि [तु] तो [स्थिते] स्थित होने पर [अतः] इसलिये [न] नहीं [एवम्] ऐसा। हाथ आदि तो हैं करण, अतः यह स्थित–निश्चित होने पर ऐसा नहीं, कि केवल ज्ञानसाधन करण हैं।

कर्म के साधन हाथ आदि करण शास्त्र में स्वीकार किये गये हैं। बृहदारण्यक [४।४।२] में ज्ञानसाधन करणों के साथ कर्मसाधन करण 'वाक्' का उल्लेख है। अन्यत्र [बृ० ४।५।१२] कर्मसाधन पांचों करणों का उल्लेख हुआ है। इसीप्रकार प्रश्न उपनिषद् [४।८] में समस्त ज्ञान-कर्मसाधन करणों का निर्देश है। कर्मसाधन करण पांच हैं–वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। बाह्य आन्तर भेद से ज्ञानसाधन करणों की सात संख्या में मुख्यप्राण बुद्धि को अहंकार का उपलक्षण मानकर करणों की पूर्ण संख्या तेरह होती है। प्रश्न उपनिषद् [४।८] में एक 'चित्त' नामक करण का यद्यपि पृथक् निर्देश है, पर उसे 'बुद्धि' तत्त्व से अतिरिक्त नहीं समझना चाहिये[1]। तेरह करणों में ग्यारह [दस बाह्य करण एक आन्तर करण मन] की विशिष्ट संज्ञा 'इन्द्रिय' है। इस संज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त अपने विषयों के साथ सीधा संपर्क होना है। सूत्रकारद्वारा बारह प्राणों का निर्देश स्पष्ट होता है–सात प्रथम सूत्र से और पांच कर्मसाधन हस्त आदि प्रस्तुतसूत्र से। इस संख्या में 'अहंकार' को बुद्धि के अन्तर्गत मानलिया गया है, इसलिये

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना–'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ २६१–२६३।

संख्यागत विरोध की इस विषय में आशंका करना निराधार है ॥६॥

आकाश आदि के समान प्राणों का उत्पादक ब्रह्म है, यह निश्चय होजाने पर शिष्य जिज्ञासा करता है, प्राणों का परिमाण क्या होगा ? क्योंकि आकाश आदि पदार्थों में व्यापक और परिच्छिन्न दोनों प्रकार के तत्त्व देखे जाते हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अणवश्च ॥७॥

[अणवः] अणु हैं, [च] और। और प्राण अणु—सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न परिमाण हैं।

सूत्र में 'अणु' पद का अर्थ सूक्ष्म तथा परिच्छिन्न है, परमाणु के समान परिमाण से तात्पर्य यहां नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् [१।५।१३] में कहा—'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' ये प्राण सब बराबर हैं, सब अनन्त हैं। इससे प्राणों का व्यापक होना प्रतीत होता है, तथा चक्षु श्रोत्र नासिका आदि स्थूलरूप में देखे जाते हैं। इसलिये इनके परिमाण में सन्देह की संभावना होसकती है। इसीकारण सूत्रकार ने निर्णय किया, प्राण सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न हैं। चक्षु नासिका आदि देहांग जो दीखते हैं, ये प्राणों—इन्द्रियों के गोलकमात्र हैं, इनके व्यापार में सहयोगी; ये स्वयं इन्द्रिय नहीं हैं। यदि प्राण स्थूल हों, तो मृत्युकाल में देह से निकलने पर दीखने चाहियें। यदि व्यापक हों, तो जीवात्मा के साथ देह से बाहर निकलने का इनका शास्त्रीय उल्लेख असंगत होगा; जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। इसलिये प्राणों को अणु अर्थात् सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न मानना प्रामाणिक है।

बृहदारण्यक के उक्त [१।५।१३] सन्दर्भ में प्राणों के 'सम' होने का तात्पर्य है, कि प्रत्येक प्राणी—देह में अथवा प्रत्येक आत्मा के साथ ये एक दूसरे के सर्वथा समान होते हैं। एक देह में जैसी इन्द्रियां हैं, अन्य समस्त देहों में ठीक वैसी ही इन्द्रियां होती हैं। उनमें परस्पर किसीतरह का कोई रचनाभेद नहीं होता। तात्पर्य यह, कि प्राणों—इन्द्रियों—करणों की समस्त रचना समान है। बाहर से जो भेद कहीं प्रतीत होता है, वह गोलक में विकार होजाने के कारण है। नाना व्यक्तियों में बुद्धि आदि का भेद शरीर में अनेक ग्रन्थियों की विशेष रचना व उनमें विकार के कारण प्रतीत हुआ करता[1] है। आत्मा क्योंकि अनन्त हैं, असंख्यात हैं, अतः उनके साथ सम्बद्ध प्राण भी असंख्यात हैं; यह तात्पर्य उपनिषद् के 'अनन्त' पद का है। इससे करणों की व्यापकता का संकेत नहीं मिलता।

कतिपय व्याख्याकारों ने प्रस्तुत सूत्र को अणुतत्त्वों की ब्रह्म से उत्पत्ति में

---

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखें हमारी रचना—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ २५०—२५४।

लगाया है। जैसे ब्रह्म आकाश आदि स्थूलभूतों का उत्पादक है, वैसे सूक्ष्मतत्त्वों–तन्मात्र आदि का है। ऐसी व्याख्या यहां उत्प्रकरण प्रतीत होती है। स्थूलभूतों की उत्पत्ति सूक्ष्मतत्त्वों की रचना के बिना असंभव है। इसलिये स्थूलभूतों के उत्पादकरूप में ब्रह्म का वर्णन होजाने से सूक्ष्मतत्त्वों का उत्पाद उसमें अन्तर्हित है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जब समस्त प्राण समान हैं, तो बुद्धि को उनमें विशेषता क्यों दीजाती है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

श्रेष्ठश्च ॥८॥

[श्रेष्ठः] श्रेष्ठ है [च] और। मुख्यप्राण बुद्धि श्रेष्ठ है, इसलिये उसे विशेषता दीजाती है।

प्राणविषयक औपनिषद वर्णनों से मुख्यप्राण की श्रेष्ठता अवगत होती है। देह से मुख्यप्राण का उत्क्रमण होने से अन्य प्राणों के उत्क्रमण का वर्णन [बृ० ४।४।२] मुख्यप्राण बुद्धि की श्रेष्ठता को प्रकट करता है। उपनिषद् के अनेक प्रसंग मुख्यप्राण को स्पष्टरूप से श्रेष्ठ वर्णन करते हैं। 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' [छां० ५।१।१], 'अयं वै नः श्रेष्ठः' [बृ० १।५।२१], 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच' [प्र० २।३] इत्यादि। सर्गरचना के अवसर पर सबसे प्रथम उत्पन्न होने के कारण 'बुद्धि' प्राण का श्रेष्ठ माना जाना उपयुक्त है। 'स प्राणमसृजत' [प्र० ६।४], 'एतस्माज्जायते प्राणः' [मु० २।१।३] इत्यादि सन्दर्भों में प्राण की प्रथम उत्पत्ति का पता लगता है।

ऋग्वेद [१०।१२९।२] के 'आनीदवातं स्वधया तदेकं' मन्त्र की 'आनीत्' क्रिया के आधार पर जगद्रचना के पूर्व प्राण की विद्यमानता को मानकर मुख्यप्राण को अनुत्पन्न कहना संगत न होगा। कारण यह है, कि उक्त ऋचा में 'आनीत्' पद सर्ग से पूर्व प्रलयदशा में स्वधा–प्रकृति के साथ एकमात्र ब्रह्म के सद्भाव को प्रकट करता है, किसीप्रकार के 'प्राण' की सत्ता को सूचित नहीं करता। इसलिये प्राण [मुख्यप्राण–बुद्धि] की सर्वप्रथम उत्पत्ति में आशंका करना निराधार है। आकाश आदि तत्त्वों तथा अन्य प्राणों के समान मुख्यप्राण का उत्पादक ब्रह्म है। 'आत्मन एव प्राणो जायते' [प्र० ३।३] इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा-परमात्मा के द्वारा होती है। फलतः मुख्यप्राण की प्रथम उत्पत्ति तथा उसकी श्रेष्ठता निश्चित है।

इसीकारण प्राणसंवाद के अन्त में कहा–'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' [बृ० ६।१।१३] अन्य प्राणों ने मुख्यप्राण से कहा– तुम्हारे बिना हम जीवित न रहसकेंगे। सृष्टिप्रक्रिया में तत्त्वों के कारणकार्यभाव पर ध्यान देने से स्पष्ट होजाता है, कि कार्य की सत्ता कारण बिना नहीं रहती। अन्य करणों–प्राणों की उत्पत्ति में आद्यकार्य महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि-प्राण का सहयोग होने से अन्य प्राणों का अस्तित्व मुख्यप्राण के बिना संभव न होगा; इससे अन्य प्राणों का जीवन मुख्यप्राण पर निर्भर होना स्पष्ट

होता है ॥८॥

प्राणविषयक इतने विवरण को सुनकर शिष्य मुख्यप्राण के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करता है। इन्द्रियों अथवा करणों को प्राण बताया गया। प्राण की श्रेष्ठता के वर्णन में श्वास प्रश्वास तथा देहवर्त्ती अन्य क्रियाओं को भी प्राण अपान व्यान आदि के रूप में प्राण कहा गया। तब सन्देह होता है, मुख्य प्राण का वास्तविक स्वरूप क्या है? आचार्य सूत्रकार ने विषय के विवेचन की भावना से कहा—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

[न] नहीं [वायुक्रिये] वायु और उसका विकार [पृथक्] अलग [उपदेशात्] उपदेश से। मुख्यप्राण न वायुरूप है न वायु का विकाररूप, क्योंकि मुख्यप्राण का वायु से पृथक् उपदेश किया गया है।

साधारणतया लोक में श्वास प्रश्वास आदि को 'प्राण' समझा जाता है। शास्त्रीय विचारों को थोड़ा सुनने समझने वाले कहते हैं, कि प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान के रूप में 'प्राण' शरीर में रहता है। श्वास, प्रश्वास तथा प्राण, अपान आदि सब वायुरूप अथवा वायुक्रियारूप हैं, यह स्पष्ट है। शरीर में ये सब व्यापार इन्द्रियों अथवा करणों के रहते संभव हैं। किसी एक इन्द्रिय के विकृत होजाने पर वह अपने विशिष्ट व्यापार में अक्षम होती है, सामान्य व्यापार—जो समस्त करणों का सांझा व्यापार है—बराबर चलता रहता है। सूत्रकार यह बताना चाहता है, कि श्वास प्रश्वास आदि वायु उसकी क्रिया एवं समस्त करणों की क्रिया मुख्यप्राण नहीं है। बाहर से अन्दर जाने वाले वायु को श्वास और इससे विपरीत को प्रश्वास कहा जाता है, इन्हीं का अथवा इनके विपर्यासित रूप का नाम प्राण अपान है। पर यह वायु शरीर में स्वतः नहीं आता जाता; शरीर में किन्हीं निमित्तों से यह व्यवस्था है, जिसके अनुसार यह आ.पार चला करता है। वे निमित्त हैं 'करण'। शरीर में जब तक उनकी स्थिति है, यह व्यापार चलता है। जैसे श्वास प्रश्वास अथवा प्राण अपान वायुरूप हैं, ऐसे ही व्यान आदि हैं। जब हम कोई ऐसी घटना सुनते हैं, या ऐसे विषय का स्मरण करते हैं, जिससे साहस का कार्य करने की एक स्फूर्ति शरीर में पैदा होती है, वह एक क्षण में सारे शरीर को झनझना देती है। शरीर में ऐसा व्यापार 'व्यान' नामक प्राण का स्वरूप है। उलटी या हिचकी एवं प्राणों का उत्क्रमण 'उदान' नामक प्राण का स्वरूप है। आहार आदि के रसों का शरीर के प्रत्येक अंग में पहुंचाना 'समान' का स्वरूप है।

ये सब तथाकथित प्राण वायुरूप हैं। इनको प्राण इसीलिये कहा जाता है, कि ये 'प्राण' संज्ञक इन्द्रियों अथवा करणों के व्यापार हैं। ये व्यापार एवं इनकी किसी-प्रकार की क्रिया मुख्यप्राण नहीं है। वह इनसे अतिरिक्त है। तेरह करणों में ग्यारह [दस बाह्य साधन चक्षु आदि एक आन्तर साधन=मन] की संज्ञा 'इन्द्रिय' है, शेष अहंकार और

बुद्धि 'करण' है 'इन्द्रिय' नहीं। बुद्धि सबमें प्रधान है, इसलिये समस्त करणों का व्यापार उसके नाम पर वर्णित किया जाता है। इस विवेचन से निश्चित होता है, कि मुख्यप्राण 'बुद्धि' है। उपनिषदों में 'प्राण' पद का प्रयोग मुख्यप्राण, समस्त प्राण, अमुख्यप्राण तथा प्राणव्यापार आदि सभी अर्थों में हुआ है। कहां किस अर्थ में प्रयोग है, इसके विवेक के विना इस विषय के प्रतिपादन में बड़ा घोटाला होता है। प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत मुख्य सन्दर्भों में इसका विवेक ऐसे समझना चाहिये।

'एतस्माज्जायते प्राणः' [मु० २।१।३], 'स प्राणमसृजत' [प्र० ६।४], 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच' [प्र० २।३], 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' [बृ० ४।४।२] इत्यादि सन्दर्भों में 'प्राण' पद मुख्यप्राण का वाचक है। 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।२], यहां 'प्राणम्' पद मुख्यप्राण के लिये तथा 'प्राणाः' पद अमुख्यप्राणों के लिये प्रयुक्त है। ऐसे ही 'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्·····इमान् प्राणान् संववर्ह' [बृ० ६।१।१३] सन्दर्भ में प्रथम 'प्राणः' पद मुख्यप्राण के लिये तथा 'प्राणान्' पद अन्य प्राणों के लिये प्रयुक्त है। बृहदारण्यक के इसी [६।१] ब्राह्मण में 'प्राणन्तः प्राणेन' वाक्यांशों में 'प्राण' पद समस्त प्राणों के लिये आया है। जिस एक प्राण के उत्क्रमण का उक्त प्रसंग में निर्देश है, उसका तात्पर्य उसके विशिष्ट व्यापार को छोड़ देने में है, तथा 'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' सन्दर्भ में भी 'प्राण' पद समस्त प्राणों के लिये प्रयुक्त है। 'प्राणश्च विधारयितव्यश्च' [प्र० ४।८] में प्राण पद का प्रयोग 'प्राण-व्यापार' अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। शरीर का संचालन व धारण समस्त करणों के सामान्यव्यापार के चालू रहते संभव होता है।

'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथ, अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि, इति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः' [प्र० २।३], वरिष्ठ प्राण की यह उक्ति और अन्य प्राणों का उसमें श्रद्धाहीनता को प्रकट किया जाना, उपनिषत्कार की इस भावना को अभिव्यक्त करता है, कि शरीर का धारण यद्यपि समस्त करणों के व्यापार पर निर्भर है, परन्तु उसकी डोर मुख्यप्राण के अधीन रहती है। इसका बराबर ध्यान रखना चाहिये, कि प्रश्न उपनिषद् अथवा बृहदारण्यक के ऐसे प्रसंगों में किसी एक प्राण के उत्क्रमण का निर्देश कर उसके अभाव में भी देह के चालू रहने का जो वर्णन किया गया है, वह उस प्राण [इन्द्रिय] के विशिष्ट व्यापार के अभाव का द्योतक है। इस सब प्रसंग का तात्पर्य 'बुद्धि' तत्त्व को समस्त करणों [प्राणों] में मुख्य बतलाना है। वह आत्मा—राजा के प्रधानमन्त्री के समान है। अन्य समस्त प्राण [इन्द्रिय—करण] अपने विशिष्ट व्यापार से आत्मा का भोग संपन्न करने के लिये लगे हैं, वह सब आत्मा तक पहुंचाने में बुद्धि का विशिष्ट स्थान है। इससे बुद्धि का मुख्यप्राण होना निश्चित होता है। इसीका अन्य नाम 'महत्तत्त्व' है। अन्य करणों—प्राणों के समस्त व्यापार का पर्यवसान इसीमें है। सब मुख्यप्राण का ऐसा कहना उपयुक्त है, कि मैं अपने

प्राण को पांच प्रकार से विभक्त कर उसके सहारे इस शरीर का धारण व संचालन करता हूं [प्र० २।३]। उपनिषद् का यह भाव उसकी मुख्यता को स्पष्ट करता है। फलतः न वह वायुरूप है, न वायुक्रियारूप तथा न समस्त करणों का व्यापाररूप। 'इन्द्रिय' संज्ञक ग्यारह प्राणों [करणों] में भी वह नहीं आता, इसीलिये उपनिषदों के विभिन्न स्थलों में उसका पृथक् निर्देश किया गया है। इसके लिये ये [मु० २।१।३; प्र० ६।४] स्थल द्रष्टव्य हैं।

अध्यात्मशास्त्र के कतिपय प्रसंगों में प्राण को साक्षात् वायु कहा है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण [१।२९।१] तथा ऐतरेय आरण्यक [२।३।३] में बताया—'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' जो प्राण है, वह वायु है, यह वायु पांच प्रकार का है—प्राण अपान व्यान उदान समान। यहां 'प्राण' पद मुख्य-प्राण के लिये प्रयुक्त है, उसे स्पष्ट वायु बताया है। वस्तुतः सूत्रकार के आशय के अनुसार यहां प्राण को औपचारिकरूप से वायु कहा गया है। प्राण अपान आदि वायुरूप हैं, यह निश्चित है। समस्त करणों के ये कार्य अथवा व्यापार हैं, इनके वायुरूप होने पर भी इनके निमित्त करणों—प्राणों के अनुसार जैसे इन्हें 'प्राण' कहदिया जाता है, अर्थात् कारणपद का कार्य के लिये प्रयोग करदिया जाता है; ऐसे ही प्रस्तुत सन्दर्भ में कारण के लिये कार्य-पद का प्रयोग करदिया गया है। उपनिषत्कार का ऐसा प्रयोग इनके निमित्त-नैमित्तिक-भाव को प्रकट करता है, इससे प्राण अपान आदि करणों का व्यापार हैं, यह स्पष्ट होता है। प्राधान्य की भावना से केवल मुख्यप्राण के साथ उस सम्बन्ध का उल्लेख कर दिया है।

छान्दोग्य [४।३।१–४] के 'वायुर्वाव संवर्गः·····प्राणो वाव संवर्गः' इत्यादि सन्दर्भ के आधार पर भी प्राण को वायुरूप समझे जाने का भ्रम होसकता है। 'संवर्ग' का तात्पर्य है—ग्रस्त करलेने वाला, खाजाने वाला, अपने अन्दर समाविष्ट करलेने वाला। प्रलय अवसर आने पर अधिदैवत जगत् में जैसे अग्नि सूर्य चन्द्र जल आदि को वायु खा-जाता है, अपने अन्दर ग्रस लेता है; ऐसे ही अध्यात्म में मुख्यप्राण अन्य प्राणों को ग्रस लेता है। छान्दोग्य के सन्दर्भ का यही तात्पर्य है। यहां 'प्राण' को वायु नहीं बताया गया, उनकी तुलना केवल इस आधार पर है कि कार्य का लय कारण में होजाता है। इस दृष्टि से भी 'बुद्धि' तत्त्व की मुख्यता स्पष्ट होती है। अन्य समस्त करणों—प्राणों का उपादान बुद्धि है। उसका मुख्यप्राण होना स्वाभाविक है। ऐसे अन्य औपनिषद प्रसंगों का यथायथ समाधान करलेना चाहिये ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यह ठीक है, कि मुख्यप्राण 'बुद्धि' तत्त्व न वायुरूप है, न वायुक्रियारूप और न करणों का व्यापाररूप है; पर वह स्वयं करण है, यह कैसे समझा जाय ? साधारणतया चक्षु आदि को करण समझा जाता है, ये आत्मा के लिये भोगादि के साधन हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः ॥१०॥

[चक्षुरादिवत्] चक्षु आदि के समान [तु] तो [तत्सह–शिष्टयादिभ्यः] उनके साथ कथन किये जाने आदि से। मुख्यप्राण बुद्धितत्त्व चक्षु आदि इन्द्रियों के समान करण है, क्योंकि अध्यात्मशास्त्रों में उसका कथन चक्षु आदि करणों के साथ किया गया है।

उपनिषदों के प्राणसंवाद आदि स्थलों में सर्वत्र मुख्यप्राण को चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ वर्णन किया है। इसलिये चक्षु आदि के समान मुख्यप्राण [बुद्धितत्त्व] आत्मा के भोग आदि में उपकरण होता है। छान्दोग्य उपनिषद् [५।१।६] में समस्त प्राणों का एकसाथ वर्णन है। वहां चक्षु वाक् आदि के समान मुख्यप्राण का उल्लेख है। इसके लिये अन्य [छा० १।२।९; बृ० १।३।१९॥४।३।१२॥४।४।२॥ ४।५।१२; प्र० ४।८] प्रसंग भी देखे जासकते हैं।

सूत्र में 'आदि' पद से मुख्यप्राण के संघात और अचेतन होने का संग्रह होता है। प्रत्येक संहत एवं अचेतन पदार्थ आत्मा के भोगादि का साधन होता है। मुख्यप्राण भी संघात है और अचेतन है, इसलिये वह आत्मा के भोगादि का साधन है। चक्षु आदि के समान वह करण है, इसमें सन्देह नहीं ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि मुख्यप्राण चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ पठित होने से इन्द्रियों के समान करण है, तो चक्षु आदि के रूपदर्शन आदि विशेष विषय की तरह उसका भी कोई विषय होना चाहिये। विशेष विषय ग्यारह इन्द्रियों के ग्यारह ही हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥११॥

[अकरणत्वात्] अकरण–अनिन्द्रिय होने से [च] और [न] नहीं [दोषः] दोष, [तथा हि] जैसा कि [दर्शयति] दिखलाता है–बतलाता है शास्त्र। मुख्यप्राण के इन्द्रिय न होने से उक्त दोष नहीं, जैसाकि शास्त्र प्रकट करता है।

सूत्र में 'करण' पद इन्द्रियपरक है। प्रत्येक इन्द्रिय का ग्राह्य कोई विशेष विषय रहता है। जैसे चक्षु का रूपादिदर्शन, घ्राण का गन्धादिदर्शन, मन का स्मृतिज्ञान आदि। मुख्यप्राण इन्द्रिय नहीं है, इसलिये उसका कोई विशेष विषय नहीं होता। चक्षु आदि समस्त इन्द्रियरूप करणों से जो विषय गृहीत होते हैं, उनका यथावत् निश्चयकर मुख्यप्राण [बुद्धितत्त्व] उनको आत्मा के लिये समर्पित करता है आत्मा के साथ सीधा संपर्क बुद्धि का रहता है, अन्य करण जो कुछ आत्मा के लिये करते हैं, वह सब आत्मा तक बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है। यह कार्य अथवा व्यापार बुद्धिरूप मुख्यप्राण का है। इसी-कारण छान्दोग्य उपनिषद् [५।१।६–१२] में बताया–प्रत्येक वाक् आदि इन्द्रिय के अपने कार्य से विरत होजाने पर केवल उस इन्द्रिय के व्यापार के बिना शेष समस्त जीवन-

कार्य देह में पूर्ववत् चलता रहता है। पर मुख्यप्राण जब अपने कार्य से विरत हो देह से उत्क्रमण करने लगता है, तो अन्य समस्त करणों में शिथिलता आजाती है, और शरीरपात का प्रसंग उपस्थित होजाता है। इससे स्पष्ट होता है, कि इन्द्रियों की अपने व्यापार में स्थिति का निमित्त मुख्यप्राण [बुद्धितत्त्व] है, तथा शरीरधारण का भी वह निमित्त है। जीवात्मा जिस सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है, उसके अठारह घटकतत्त्वों में 'बुद्धि' प्रधान है। देह से जीवात्मा के उत्क्रमण के साथ बुद्धि का, और बुद्धि के साथ अन्य समस्त करणों [प्राणों–इन्द्रियों] का उत्क्रमण होता है। देह का धारण, संचालन तथा अन्य समस्त प्राणों के द्वारा ग्रहण किये गये विषयों को अध्यवसायपूर्वक आत्मा तक पहुंचाना मुख्यप्राण [बुद्धि] का विशिष्ट व्यापार है।

बृहदारण्यक [१।३।१९] में कहा–'यरमात्कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' जिस किसी अंग से प्राण निकल जाता है, वह-वह सूख जाता है। अन्यत्र [बृ० ४।३।१२] बताया–'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' प्राण से शरीर की रक्षा करता हुआ। इससे स्पष्ट होता है, कि शरीर का धारण-पोषण तथा इन्द्रियों का अपने व्यापार में अवस्थान प्राणनिमित्तक है। मुख्यप्राण के द्वारा इसकी व्यवस्था होती है। फलतः मुख्यप्राण आत्मा के भोगादिसंपादन में साधन–करण है, यद्यपि वह 'इन्द्रिय' नहीं।

सूत्रपदों का अर्थ इसप्रकार भी किया जासकता है–मुख्यप्राण को करण न माने जाने से [अकरणत्वात्] जो दोष प्राप्त होता है [दोषः], वह अब नहीं होना चाहिये [न]; जबकि मुख्यप्राण को श्रुति साधनरूप से दिखलाती है। 'प्राणेन रक्षन्' [बृ० ४।३।१२], 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति'[छा० १।२।९], घ्राण आदि इन्द्रियां आत्मंभरि हैं, अपने ही विषय को ग्रहण करती हैं, पर मुख्यप्राण सर्वार्थ है, सबके लिये है, इसलिये मुख्यप्राण के अवस्थान से जो खाया पिया जाता है, उससे अन्य प्राणों की रक्षा होती है। तात्पर्य यह, कि मुख्यप्राण के अवस्थान से ही अन्य प्राणों की स्थिति निर्बाध बनी रहती है। आत्मा के लिये होनेवाले इन सब कार्यों के संपादन में मुख्यप्राण साधन है, इसलिये उसे 'करण' माना जाना निश्चित है; भले ही वह 'इन्द्रिय' नहीं है। शास्त्र में उसे 'करण' बतलाये जाने से, करण न होने पर जो दोष प्राप्त होता, वह अब नहीं रहता ॥११॥

इसी अर्थ को पुष्ट करने के लिये आचार्य सूत्रकार ने कहः—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥१२॥

[पञ्चवृत्तिः] पांच वृत्तियों वाला [मनोवत्] मन के समान [व्यपदिश्यते] कहा जाता है, मुख्यप्राण। मनके समान मुख्यप्राण पांच वृत्तियों वाला है, ऐसा कहा जाता है।

मन और मुख्यप्राण [बुद्धि] दोनों का बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं

होता। ज्ञानग्राहक पांच बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जो विषय गृहीत होते हैं, उन्हींका-मनन मनद्वारा तथा निश्चय बुद्धिद्वारा होकर आत्मा के लिये समर्पित कर दिया जाता है। तात्पर्य यह, कि इतने व्यापार के अनन्तर किसी बाह्य विषय की अनुभूति आत्मा को होती है। आचार्य यह प्रकट करना चाहता है, कि पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के अपने पृथक् विशेष विषय हैं, पर यह बात मन और मुख्यप्राण [बुद्धि] के लिये नहीं कही जासकती। इन दोनों का उसी बाह्य अर्थ के साथ संपर्क होपाता है, जो किसी बाह्य इन्द्रियद्वारा गृहीत किया जारहा हो। प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय का अपना नियत विषय है, पर मन और मुख्य-प्राण का व्यापार समानरूप से उन पांचों विषयों में रहता है। इसलिये मन के समान मुख्यप्राण पांच वृत्तिवाला है। जैसे इन्द्रियों से संपृक्त मन उनके द्वारा गृहीत विषय का मनन कर बुद्धि को समर्पित करता है, ऐसे ही बुद्धि [मुख्यप्राण] उसका निश्चय कर आत्मा को समर्पित करता है। यह इन दोनों करणों का व्यापार है। शरीर का धारण संचालन अन्य प्राणों [इन्द्रियों] का पोषण [अपने व्यापार में नियत रहना] आदि जैसे मुख्यप्राण का व्यापार हैं, ऐसे ही पांचों ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत मन से संकल्पित विषय का निश्चय-अध्यवसाय-पूर्वक आत्मा को समर्पित करना व्यापार है। इसके संकेत बृहदा-रण्यक उपनिषद् [१।५।३] में उपलब्ध हैं। फलतः मुख्यप्राण का 'करण' होना, आत्मा के भोगापवर्ग-संपादन में साधन होना सर्वथा प्रामाणिक है।

व्याख्याकारों ने बृहदारण्यक [१।५।३] के आधार पर प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पांच को मुख्यप्राण की वृत्ति बताया है, इसकी समानता के लिये जब मन की इतनी वृत्तियों का कहीं पता न लगा, तो पातञ्जलयोगदर्शनप्रतिपादित प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति इन पांच को मन की वृत्ति बताकर मुख्यप्राण के साथ पांच संख्या की समानता का प्रयास किया। पर यह सब केवल तुक भिड़ाना जैसा प्रतीत होता है। पहली बात यह, कि उपनिषद् के उक्त [बृ० १।५।३] संदर्भ में प्राण अपान आदि पांच का उल्लेख न होकर छह का हुआ है; वहां एक 'अन' नामक वृत्ति का उल्लेख है, जिसकी व्याख्या आचार्य शंकर ने इसप्रकार की है-'अन इत्येषां वृत्तिविशेषाणां सामान्यभूतां मामान्यदेहचेष्टाभिसम्बन्धिनी वृत्तिः'। प्राण अपान आदि विशेष वृत्तियां हैं, एक सामान्यभूत वृत्ति है, जो देह की सामान्य चेष्टाओं [गतियों-हरकतों] के साथ सम्बन्ध रखती है। उपनिषत्कार का तात्पर्य ऐसा प्रतीत होता है, कि मुख्यप्राण की जैसे प्राण अपान आदि वृत्तियां हैं, ऐसे ही देह का संचालन धारण आदि भी उसकी वृत्ति है। जिसका उल्लेख उपनिषत्कार ने 'अन' पद से किया है। अब सूत्र के 'पञ्चवृत्तिः' पद की व्याख्या उपनिषद् के इस सन्दर्भ के आधार पर नहीं कीजानी चाहिये; क्योंकि यहां पांच वृत्तियों का उल्लेख न होकर छठी का भी है।

योगदर्शन के आधारपर मन की पांच वृत्तियां कहना अस्पष्ट है। योग में अन्तः-करण के लिये प्रायः सर्वत्र 'चित्त' पद का प्रयोग हुआ है। इस प्रसंग में भी यही बात है।

फिर ये वृत्तियां न केवल अन्तःकरणों की हैं, प्रत्युत इनके साथ बाह्य ज्ञानेन्द्रियों का भी संग्रह होता है। अन्यथा 'प्रमाण' आदि वृत्तियों को केवल 'मन' का कैसे माना जासकता है ? जबकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाह्येन्द्रियसापेक्ष होते हैं। योगदर्शन में प्रमाण आदि को अन्तःकरण की वृत्ति इस भावना से कहा गया है, कि अन्तःकरण के निरोध से इनका निरुद्ध होना अपेक्षित है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्राणों को गतसूत्र [२।४।७] में अणु–सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न कहा गया है; क्या मुख्यप्राण भी ऐसा ही है ? आचार्य सूत्रकार ने कहा—

अणुश्च ॥१३॥

[अणुः] अणु है [च] और। और मुख्यप्राण अन्य प्राणों के समान अणु है।

अन्य प्राण [समस्त इन्द्रियों] और मुख्यप्राण [बुद्धि] को अणु अर्थात् सूक्ष्म–अतीन्द्रिय माना गया है। इनमें परस्पर कार्यकारणभाव की स्थिति होने पर कारण की अपेक्षा कार्य स्थूल होसकता है, फिर भी समस्त प्राण अतीन्द्रिय रहते हैं। ये सूक्ष्म और परिच्छिन्न हैं, यह तथ्य आत्मा की उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि से स्पष्ट है, जिसका विवेचन प्रथम [ब्र० सू० २।३।१९–३२] कर दिया गया है। संसारदशा में आत्मा समस्त प्राण [करण] और तन्मात्रतत्त्वों से घटित सूक्ष्मशरीर में आवेष्टित रहता है। इसी स्थिति में इसके उत्क्रमण [एक देह को छोड़ देहान्तर में जाना] आदि हुआ करते हैं। मुख्यप्राण और अन्य समस्त प्राणों के सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न बताये जाने तथा आत्मा की उत्क्रान्ति आदि के साथ उनका सम्बन्ध होने से आत्मा के आवेष्टन के रूप में सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व का बोध होता है।

ऋग्वेद की ऋचा [१।१६४।३८] में अमरणधर्मा जीवात्मा के साथ मर्त्य-परिणामी शरीर को 'सयोनि' बताया है, जो प्रत्येक जन्म अर्थात् प्रत्येक स्थूलदेह की प्राप्ति होने पर आत्मा के साथ सम्बद्ध बना रहता है। इसीलिये वह 'शरीर' आत्मा का 'सयोनि' है। वेद के ये पद आत्मा के आवेष्टन सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।६] में एक प्राचीन सन्दर्भ उद्धृत है–'तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य'। यहां 'लिङ्ग' पद लिङ्गशरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर का बोधक है। उस सूक्ष्मशरीर से सक्त–सम्बद्ध–आवेष्टित आत्मा अपने कृतकर्म के साथ जाता है, जिस शरीर में आत्मा का मन–करणसमुदाय–बैठा हुआ है। प्राणों के इस विवेचन से प्रसंगवश सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व ध्वनित होजाता है ॥१३॥

प्राणों की रचना, संख्या, उनके व्यापार एवं मुख्य-अमुख्य होने के विषय में विवेचन किया गया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या ये प्राण देहपात के साथ अपने कारणों में लीन होजाते अर्थात् नष्ट होजाते हैं, अथवा बने रहते हैं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।।१४।।

[ज्योतिरादि] ज्योति आदि [अधिष्ठानं] अधिष्ठान है [तु] किन्तु [तदामननात्] उसके कथन से शास्त्र में। ज्योति आदि प्राणों के अधिष्ठान हैं, इसलिये देहपात के अनन्तर वे बने रहते हैं, शास्त्र में ऐसा कथन है।

सूत्र में 'अधिष्ठानं' पद का अर्थ 'अनुग्राहक' है। यह पद प्राणों के उपादानतत्त्व की ओर संकेत करता है। परब्रह्मद्वारा कीगई रचनाव्यवस्था के अनुसार प्राणों-करणों की रचना ऐसी कीगई है, कि वे संसारदशा में बराबर बने रहते हैं, देहपात के साथ उनका विनाश नहीं होता। सूत्र में 'ज्योतिः' पद 'अग्नि' का पर्याय है, और व्याख्याकारों के अनुसार ऐतरेय उपनिषद् के एक सन्दर्भ [२।४] की ओर संकेत करता है। ज्योति अथवा अग्नि वायु आदि पद परमात्मा और भूततत्त्व दोनों के वाचक होते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में जिज्ञासु का आशय है-शरीरपात होने की दशा के ऐसे वर्णन शास्त्र में उपलब्ध होते हैं, जिनसे शरीर के समान प्राणों का अपने कारणों में लय हो जाना प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण [अ० ६। ख० ६; अथवा पञ्जिका २। ख० ६]के यज्ञिय पशुहोमप्रसंग में पाठ है-'उदीचीनां अस्य पदो धत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्वसृजताद् अन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमिति' यहां शरीर का पृथिवी में लय दिखाये जाने के समान चक्षु घ्राण श्रोत्र आदि प्राणों का लय भी अपने कारणों में दिखाया है। इसीके अनुसार अन्यत्र सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं-'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्··· पृथिवीं ते शरीरम्' तथा 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि···पृथिवीं ते शरीरम्'[1]। यहां भी वही भाव है। चक्षु अन्य समस्त प्राणों का उपलक्षण माना जासकता है। इन प्रमाणों के आधार पर यह सन्देह होता है, कि शरीर के समान प्राणों का भी क्या अपने कारणों में लय उसी समय माना जाना चाहिये, जब देहपात होता है ?

आचार्य के समाधान का आशय है, ज्योति अर्थात् अग्नि आदि जिन उपादानतत्त्वों से परिणत होते हैं, वाक् आदि प्राण भी उन्हीं उपादानतत्त्वों के परिणाम हैं। परब्रह्म की रचनाव्यवस्था के अनुसार वे तत्त्व प्राणों के अनुग्राहक होकर समस्त संसारदशा में उनके अस्तित्व को बनाये रखते हैं। इस अनुग्राहकभाव का कथन शास्त्र में हुआ है। ऐतरेय उपनिषद् [२।४] में बताया-'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इत्यादि। अग्नि वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण [घ्राण] होकर नासाच्छिद्रों में प्रविष्ट हुआ, आदित्य चक्षु होकर आंखों में प्रविष्ट हुआ; इत्यादि कथन का तात्पर्य यही हो सकता है, कि अग्नि आदि पदार्थ वाक् आदि के अनुग्राहक हैं। ब्राह्मी व्यवस्था के अनु-

१. न्यायसूत्र ३।१।२६ के वात्स्यायन भाष्य के आधार पर।

सार प्राणों की ऐसी रचना है, कि ये अपने कारणों के व्यवस्थित रहने से सर्गकालपर्यन्त बने रहते हैं। इस रूप में ज्योति आदि कारणतत्त्वों की अनुग्राहकता को व्यक्त किया गया है। यदि पदों के साधारण अर्थों के अनुसार इसे देखा जाय, और उसीतरह इसको मानने का आग्रह किया जाय, तो इन वाक्यों से किसी वास्तविक अर्थ का समझा जाना कठिन है। अग्नि वाक् होकर मुख में और आदित्य चक्षु होकर आंखों में प्रविष्ट होगया; यदि यही यथार्थ है, तो अग्नि और आदित्य का अन्यत्र अस्तित्व न रहना चाहिये। वस्तुतः ऐसे वर्णन आलंकारिक हैं, किसी भाव को अभिव्यक्त करने का यह एक प्रकार-मात्र है।

इसी सन्दर्भ [ऐ० २।४] में आगे है–'ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्' ओषधि और वनस्पतियां लोम [रोएं] होकर त्वचा में प्रविष्ट होगईं, इसका पदों के साधारण अर्थ को लेकर कोई भाव स्पष्ट नहीं होता। न यहां किसी देवना-विशेष के इस रूप में प्रवेश होने की बात कही जासकती है, जैसा कि प्रायः सब व्याख्या-कारों ने समझा है। इसका यही तात्पर्य प्रतीत होता है, लोमों की रचना में वे तत्त्व अपेक्षित होते हैं, जो ओषधि वनस्पतियों में पाये जाते हैं, तथा अपने उपादानतत्त्वों से इस रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। यदि उन तत्त्वों को देवतारूप में वर्णन किया गया हो, तो कोई आपत्ति की बात नहीं है।

ऐसे ही छान्दोग्य उपनिषद् [३।१८।३] में बताया–'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' वाक् ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह अग्निरूप ज्योति से अभिव्यक्त होता है [भाति], और कार्यक्षम होता है [तपति]। इसी प्रसंग में वाक् के समान प्राण, चक्षु और श्रोत्र को ब्रह्म का चौथा पाद कहा है, और उनका यथाक्रम वायु आदित्य तथा दिशाओं से सामञ्जस्य स्थापित किया है। पहला अध्यात्म और दूसरा अधिदैवत है। प्रस्तुत उपासनाप्रसंग में अध्यात्म एवं अधिदैवत को सन्तुलित किया गया है। यहां यह ध्यान देने की बात है, कि अध्यात्मसृष्टि से अधिभूत अथवा अधिदैव सृष्टि अभिव्यक्त होती है। वाक् आदि अध्यात्म सृष्टि और अग्नि आदि अधिदैव है। प्रत्येक कार्य-परम्परा में उपादानतत्त्वों का अधिकांशिक समान होना आवश्यक है। इससे अध्यात्म-अधिभूत के पूर्ववर्त्ती उपादानतत्त्वों की समानता प्रमाणित होती है। इसी आधार पर इनका [वाक्-अग्नि, चक्षु-सूर्य आदि का] अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव स्पष्ट होता है। फलतः समस्त सर्गकाल में वाक् चक्षु आदि प्राण अग्नि आदित्य आदि के अभि-व्यञ्जक तत्त्वों द्वारा निरन्तर अनुप्राणित रहते हैं, देहपात के साथ इनका विनाश नहीं होता। 'सूर्यं चक्षुर्गं यतात्' इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य इनके अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव को बोध कराने में है, इनके विनाश या लय में नहीं। पिण्ड में ब्रह्माण्ड को सन्तुलित करने की भावना भी ऐसे प्रसंगों में संभव है ॥१४॥

शिष्य आशंका करता है, प्राणों [इन्द्रियों–करणों] की रचना इसप्रकार ऐश्वरी

है, और ईश्वर सर्वत्र व्यापक होने से देहों में भी विद्यमान है; तो करणों द्वारा उसे भोग प्राप्त होना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

[प्राणवता] प्राणवाले के साथ [शब्दात्] शब्द से। प्राणों—इन्द्रियों का सम्बन्ध प्राणवाले के साथ है, यह शब्दप्रमाण से ज्ञात होता है।

पाणिनि आचार्य [५।२।९३] के अनुसार, 'इन्द्रिय' पद का निर्वचन—इन्द्र—आत्मा चक्षु आदि करणों से अनुमित होता है—किया गया है। करण बिना कर्त्ता के नहीं होसकते, इसलिये चक्षु आदि करणों से कर्त्ता जीवात्मा का अनुमान होता है। 'इन्द्र' पद आत्मा का वाचक है, इसलिये इन्द्र के लिङ्ग—अनुमापक होने से चक्षु आदि करण 'इन्द्रिय' कहे जाते हैं। इनके द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं, उनका द्रष्टा आत्मा है। इनकी रचना आत्मा के लिये कीगई है, आत्मा के साथ इनका संपर्क है, आत्मा की सेवा के लिये हैं, इनकी रचना ऐश्वरी होने पर भी ये आत्मा को दे दिये गये हैं। न केवल करण, अपितु समस्त जगद्रचना आत्मा के लिये है। आत्माओं के कर्मानुसार इनके भोगापवर्ग को संपन्न करने के लिये परब्रह्म जगद्रचना करता है, यह अनादि क्रम है। देहों में सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के विद्यमान होने पर भी उसके पाप-पुण्यरूप कर्मों के अभाव में करणों अथवा अन्य साधनों से किसी भोग की प्राप्ति उसे नहीं होती; यद्यपि वह रचना उसकी है।

यह तथ्य शब्दप्रमाणद्वारा प्रमाणित होता है। ऋग्वेद [१।१६४।२०] में कहा—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों में से केवल एक जीवात्मा कर्मानुकूल फलों को भोगता है; अन्य परमात्मा अभोक्ता रहता हुआ सदा प्रकाशित रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् [८।१२।४] में बताया—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः, अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा, गन्धाय घ्राणम्; अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा, अभिव्याहाराय वाक्; अथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा, श्रवणाय श्रोत्रम्' जहां यह कृष्णतारा से उपलक्षित छिद्र जैसा विद्यमान है यह चक्षु है, वहां चक्षुद्वारा देखने के लिये पुरुष अन्य है। जो यह जानता है, कि मैं सूंघूं; वह आत्मा है; गन्धग्रहणव्यापार के लिये घ्राण है। जो जानता है, मैं यह बोलूं, वह आत्मा है; ध्वनिव्यापार के लिये वाक् है। जो यह जानता है, कि मैं सुनूं, वह आत्मा है, श्रवणव्यापार के लिये श्रोत्र है। यहां स्पष्ट ही चक्षु श्रोत्र आदि को आत्मा का करण बताया गया है। फलतः इनका करण-सम्बन्ध जीवात्मा के साथ रहता है, परमात्मा के नहीं; भले ही रमात्मा सर्वान्तर्यामी होने से देहों में विद्यमान रहे। चक्षु आदि करणरूप में जिससे सम्बद्ध हैं, उसीके लिये भोगादि का संपादन करते हैं ॥१५॥

गत दो सूत्रों में प्रतिपादित अर्थ को आचार्य सूत्रकार प्रकारान्तर से पुष्ट

करता है—

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

[तस्य] उसके [च] और [नित्यत्वात्] नित्य होने से। जीवात्मा के नित्य होने से और सर्गकाल में प्राणों–इन्द्रियों के निरन्तर बने रहने से प्राणों का प्राणवाले के साथ सम्बन्ध मरने पर [देहपात होने पर] भी नहीं टूटता।

जीवात्मा एक देह को छोड़कर जब देहान्तर में जाता है, तब उसके साथ करणों के उत्क्रमण का वर्णन शास्त्र में उपलब्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] में बताया–'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' जीवात्मा के देह छोड़ने पर साथ ही मुख्यप्राण देह को छोड़ता है, तत्काल अन्य प्राण देह को छोड़ आत्मा का अनुगमन करते हैं। इससे स्पष्ट है–नित्य आत्मा का करणों के साथ सम्बन्ध समस्त सर्गकाल में निरन्तर बना रहता है। मृत्यु इसमें कोई बाधा नहीं डालता। यह स्मरण रखने की बात है, कि उत्क्रमण आदि जीवात्मा में संभव हैं, परमात्मा में नहीं, इसलिये उत्क्रान्ति आदि के शास्त्रीय प्रसंगों से करणों का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ प्रमाणित होता है, परमात्मा के नहीं।

शरीर से जीवात्मा का उत्क्रमण होने पर समस्त करण उसके साथ चले जाते हैं, इस अर्थ की पुष्टि के लिये प्रश्न उपनिषद् [२।३-४] तथा गीता [१५।८-९] के स्थल द्रष्टव्य हैं ॥१६॥

जीवात्मा के साथ सम्बद्ध प्राणों–करणों का शास्त्रीय व्यवहार में आनेवाला एक विशेष नाम आचार्य सूत्रकार स्वयं बताता है—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

[ते] वे प्राण [इन्द्रियाणि] इन्द्रिय हैं [तद्व्यपदेशात्] उससे अर्थात् इन्द्रिय पद से कथन होने के कारण, [अन्यत्र] अलग–अतिरिक्त [श्रेष्ठात्] श्रेष्ठ से। श्रेष्ठ अर्थात् मुख्यप्राण से अतिरिक्त वे प्राण इन्द्रिय हैं, क्योंकि शास्त्रों में 'इन्द्रिय' पद से उनका कथन किया गया है।

मुख्यप्राण को छोड़कर शेष प्राणों–करणों का एक विशेष नाम 'इन्द्रिय' है। इन करणों की 'इन्द्रिय' संज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त पाणिनिसूत्र [५।२।९३] में निर्दिष्ट है, जिसका उल्लेख गतसूत्र [२।४।१५] की व्याख्या में कर दिया गया है। लोक में चक्षु आदि करणों के लिये 'इन्द्रिय' पद का व्यवहार अतिप्रसिद्ध है। शास्त्र में 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग इनके लिये अनेकत्र हुआ है। ऋग्वेद [३।३७।९] की 'इन्द्रियाणि शतक्रतो ! या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र ! तानि त आ वृणे' ऋचा में चक्षु आदि करणों के लिये 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग हुआ है। केवल ज्ञानेन्द्रियों के निर्देश की भावना से अथर्ववेद

[१६।६।५] में कहा–'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि' छठे आन्तर इन्द्रिय मन के साथ ये पांच इन्द्रियां परब्रह्म परमात्मा ने मेरे हृदय में स्थापित की हैं। यह मन्त्र बाह्य इन्द्रियों के साथ मन की भी 'इन्द्रिय' संज्ञा होना स्पष्ट करता है।

मुण्डक उपनिषद् [२।१।३] में मुख्यप्राण का पृथक् उल्लेख कर आगे सब इन्द्रियों का निर्देश है–'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' चक्षु आदि ज्ञानसाधन तथा वाक् आदि कर्मसाधन समस्त करणों को 'इन्द्रिय' पद से कहा गया है। मन का पृथक् निर्देश यह भेद बतलाने के लिये है, कि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिय हैं और मन आन्तर। मुख्यप्राण–बुद्धि की संज्ञा इन्द्रिय नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि के रूप आदि विशेष विषय और मन के स्मृति विशेष विषय के समान बुद्धि का ऐसा कोई बाह्य विशेष विषय नहीं रहता। इसीकारण मनु आदि धर्मशास्त्रों में 'इन्द्रिय' रूप से ग्यारह करणों–प्राणों का उल्लेख है—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चको गणौ॥ [२।८६, ६०, ६२]

इसप्रकार सूत्रकार ने स्पष्ट किया, कि मुख्यप्राण-बुद्धि के अतिरिक्त शेष समस्त प्राणों–करणों की विशेष संज्ञा 'इन्द्रिय' है, जो शास्त्र एवं लोक में प्रसिद्ध है॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मुख्यप्राण से अतिरिक्त करणों की 'इन्द्रिय' संज्ञा क्यों कही गई? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

भेदश्रुतेः॥१८॥

[भेदश्रुतेः] भेद की श्रुति से! वाक् आदि प्राणों से मुख्यप्राण का भेद शास्त्र में कहा गया है, अतः मुख्यप्राण को छोड़कर शेष की संज्ञा 'इन्द्रिय' निर्धारित की है।

चक्षु आदि से मुख्यप्राण को भिन्न बताये जाने का तात्पर्य यही है, कि 'इन्द्रिय' वर्ग से मुख्यप्राण भिन्न है। वैसे तो इन्द्रियों में भी प्रत्येक इन्द्रिय दूसरे से भिन्न है, पर उनमें कोई ऐसी समानता है, जिसके आधार पर उनका एक वर्ग है। उस वर्ग में मुख्यप्राण नहीं आता। प्रश्न उपनिषद् [२।४] में इस भेद को निम्नप्रकार प्रकट किया है–'वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति' वाक् मन चक्षु आदि प्रसन्न हो प्राण की स्तुतिःकरते हैं। यहां स्तोता वाक् इन्द्रिय आदि प्राण हैं, स्तुत्य मुख्यप्राण उनसे भिन्न है।

बृहदारण्यक [१।३।२] में एक प्रसंग है–'ते ह वाचमूचुः' उन प्राणों [चक्षु

आदि] ने वाक् को कहा, असुरों पर विजय प्राप्त करो, वह पाप से विद्ध होगया, विजय प्राप्त न करसका। इसीप्रकार क्रम से सब प्राण विजय पाने में असफल रहे। इसके अनन्तर सब प्राणों ने मिलकर मुख्यप्राण को कहा–'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' [बृ० १।३।७]; उसने असुरों पर विजय प्राप्त की। यह उपाख्यान मुख्यप्राण को वाक् चक्षु आदि के वर्ग से भिन्न प्रकट करता है। बृहदारण्यक में अन्यत्र [१।५।३] कहा–'श्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' मन वाक् और प्राण को आत्मा के लिये किया। मन आन्तर इन्द्रिय, वाक् समस्त बाह्य इन्द्रियों का उपलक्षण होकर चक्षु आदि सब इन्द्रियों का बोधक है। 'प्राण' पद मुख्यप्राण को कहता है। यहां भी मन और वाक् आदि से इसे भिन्न कहा है। मन और वाक् का पृथक् कथन आन्तर-बाह्यभेद का द्योतक है, तथा प्राण का भिन्न कहा जाना उसके अनिन्द्रिय होने को प्रकट करता है। यद्यपि मुख्यप्राणसहित समस्त प्राणों के आत्मा का 'करण' होने पर भी उक्त भेदश्रुतियों के आधार पर मुख्यप्राण 'इन्द्रिय' वर्ग में नहीं आता ॥१८॥

शिष्य की जिज्ञासा होने पर आचार्य सूत्रकार उस कारण का निर्देश करता है, जिससे मुख्यप्राण 'इन्द्रिय' वर्ग में नहीं आता—

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

[वैलक्षण्यात्] विलक्षण होने से [च] तथा। तथा वाक् आदि से मुख्यप्राण के विलक्षण होने से मुख्यप्राण को छोड़कर अन्य प्राणों की 'इन्द्रिय' संज्ञा कही है।

प्रश्न उपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न में गार्ग्य के पूछने पर महर्षि पिप्पलाद ने कहा–जैसे सूर्य के अस्त होते समय सब किरण उस तेजोमण्डल में एकत्रित होजाती हैं, और उदय होने पर फिर फैल जाती हैं; ऐसे ही सुषुप्ति अवस्था में सब प्राण मन में एकीभूत होजाते हैं। तब पुरुष न सुनता है न देखता है न सूंघता है न चखता है न छूता है न बोलता है न लेता है न चलता है; बस 'सोरहा है' यह कहा जाता है–'स्वपितीत्याचक्षते'। प्राणाग्नि केवल इस शरीर में तब जागते हैं।

यहां प्रकट किया गया–सुषुप्ति दशा में चक्षु आदि इन्द्रियां अपने विशेष विषय रूप आदि के संपर्क से विरत होजाती हैं, अर्थात् तब रूपादिग्रहण व्यापार रुद्ध होजाता है; पर श्वास, प्रश्वास, रक्तसञ्चार आदि के रूप में प्राणव्यापार चालू रहता है, जो समस्त करणों [–प्राणों] का सामान्यव्यापार माना जाता है। इसका नियमन मुख्यप्राण–बुद्धि के अधीन रहता है, इसलिये इस रूप में मुख्यप्राण का जागते रहना आवश्यक है। चक्षु आदि से मुख्यप्राण का यह वैलक्षण्य है। इसी प्रसंग में मुख्यप्राण की ओर से कहा गया–मैं इस देह का धारण करता हूं, इसे थामकर रखता हूं। मुख्यप्राण का वाक् आदि से यह भी एक वैलक्षण्य समझा जाता है, कि वाक् आदि शब्दोच्चारण आदि के हेतु हैं और मुख्यप्राण शरीरधारण का।

पर इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिये, कि सुषुप्ति दशा में वाक् चक्षु आदि इन्द्रियां कहीं चली नहीं जातीं, मन में एकीभूत होने का इतना ही तात्पर्य है, कि अभी तक जैसे वे अपने विषय के साथ सम्बद्ध रहकर उसे मन को समर्पित करती थीं, वह व्यापार बन्द होगया है, उन्होंने विषय-सम्बन्ध को छोड़कर अपने आपको वहां मानो समर्पित कर दिया है। यह किसी विषय के वर्णन करने का एक रुचिपूर्ण ढंग है। वाक् चक्षु आदि विषय को मन में और मन बुद्धि में समर्पित करता है, वह आत्मा को समर्पित कर देती है, यह सब विशिष्टक्रम सुषुप्त दशा में नहीं रहता; यह प्राणों के विशेष व्यापार का अवरोध है, सामान्य व्यापार का नहीं। इसप्रकार श्वास-प्रश्वास आदि के रूप में प्राण-अपान आदि का निरन्तर बना रहना समस्त प्राणों का सामान्य व्यापार है। मुख्यप्राण का किसी विशेष विषय से सीधा सम्बन्ध नहीं होता, जो विषय वाक् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों व मनद्वारा प्राप्त होते हैं, उन्हींको मुख्यप्राण आत्मा के लिये समर्पित करता है। मुख्यप्राण और अन्य प्राणों का यह महत्त्वपूर्ण वैलक्षण्य है। जिन प्राणों का विषय से सीधा सम्बन्ध होता है, जैसे चक्षु आदि का रूप आदि से तथा मन का स्मृति से; उन्हीं प्राणों की संज्ञा 'इन्द्रिय' है। मुख्यप्राण—बुद्धि को छोड़कर अन्य सब प्राणों में यह समानता है; इसीलिये बुद्धि-प्राण 'इन्द्रिय' वर्ग से बाहर रहजाता है। उपनिषदों के उक्त वर्णनों का तात्पर्य बुद्धि-प्राण को मुख्य बतलाना है, जो वास्तविक है॥१९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत प्रकरण में प्राणों की सृष्टि, जीवात्मा की उत्क्रान्ति, तथा उसके साधन सूक्ष्मशरीर की सृष्टि का तथा उसके घटक अवयवों की विशेषता का वर्णन किया गया। पर क्या प्राण आदि के समान स्थूलदेह की सृष्टि भी परब्रह्म परमात्मा करता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

[संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः] नाम और रूप की रचना [तु] तो [त्रिवृत्कुर्वतः] तीनों को मिलाकर बनानेवाले से, [उपदेशात्] उपदेश से। शास्त्रीय उपदेश—वर्णन से ज्ञात होता है, कि नाम और रूप की रचना, तीनों को मिलाकर बनानेवाला करता है।

सूत्र में 'संज्ञा' पद 'नाम' अर्थात् शब्द को और 'मूर्त्ति' पद 'रूप' अर्थात् किसी वस्तु के आकारविशेष को कहता है। समस्त विश्व 'नाम' और 'रूप' दो भागों में विभक्त है। किसी आकार में कोई एक पदार्थ है, जो 'रूप' पद से कहा जाता है, सूत्र में उसके लिये 'मूर्त्ति' पद का प्रयोग किया है; और उस पदार्थ का एक 'नाम' पद है, लोकव्यवहार के लिये; सूत्र में उसके लिये 'संज्ञा' पद दिया है। शास्त्र के प्रारम्भ में 'जन्माद्यस्य यतः' तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' इन दो सूत्रों द्वारा समस्त 'रूप' और 'नाम' की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म बताया है। नामरूपात्मक विश्व के एक अंशभूत उन उपकरणों की उत्पत्ति का उपपादन इस चतुर्थ पाद में किया गया है, जो जीवात्मा के भोगादि संपादन में

साधन हैं। इसी प्रसंग से प्रस्तुत सूत्र में जीवमात्र के स्थूलशरीरों की उत्पत्ति में ब्रह्म कारण कहा है।

यह स्पष्ट है, कि सर्गादिकाल की अमैथुनी सृष्टि में समस्त शरीरों की रचना ब्रह्मद्वारा होती है। अनन्तर सर्गकाल की मैथुनी सृष्टि में भी उसकी व्यवस्थानुसार देहरचना हुआ करती है, स्त्री-पुरुषसंपर्क उस व्यवस्था उस प्रक्रिया का एक अंग है। रज-वीर्य के सम्मिलन के साथ जीवात्मा की उपस्थिति वहां आवश्यक है, अन्यथा वह पूतिभाव [सड़ जाने] से दूषित होकर देहारम्भ में अक्षम होजाता है। ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से उस की सत्ता वहां अनायास सिद्ध है। अतिसूक्ष्म देहारम्भक तत्त्वों के कार्योपक्रम में जीवात्मा की सत्ता अपेक्षित है, क्योंकि वह कार्य [देहारम्भ] उसके लिये होरहा है, उस समस्त व्यवस्था का नियामक परब्रह्म परमात्मा है, और उसकी यह नियामकता मूलभूत परिस्थिति है, इसलिये देह की उत्पत्ति के प्रति उसकी कारणता की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

सूत्र में 'त्रिवृत्कुर्वत्' पद से परब्रह्म का निर्देश है। ब्रह्म के लिये प्रयुक्त किसी नाम-पद को न देकर इस विशेषण पद से उसका निर्देश एक विशिष्ट प्रयोजन को सूचित करता है। जगत् के मूल उपादानतत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् के मिथुनीकरण द्वारा ब्रह्म जगत् को परिणत करता है, इस भाव को अभिव्यक्त करने के लिये सूत्रकार ने उक्त पद का प्रयोग किया। जगत् के मूलभूत तीन तत्त्वों का अन्योन्यमिथुनीकरण 'त्रिवृत्करण' है। इसका कर्त्ता परब्रह्म है। इसलिये विश्व की अन्य रचनाओं के समान स्थूलदेहों की रचना में परब्रह्म कारण रहता है, यह निश्चित है। इसके संकेत उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। छान्दोग्य [६।३।२] में कहा–'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' उस देवता [परब्रह्म] ने ईक्षण किया, इन तीन देवताओं को इस जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट होकर नाम-रूप से व्याकृत करूं। उनमें से एक-एक को लेकर तीनों को तीनों में मिथुनीभूत करूं। ब्रह्म-संकल्पद्वारा प्रकृति से जगद्रचना की यह प्रक्रिया है। देह की रचना में आद्यक्षण से जीवात्मा देहारम्भक तत्त्वों में प्रविष्ट अथवा अन्तर्निविष्ट रहता है। यद्यपि परमात्मा वहां सदा विद्यमान है, पर जीवात्मसम्बन्धी विशेष रचना के कारण यहां उसका 'अनुप्रवेश' कहा गया है। इसका तात्पर्य है–अनुगत प्रवेश, अनुकूल प्रवेश। जीवात्मा के लिये आनुकूल्य इसी दृष्टि से है, कि वह रचना उसके भोगादि की सिद्धि का साधन है।

छान्दोग्य के इस प्रसंग में मूल उपादानतत्त्व 'सत्त्व-रजस्-तमस्' के लिये यथाक्रम 'आपस्-तेजस्-अन्न' पदों का प्रयोग हुआ है। ये पद प्रसंग में अपने भौतिक अर्थ को कहते हुए मूलतत्त्वों का संकेत करते हैं।[1] जैसे परब्रह्म देह आदि मूर्त्ति-रूप की रचना में

१. इसके विशेष विवरण के लिये देखें हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ४९–५० तथा २१३–२१८।

कारण है, ऐसे ही संज्ञा–नाम के प्रादुर्भाव में कारण हैं। ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म है, यह प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में बताया है। वेदों के आधार पर वस्तु–नामों का निर्देशन हुआ, यह मनुस्मृति [१।२१] से ज्ञात होता है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

सर्ग के आदि में वेद-शब्दों से ही सबके नामों और कर्मों का अलग-अलग निश्चय किया गया। उपनिषद् [छा० ८।१४।१] में भी 'नाम' और 'रूप' दोनों का कारण होने के रूप में 'आकाश' पद से ब्रह्म का निर्देश है–'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' आकाश नाम से व्यवहृत वह नाम और रूप का विस्तार करनेवाला है, इनमें अन्तर्यामीरूप से जो व्याप्त होरहा है, वही ब्रह्म है। फलतः ब्रह्म समस्त सूक्ष्म स्थूल रूप एवं नाम का व्याकर्त्ता है, यह सिद्ध होता है ॥२०॥

नाम-रूपात्मक जगत् के चर-अचर देहनिर्माण में परमात्मा कारण है, इस पृष्ठ-भूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, तीन प्रकार के मूल उपादानतत्त्वों से जगद्रचना प्रारम्भ होकर जीवात्माओं के सीधे उपयोग के लिये पांच भूतों के रूप में प्रस्तुत होती है। उस दशा में इस शरीर का आरम्भ क्या पांच भूतों के सहयोग से होता है, या न्यून के ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

[मांसादि] मांस आदि [भौमं] भूमि के विकार अथवा भूमि से पोष्य हैं, [यथाशब्दं] शब्द के अनुसार [इतरयोः] अन्य दोनों के [च] और। देह के मांस आदि धातु भूमि के विकार अथवा पोष्य हैं, और अन्य दोनों [जल–तेज] के विकार व पोष्य शब्दप्रमाण के अनुसार जानलेने चाहियें।

भूमि आदि पांचों भूत त्रिगुण मूलतत्त्व के अन्योन्यमिथुनीकरण के अनन्तर अनेक परिणामस्तरों को पार करते हुए वर्तमान स्थिति में आते हैं। पृथिवी आदि के सहयोग से प्रादुर्भूत ओषधि वनस्पति अन्न फल मूल आदि के आहार से मानव तथा अन्य प्राणियों के देहांगों का विकास व परिपोषण होता है। इसलिये देहों को पांचों भूतों के सहयोग से बना समझना चाहिये। देह की रचना जिस क्षण से प्रारम्भ होती है, उसके उपादानभूत आद्यकण पांचों भूतों के सहयोग से बने हैं, यह प्रमाणित है। अनन्तर शरीर की अभिवृद्धि एवं पुष्टि के लिये जिन पदार्थों का आहार आदि के रूप में उपयोग किया जाता है, वे सब पदार्थ पाञ्चभौतिकरूप हैं। देह के निर्माण व विकास में भौम आदि पदार्थों का उपयोग किस अंश तक है, इसके संकेत शास्त्र में मिलते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् [६।५।१] में कहा–'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः' खाये हुए अन्न का परिणाम तीन

प्रकार का होता है, उसका जो सबसे स्थूलभाग है, वह पुरीष [विष्ठा–मल] होजाता है, जो मध्यम है वह मांस और जो सबसे सूक्ष्म है, वह मन। स्थूलभाग सर्वांश में देह का भाग नहीं बनता, देहरचना की व्यवस्था के अनुसार वह देह से बाहर फेंक दिया जाता है। यह स्थिति देह की पोषक है। सबसे सूक्ष्म भाग मन है, इसका तात्पर्य केवल इतना है, कि वह मन को कार्यक्षम बनाये रखने में सहायक होता है। मन को यहां सब इन्द्रियों का उपलक्षण समझना चाहिये। आहार आदि के न लेने से इन्द्रियां किसप्रकार अपने कार्य में शिथिल होजाती हैं, यह बात छान्दोग्य [६।७।१–४] के उस प्रसंग से स्पष्ट होजाती है, जहां श्वेतकेतु के पन्द्रह दिन तक उपवास का वर्णन है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये, प्राणरूप में वर्णित समस्त इन्द्रिय अथवा करण भूतों का विकार नहीं हैं, आत्मा के भोगादि में साधनरूप से शरीर में रहते हुए इन्हें कार्यक्षम बनाये रखने में भूतों का सहयोग रहता है। निश्चित है, इन्द्रियां देह में रहते हुए देह के अंग नहीं हैं, जैसे कि मांस रुधिर अस्थि आदि अंग हैं। पृथिवी के समान जल रक्त मूत्र आदि तथा तेज अस्थि मज्जा आदि देहांगों की रचना में उपादानरूप से सहयोगी रहते हैं। देहरचना में वायु–आकाश का उपयोग सर्वप्रसिद्ध है। रक्त आदि का संचार मल-मूत्र का निस्सरण तथा ऐसे ही अन्य अनेक कार्य शरीर में वायु की उपादानता को स्पष्ट करते हैं। फलतः शरीर पांचों भूतों के सहयोग से बनता है, यह स्पष्ट होता है ॥२१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि शरीर पाञ्चभौतिक है, तो इसे केवल पार्थिव क्यों कहा जाता है? 'पृथिवीं ते शरीरम्' इत्यादि सन्दर्भों से शरीर का पार्थिव होना प्रतीत होता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

[वैशेष्यात्] विशेषता से [तु] तो [तद्वादः] वह कथन है, अथवा उसका कथन है। देह के पाञ्चभौतिक होने पर भी पार्थिव कथन तो पृथिवी भाग की अधिकता के कारण है।

देह की रचना में पार्थिव तत्त्वों का अंश अधिक रहता है, इसकारण कतिपय स्थलों में देह को पार्थिव कहदिया गया है। वस्तुतः देह की रचना में पांचों भूतों का भाग है। सूत्र में 'तद्वादः' पद का दो वार पाठ अध्याय की समाप्ति का द्योतक है ॥२२॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत'छाता'वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपावाब्जसेवालब्धविद्योदयेन बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत–'बनैल'–ग्रामवास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना उदयवीर शास्त्रिणा समुद्भाविते वैयासकिब्रह्मसूत्राणां 'विद्योदय' भाष्ये अविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ।

पहले समन्वयाध्याय में जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है, वही जिज्ञास्य है, इस विषय का प्रतिपादन सम्बद्ध शास्त्रीयसन्दर्भों के समन्वयपूर्वक किया गया। जगत् के कारण के विषय में श्रुति एवं स्मृति के आधार पर आपाततः प्रतीयमान विरोध का विस्तार के साथ परिहार विवेचनपूर्वक दूसरे अविरोधाध्याय में किया गया। यह तृतीय साधनाध्याय प्रारम्भ होता है। ब्रह्मज्ञान के लिये जो साधन बताये गये हैं, उनका शास्त्रानुसार यहां प्रतिपादन व विवेचन है। उसके प्रस्तुत करने में अपेक्षित जीवात्मा के परलोक गमनागमन का प्रथम निर्देश आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, गतप्रकरण में बताया गया, कि जीवात्मा का देह से उत्क्रमण होने पर प्राणरूप से वर्णित समस्त करण उसके साथ उत्क्रान्त होजाते हैं। क्या उनके साथ उत्क्रमण में और भी कोई तत्त्व रहते हैं, अथवा केवल करणों का उत्क्रमण आत्मा के साथ होता है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

[तदन्तरप्रतिपत्तौ] देहान्तर की प्राप्ति में [रंहति] जाता है (जीवात्मा), [संपरिष्वक्तः] लपेटा हुआ, [प्रश्ननिरूपणाभ्याम्] प्रश्न और निरूपण (प्रतिवचन–उत्तर) से। प्रश्न और उत्तर से यह ज्ञात होता है, कि जीवात्मा एक देह को छोड़कर दूसरे देह को प्राप्त करने में सूक्ष्मशरीर से लपेटा हुआ जाता है।

सूत्र का 'तत्' पद गतप्रकरण में 'संज्ञा-मूर्ति' पदों से कहे गये स्थूलदेह का परामर्श करता है। 'प्रतिपत्ति' पद का अर्थ 'प्राप्ति' है। 'अन्तर' पद भेद का वाचक है। 'देहभेद की प्राप्ति में' [तदन्तरप्रतिपत्तौ] पदों का तात्पर्य है–जब जीवात्मा मृत्यु के अवसर पर एक देह को छोड़ जन्म-रूप में दूसरे देह को प्राप्त करता है; तब एक देह से दूसरे देह तक जाने की दशा में जीवात्मा अकेला नहीं जाता, उसके साथ 'प्राण'[1] जाते हैं, यह स्पष्ट कर दिया गया है। बिना किसी आश्रय के प्राण रह नहीं सकते, इसी

१. **गत प्रकरण में समस्त 'करणों' का 'प्राण' पद से प्रतिपादन किया गया है। 'करण' तेरह हैं–दस बाह्येन्द्रिय; मन, अहंकार, बुद्धि तीन अन्तःकरण। अहंकार की गणना बुद्धि से पृथक् न करने पर करण बारह होते हैं। इस प्रसंग में करणों के लिये 'प्राण' पद का प्रयोग है। पाठक इसका अन्य अर्थ न समझें।**

अभिप्राय से जिज्ञासा है, कि उत्क्रमण की दशा में कौन ऐसे तत्त्व रहते हैं, जहां आश्रित रहकर प्राण आत्मा के उत्क्रमण में सहयोगी बनते हैं ?

सूत्रकार ने 'प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' पद से छान्दोग्य के एक प्रसंग का संकेत किया है, जिससे उक्त जिज्ञासा का समाधान होता है। स्नातक श्वेतकेतु पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण की राजसभा में जाता है। उचित आदर सत्कार के अनन्तर राजा श्वेतकेतु से प्रश्न करता है–'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [छा० ५।३।३] ? क्या तुम जानते हो, जैसे पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन [पुरुष पद से कहेजाने योग्य] होजाते हैं ? आगे द्यौः मेघ, पृथिवी, पुरुष, स्त्री इन पांच अग्नियों में यथाक्रम श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्य यह पांच आहुति दिखलाकर उत्तररूप में कहा है–'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [छा० ५।९।१] इसप्रकार पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवाचक होजाते हैं।

उक्त दोनों–प्रश्न और उत्तर के–सन्दर्भों में 'आपस्' पद प्राणों के आश्रयभूत 'कारणशरीर' का वाचक है, आश्रित और आश्रय दोनों से घटित सूक्ष्मशरीर[1] जीवात्मा का आवेष्टन है। इससे आवेष्टित जीवात्मा एक देह को छोड़ गति के विभिन्न स्तरों को पार करता हुआ माता के गर्भ में पहुंचता है, वह उस अन्तराल गति का पांचवां स्तर है; वहां जीवात्मा से युक्त वह आवेष्टन स्थूलदेह प्राप्त कर पुरुषवचन [पुरुष पद से कहे जाने योग्य] होजाता है।

गत प्रकरण में आत्मा की उत्क्रान्ति के साथ प्राणों की उत्क्रान्ति का उपपादन होचुका है। उसीमें अपेक्षित अवशिष्ट अंश का यहां निर्देश है। प्राण कभी निराश्रित नहीं रहसकते, उनका आश्रय पांच सूक्ष्मभूतों से निर्मित वह शरीर है, जिसे 'कारण-शरीर' कहाजाता है। इसमें समस्त प्राण आश्रित रहते हैं। इस पूरे समुदाय का नाम 'सूक्ष्मशरीर' है। इसकी रचना सर्ग के आदिकाल में होजाती है, वह आत्मा के आवे-

१. **सूक्ष्मशरीर के घटक अठारह तत्त्व हैं–तेरह करण [दस बाह्यकरण पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय, तीन अन्तःकरण मन, अहंकार, बुद्धि] तथा पांच सूक्ष्मभूत। अहंकार को बुद्धि से अलग न गिनकर इनकी संख्या सत्रह रहती है। इनमें करण आश्रित हैं, तथा सूक्ष्मभूत उनके आश्रय। जब आश्रित की प्रधानता [मुख्यता] का निर्देश करना अपेक्षित हो, तो इसे 'लिङ्गशरीर' कहाजाता है, क्योंकि 'करण' आत्मा के लिङ्ग होते हैं। जब आश्रय की प्रधानता अपेक्षित हो, तो इसे 'कारण-शरीर' कहते हैं। क्योंकि सूक्ष्मभूत करणों की स्थिति के आश्रय-कारण हैं। विभिन्न प्रसंगों में 'सूक्ष्मशरीर' के लिये ही इन पदों का प्रयोग होता रहता है। इस विषय के अधिक विवेचन के लिये देखें हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ १०८–११०; २६८–२७९; ४४१–४४३; ४६८–४७०।**

ष्टन के रूप से समस्त सर्गकाल में बराबर बना रहता है। तात्पर्य यह, कि प्राणों के आश्रय पञ्चसूक्ष्मभूतात्मक देह से आवेष्टित जीवात्मा का उत्क्रमण हुआ करता है। आत्मा के उत्क्रमण में प्राणों के साथ पांच सूक्ष्मभूतों का सहयोग प्रस्तुत सूत्र से बताया गया है, जो अपेक्षित था। छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भों में 'आपस्' पद से उसका निर्देश है।

यद्यपि जीवात्मा समस्त सर्गकाल में इन तत्त्वों से आवेष्टित रहता है, पर स्थूलशरीर में रहते हुए प्राणों का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। एक देह से देहान्तर में जाने तक भी आत्मा उक्त तत्त्वों से आवेष्टित रहता है, यहां इतना बताना अभीष्ट है। यदि आत्मा उस दशा में इनसे आवेष्टित न रहता होता, तो उत्तररूप में प्रश्न और उत्तर का होना अयुक्त होता। पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन कैसे होते हैं ? यह प्रश्न है; और उसको बताकर–ऐसे होते हैं; यह उत्तर है। यदि उस दशा में 'आपस्' का सम्पर्क जीवात्मा से न होता, तो ये प्रश्न-उत्तर असंगत रहते। यदि स्थूलदेह के समान सूक्ष्मदेह भी तथाकथित जन्म के अवसर पर उत्पन्न होजाता है, ऐसा मानलिया जाय; तो आत्मा के उत्क्रमण में उसका कोई आवेष्टन मानना अनावश्यक होगा। ऐसा विचार ठीक नहीं; क्योंकि आत्मा का कोई कार्य प्रकृतिसहयोग के विना संभव नहीं होता। तब स्थूलदेह छोड़ने पर आत्मा के साथ किसीतरह का प्राकृतिक संपर्क न रहने से आत्मा का एक देह से देहान्तर में उत्क्रमण असंभव होगा। इसलिये आत्मा सर्गकाल में सूक्ष्मभूतनिर्मित देह से निरन्तर आवेष्टित रहता है, यह मानना आवश्यक है। तब स्थूलदेह से सम्बद्ध दशा के समान असम्बद्ध दशा में भी आवेष्टन बना रहता है, यह निश्चित है।

लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर नामक आत्मसम्बन्धी आवेष्टन केवल कल्पनामूलक नहीं है, अध्यात्मशास्त्र में इसका वर्णन उपलब्ध होता है। इस विषय में बृहदारण्यक [४।४।६] का सन्दर्भ विचारणीय है। ऋग्वेद की एक ऋचा [१।१६४।३८] में भी इसका संकेत मिलता है। इसका प्रथम [अ० सू० २।४।१३ पर] उल्लेख करदिया गया है ॥१॥

शिष्य आशंका करता है, एक देह से देहान्तरप्राप्ति के लिये गति करने में जीवात्मा सूक्ष्मशरीर अथवा कारणशरीर या लिङ्गशरीर से आवेष्टित रहता है; इस विषय में 'प्रश्ननिरूपणाभ्यां' जो हेतु दिया गया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि छान्दोग्य के उक्त पञ्चाग्निविद्या प्रसंग में आत्मा के किसी आवेष्टन का कोई निर्देश नहीं है। वहां केवल इतना है, कि पांचवीं आहुति योषित् में दीजाने पर 'आपस्' पुरुषवचन होजाते हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥२॥

[त्र्यात्मकत्वात्] त्रिरूप–तीन रूप होने से [तु] किन्तु [भूयस्त्वात्] बहुत

होने के कारण। किन्तु आवेष्टन के त्रिरूप होने से और निर्देशवाक्य में आहुतियों के 'आपस्-बहुल' होने के कारण वहां पठित 'आपस्' पद उस सूक्ष्म आवेष्टन का द्योतक है।

वह आवेष्टन त्र्यात्मक–त्रिरूप है–आन्तरकरण, बाह्यकरण, सूक्ष्मभूत; इन तीन रूपों में आवेष्टन परिनिष्ठित है। इनमें सूक्ष्मभूत अन्य दो के आश्रय होते हैं; तथा वे दोनों आश्रित। आश्रयरूप सूक्ष्मभूत ही वस्तुतः वह आवेष्टन है, जिसे 'सूक्ष्मदेह' कहा जाता है। एक देह को छोड़कर दूसरे देह में पहुंचने के लिये जीवात्मा की गति के स्तरों को पांच आहुति के रूप में वर्णन किया है। वे आहुति 'आपस्' रूप हैं, 'आपस्' पद जल का पर्याय है। जल द्रव अथवा तरल होते हैं, आहुति द्रव अथवा द्रव-बहुल होने से 'आपस्' पद द्वारा निर्दिष्ट हैं, वह पद उन समस्त सूक्ष्मभूतों को अभिलक्षित करता है, जो आत्मा की उस गति में आधाररूप हैं। तात्पर्य यह है, आत्मा के उत्क्रमण-अवसर की गति का पांच आहुतियों के रूप में वर्णन किये जाने से तथा आहुतियों के अप्-बहुल होने से उस त्रिरूप आवेष्टन को छान्दोग्य के उक्त [५।३।३॥५।९।१] प्रसंग में 'आपस्' पद से निर्दिष्ट किया गया है, यह निश्चित है। इससे यह समझना अयुक्त होजाता है, कि छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में जीवात्मा के आवेष्टनरूप सूक्ष्मदेह का कोई संकेत या निर्देश नहीं है। फलतः छान्दोग्य के उक्त प्रश्न-प्रतिवचनरूप में वर्णन से सिद्ध है, कि जीवात्मा देहान्तरप्राप्ति में सूक्ष्मदेह से आवेष्टित रहता है ॥२॥

इसी विषय में सूत्रकार ने गतप्रकरण की कही बात का स्मरण कराया—

प्राणगतेश्च ॥३॥

[प्राणगतेः] प्राणों की गति से [च] भी। आत्मा के देहान्तरगमन में साथ-साथ प्राणों की गति से भी आत्मा का सूक्ष्मभूतमय आवेष्टन सिद्ध होता है।

गतप्रकरण में यह स्पष्ट किया, कि आत्मा के देहान्तर उत्क्रमण में प्राण साथ जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।२] में बताया–'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' जीवात्मा जब एक देह को छोड़ देहान्तर में जाता है, तब समस्त प्राण उसके साथ जाते हैं। प्राण कभी निराश्रित नहीं रहसकते, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्राणों की गति आश्रय के विना संभव नहीं। इससे स्पष्ट होजाता है, कि प्राणों [आन्तर-बाह्य करणों] का आश्रयरूप भूतसूक्ष्ममय देह उस गति में आवश्यक सहयोगी है। इन आश्रित और आश्रय का समुदाय सूक्ष्मदेह है, उससे संपरिष्वक्त–आवेष्टित जीवात्मा सर्गकाल में निन्तर गति कर रहा है, यह कथन सर्वथा युक्त है ॥३॥

शिष्य आशंका करता है, देहपात होने [मृत्यु के अवसर] पर वाक् आदि प्राण तथा देह का लय अग्नि आदि में बताया है। जब प्राण अग्नि आदि में यहीं लीन होजाते हैं; तब उनका आत्मा के साथ गमन कैसे संभव है? आचार्य सूत्रकार ने आशङ्कानिर्देश-

पूर्वक समाधान किया—

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

[अग्न्यादिगतिश्रुतेः] अग्नि आदि में गति–लय सुने जाने से [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो यह ठीक) [न] नहीं, [भाक्तत्वात्] गौण होने से। अग्नि आदि में वाक् आदि प्राणों की गति बताये जाने से प्राणों का आत्मा के साथ गमन असंगत है, ऐसा कहना ठीक न होगा; क्योंकि इस विषय में लय का कथन गौण है।

आत्मा के उत्क्रमण के साथ प्राणों का उत्क्रमण जो गतसूत्र में निर्दिष्ट किया गया, वह युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, कि मृत्यु के अवसर पर वाक् आदि प्राणों की गति अग्नि आदि में शास्त्रद्वारा बताई गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।२।१३] में निर्देश है–'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं' जब इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में चली जाती है, लीन होजाती है; प्राण वायु में और चक्षु आदित्य में। यहां देहपात के अनन्तर पुरुष के वाक् आदि प्राणों का लय अग्नि आदि में बताया गया है। तब यह कैसे संभव होसकता है, कि प्राण आत्मा के साथ उत्क्रमण करते हैं? प्राणों का उत्क्रमण न होनेपर उनके आश्रयरूप सूक्ष्मभूतमय देह का उत्क्रमण भी अनपेक्षित है, तब यह कथन निराधार रहजाता है, कि सूक्ष्मदेह से आवेष्टित आत्मा का उत्क्रमण होता है।

आचार्य समाधान करता है, बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में वाक् आदि प्राणों का अग्नि आदि में लय का वर्णन गौण है। जिस गुणविशेष के कारण कोई शब्द अपने मुख्य अर्थ से हटा दिया जाता है, उसे 'भक्ति' कहते हैं। भक्ति से अर्थप्रतिपादन में प्रवृत्त पद 'भाक्त' कहा जाता है। गुणविशेष के आधार पर उसे 'गौण' कहते हैं। पुरुष के जीवनकाल में अग्नि आदि, वाक् आदि प्राणों को अपने-अपने विषय के प्रकाशन की शक्ति का अभिव्यञ्जक होने से अनुगृहीत करते हैं। देहपात होने पर प्राण आत्मा के साथ उत्क्रमण कर जाते हैं, तब यह भूतानुग्रह स्वतः निवृत्त होजाता है। इस अनुग्रह-निवृत्तिरूप गुण की अपेक्षा से यह कहा जाता है, कि वाक् आदि प्राण अग्नि आदि में चले जाते हैं। अनुग्रह की निवृत्ति को वाक् आदि का अग्नि आदि में लय कह दिया गया है।

यह तथ्य बृहदारण्यक के इसी सन्दर्भ के अगले अंश से स्पष्ट होजाता है। आगे कहा–'आकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः' आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में चले जाते हैं, लीन होजाते हैं। यदि यह सब कथन भाक्त न होकर मुख्य होता, तो आत्मा का आकाश में लय नहीं कहा जासकता था। आत्मा नित्य चेतनतत्त्व है, उसका लय कहीं संभव नहीं; फिर आकाश जड़ में लय कहना तो सर्वथा असंगत होता। ऐसे ही लोमों का ओषधियों में और केशों का वनस्पतियों में लय कहा; लोम और केश किसीप्रकार ओषधि वनस्पतियों में लीन होजाते हों, यह असंभव है।

इसलिये यह कथन निश्चितरूप से भाक्त है। एक सन्दर्भ में आधा कथन भाक्त हो और आधा मुख्य, ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं। इसलिये उक्त सन्दर्भ का समस्त कथन गौण है, यही समझना चाहिये। फलतः प्राणविशिष्ट सूक्ष्मदेह से आवेष्टित जीवात्मा का उत्क्रमण होता है, इसमें कोई दोष नहीं ॥४॥

शिष्य पुनः आशंका करता है, आत्मा की देहान्तर गति के आहुतिरूप में जो पांच स्तर बताये गये, वहां प्रथम आहुति में सूक्ष्मदेह के द्योतक 'आपस्' का होमद्रव्य के रूप में उल्लेख नहीं है; तब–पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन होजाते हैं–यह कथन ठीक नही रहता। जब यह प्रश्न–प्रतिवचनरूप हेतु ठीक न रहा, तो उसका साध्य–आत्मा संपरिष्वक्त गति करता है–निर्हेतुक होने से असिद्ध होगा ? आचार्य सूत्रकार ने आशंका-निर्देशपूर्वक समाधान किया—

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

[प्रथमे] पहले में [अश्रवणात्] न सुने जाने से [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [ताः] वे [एव] ही [हि] क्योंकि [उपपत्तेः] उपपन्न–सिद्ध होने से। प्रथम आहुतिस्तर में 'आपस्' का श्रवण नहीं है, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वहां प्रथम आहुति से वे 'आपस्' ही सिद्ध होते हैं।

छान्दोग्य [५।४।१-२] के पञ्चाग्निविद्याप्रसंग में द्युलोक आदि पांच अग्नियों की कल्पना कर उनमें होम्य द्रव्यरूप से श्रद्धा आदि का निर्देश किया है–'असौ वाव लोको गौतमाग्निः,···तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' राजा प्रवाहण ने आरुणि गौतम को कहा–हे गौतम ! वह लोक [द्युलोक] अग्नि है। उस अग्नि में देव श्रद्धा को होमते हैं। इस प्रथम आहुति में होम्य द्रव्य 'श्रद्धा' कहा है, वह 'आपस्' नहीं है, द्रवरूप नहीं है। तब पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन होजाते हैं, यह कथन संगत नहीं कहा जासकता। आस्तिकभाव से युक्त बुद्धि का नाम श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा का द्रवरूप [आपस्] होना संभव नहीं। इसप्रकार पांचवीं आहुति में 'आपस्' के पुरुषवचन होने का प्रश्न-प्रतिवचनरूप वर्णन असंगत होगया, तब उसके आधार पर जीवात्मा देहान्तर-गमन में सूक्ष्मभूतों से संपरिष्वक्त रहता है, यह कैसे सिद्ध होगा ?

आचार्य ने समाधान किया, प्रथम आहुति में होम्य द्रव्य 'आपस्' नहीं बताया गया, यह कथन अयुक्त है। क्योंकि वहां 'श्रद्धा' पद से 'आपस्' ही उपपन्न–सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह, कि जहां जो शब्द जिस अर्थ को प्रकट करने के अभिप्राय से प्रयुक्त किया जाता है, वहां उसका वही अर्थ समझना चाहिये, यह एक व्यवस्था है। ऋग्वेद [९।४६।४] में एक ऋचा का अंश है–'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' यद्यपि 'गो' पद के पृथ्वी, एक पशु आदि अनेक अर्थ हैं, पर उक्त वाक्य में 'गो' पद का प्रयोग गाय के विकार दूध के अर्थ में किया गया है–सोम को दूध के साथ पकावें। यहां 'गो' पद का अन्य कोई

अर्थ नहीं लिया जासकता [निरु० २।५]। तथा जैसे 'गङ्गायां गुरुकुलम्' लौकिक वाक्य में 'गंगा' पद 'गंगातट' का वाचक है; ऐसे ही छान्दोग्य के उक्त सन्दर्भ में—जब यह कहा गया, कि—पांचवीं आहुति में 'आपस्' पुरुषवचन होजाते हैं, तो प्रथम आहुति को 'आपस्' रूप मानाजाना चाहिये। छान्दोग्य सन्दर्भ के उपक्रम और उपसंहार में समान कथन है, उसमें किसी व्यतिक्रम की संभावना नहीं होसकती।

उक्त प्रसंग में 'आपस्' पद सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित जीवात्म-पुरुष का निर्देश करता है। देह को छोड़कर जीवात्मा जिस भावना को लेकर चलता है, उसका श्रद्धामय आहुति के रूप में वर्णन किया—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' [गी० १७।३]। मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जो श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है। मृत्युकाल की भावना को गीता के एक अन्य [८।६] श्लोक में कहा है—'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' अपने जन्मभर के कार्यों के अनुसार अन्तकाल में जो भावना प्रबल होकर उभर आती हैं, उन्हींके अनुसार वह देहान्तर को प्राप्त होता है। इसीका मूल छान्दोग्य [३।१४।१] में कहा—'यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' जैसे कार्य पुरुष इस लोक [देह] में करता है, उसके अनुसार यहां से छोड़कर होता है। ऐसी भावनाओं के अनुसार 'आपस्' पदवाच्य सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित पुरुष की गति के प्रथम स्तर को 'श्रद्धा' रूप आहुति कहकर वर्णन किया गया है। फलतः 'श्रद्धा' पद से 'आपस्' का ही कथन होता है। अन्यत्र [तै० ब्रा० ३।२।४] स्पष्ट 'श्रद्धा' को 'आपस्' बताया है—'श्रद्धा वा आपः'। इस सब विवेचन से सिद्ध है—जीवात्मा देहान्तरप्राप्ति में सूक्ष्मदेह से संपरिष्वक्त [आबद्ध—आवेष्टित] हुआ गति करता है ॥५॥

शिष्य आशंका करता है, छान्दोग्यवर्णित पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में केवल सूक्ष्मदेह [आपस्] की गति का निर्देश है, वहां आत्मा का उल्लेख नहीं है, तब यह कैसे निश्चय किया जाय, कि वहां सूक्ष्मदेह से संपरिष्वक्त जीवात्मा की गति का वर्णन है? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

[अश्रुतत्वात्] न सुना हुआ होने से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [इष्टादिकारिणाम्] इष्ट आदि कर्म करनेवालों की [प्रतीतेः] प्रतीति से—सम्बन्ध से। पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में आत्मा का श्रवण न होने से जीवात्मा सूक्ष्मदेह से बंधा हुआ गति नहीं करता, ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इष्ट आदि कर्म करने वालों की गति का जो परिणाम कहा है, वही पञ्चाग्निविद्या में है, उस सम्बन्ध से पञ्चाग्निविद्या में आत्मा की गति के कथन का निश्चय होता है।

पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में प्रश्न-प्रतिवचनद्वारा सूक्ष्मदेहवाच्य 'आपस्' की गति

का उल्लेख है, वहां आत्मा का नाम नहीं सुना जाता। तब उसके आधार पर यह कैसे कहा जासकता है, कि सूक्ष्मदेह से आवेष्टित जीवात्मा गति करता है ? इसलिये गतसूत्र-द्वारा 'रंहति संपरिष्वक्तः' कथन असंगत होजाता है।

आचार्य ने कहा, ऐसा समझना ठीक नहीं, क्योंकि आगे छान्दोग्य [५।१०।३] में इसी प्रकरण में कहा गया, कि जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम का पालन करते हुए वेद-वेदाङ्ग आदि विद्याओं का अध्ययन कर अग्निहोत्र आदि कर्म, विद्यालय चिकित्सालय अतिथिशाला आदि की स्थापना तथा विविध प्रकार के अन्य दान आदि कर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे पितृयाण मार्ग से गति करते चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। इनके विषय में कहा—'एष सोमो राजा' [छा० ५।१०।४] एकवचन जाति के अभिप्राय से है। ये सब सोम राजा बन जाते हैं। अर्थात् चन्द्रलोक में भोगों को उपभोग करने योग्य दिव्य देहों को धारण करलेते हैं। कर्मानुसार उनको वैसे देह प्राप्त होते हैं, वैसी योनियों में वे जन्म लेते हैं। इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्माओं की गति का यहां जो परिणाम कहा; वही पञ्चाग्निविद्या में प्रथम आहुति का है—'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति' [छा० ५।४।२] उस द्युलोकरूप अग्नि में जब देव श्रद्धा को होमते हैं, तब उस आहुति से सोम राजा प्रादुर्भूत होजाता है। इसप्रकार इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्माओं को जो सोम राजा बनना कहा है, वही द्युलोक में श्रद्धा आहुति का फल बताया है। दोनों के इस समान फल-सम्बन्ध से स्पष्ट होता है, कि इष्टादिकर्त्ता जीवात्माओं के समान पञ्चाग्निविद्यावर्णित प्रथमाहुतिरूप में सूक्ष्मदेह से आवेष्टित जीवात्मा वहां जाता है, केवल 'आपस्' पदवाच्य सूक्ष्मदेहमात्र नहीं। इससे गतसूत्र का 'रंहति संपरिष्वक्तः' कथन सर्वथा निर्दोष है ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, इष्ट आदि कर्म करने वाले व्यक्तियों को तो चन्द्रलोक अवस्था में पहुंचने पर 'देवों का अन्न', 'देवों का भक्ष्य' बताया गया है; तब उन्हें कर्म-फलभोग वहां प्राप्त होता है, यह कैसे कहा जासकता है ? सूत्रकार ने समाधान किया—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॥७॥

[भाक्तं] गौण [वा] तो [अनात्मवित्त्वात्] आत्मवित्—आत्मज्ञानी न होने से [तथा] वैसा [हि] निश्चय से [दर्शयति] दिखलाता है। अन्न या भक्ष्य कहना तो गौण है; ऐसा इसलिये कहा गया, क्योंकि वे जीवात्मा आत्मज्ञानी नहीं होते, निश्चय से शास्त्र वैसा बतलाता है।

इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्माओं को छान्दोग्य [५।१०।४] के उक्त प्रसंग में देवों का अन्न एवं देवों का भक्ष्य कहा है—'तद् देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' जिस इष्ट आदि कर्म करने वाले को 'सोम राजा' कहा है, वह देवों का अन्न है, उसको देव खाजाते हैं। ऐसा ही उल्लेख बृहदारण्यक [६।२।१६] में है—'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति,

तांस्तत्र देवा·····भक्षयन्ति' चन्द्र को प्राप्त होकर वे इष्टादिकारी देवों के अन्न होजाते हैं, उनको वहां देव खाजाते हैं। यह वर्णन इसका बाधक है, कि इष्टादिकारी जीवात्मा चन्द्रलोक में दिव्यदेह प्राप्तकर सुखादि का उपभोग करते हैं।

आचार्य ने बताया, इष्टादिकारी जीवात्माओं को देवों का अन्न एवं भक्ष्य कथन गौण हैं। वस्तुतः नित्य चेतन जीवात्मा किसीका अन्न व भक्ष्य नहीं बनता। उन प्रसंगों में जीवात्मविषयक ऐसा वर्णन इसीकारण है, कि वे आत्मज्ञानी नहीं होते। भोगों के भोगने की उत्सुकता उनमें बनी रहती है। इसी भावना से वे इष्टादि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। उस दशा में वे उन दिव्य भोगों का उपभोग क्या करते हैं, वे दिव्य भोग ही इन्हें खाजाते हैं; 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' [वैरा० श० ७] यह भर्तृहरिवाक्य उनपर चरितार्थ होता है। आत्मज्ञानी न होने से उन्हें शीघ्र फलभोग के अनन्तर पुनः इस जन्म-मरण के चक्र में आजाना पड़ता है। इसी भावना से इष्टादिकारियों को देवों का अन्न कहा गया है, वस्तुतः नहीं।

शास्त्र इस तथ्य को निश्चयपूर्वक बतलाता है। छान्दोग्य [८।१।६] में कहा—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' जैसे यहां कर्म से संचित लोक क्षीण होजाता है, ऐसे ही पुण्य से प्राप्त परलोक क्षीण होजाता है। तात्पर्य यह, कि अपने कर्मों के अनुसार जन्म लेने पर कर्मफल भोगने के अनन्तर यहां जैसे शरीर छोड़ देना पड़ता है, ऐसे ही पुण्य से प्राप्त परलोक पुण्यफल भोगलेने पर छूट जाता है। इससे स्पष्ट है—इस लोक के समान परलोक में भोग प्राप्त होता है। मुण्डक उपनिषद् [१।२।१०] में बताया—'इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' जो व्यक्ति यज्ञ याग, बावड़ी कुआ, तालाब, धर्मशाला आदि के अनुष्ठान को सर्वोच्च कल्याण का साधन समझते हैं, वे भोग के स्थान परलोक में अपने कर्मफलों को भोगकर इस मानवलोक अथवा इससे भी निकृष्ट तिर्यक् आदि योनियों में शेष कर्मानुसार जन्म लेते हैं। इससे परलोक में भोगों का प्राप्त होना प्रमाणित होता है। प्रश्न उपनिषद् [५।४] में कहा है—'सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते' सोमलोक में ऐश्वर्य का उपभोग कर फिर यहां आजाता है। ये सब प्रसंग स्पष्ट करते हैं, कि इष्टादि कर्मों का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति परलोक में कर्मानुसार फलों का भोग करते हैं; वहां वे देवों का ऐसा भक्ष्य नहीं बनजाते, कि देव उनको चबाजाते या निगलजाते हों। इसलिये इष्टादिकारी व्यक्तियों को देवों का जो अन्न या भक्ष्य कहागया है, वह सर्वथा गौण है।

यह भी इस प्रसंग में जानलेना चाहिये, कि कर्मदेवों [कर्म से देवत्व को प्राप्त करने वालों] को जो आजानदेवों [अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र पृथिवी आदि नैसर्गिक देवों] का अन्न व भक्ष्य कहा है, वह इसलिये भी भक्त समझना चाहिये, कि वह केवल पञ्चाग्निविद्या की प्रशंसा का द्योतक है, जो एक आत्मविद्या है। ऐसी भावना आशु-

विनाशी कर्मफलों की ओर से जिज्ञासु में उपेक्षावृत्ति को उत्पन्न कर आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त करने में सहायक होती है; उक्त कथन का यही तात्पर्य है। वे देव खाते-पीते कुछ नहीं हैं–'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेवाऽमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' [छा० ३।६।१] वे तो इस आत्मरूप अमृत को देखकर ही तृप्त रहते हैं। फलतः यह सब विवेचन इस तथ्य को स्पष्ट करता है, कि अपने कर्मफलों के भोग के लिये जीवात्मा समस्त सर्गकाल में एक देह से देहान्तर को सूक्ष्मभूतमय देह से आवेष्टित हुआ गति किया करता है। इसलिये गतसूत्र [३।१।१] का 'रंहति संपरिष्वक्तः' कथन सर्वथा निर्दोष है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इष्टादिकारी जीवात्माओं का परलोक में कर्मफलोपभोग पूरा होजाने पर उनकी क्या गति होती है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

कृताऽत्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८॥

[कृतात्यये] किये कर्मों का फलोपभोग पूरा होजाने पर [अनुशयवान्] संचित कर्मसंस्कारों से युक्त [दृष्टस्मृतिभ्याम्] श्रुति स्मृति से [यथेतं] जैसे गया (वैसे आजाता है), [अनेवं] न इसप्रकार–प्रकारान्तर से [च] और। इष्ट आदि किये कर्मों का फल भोगलेने पर शेष बचे कर्मसंस्कारों से युक्त आत्मा जैसे यहां से गया वैसे तथा अन्य प्रकार से फिर यहां वापस आजाता है। यह सब श्रुति स्मृति से जाना जाता है।

इष्ट आदि कर्मों को करने वाले जीवात्मा परलोक में उन कर्मों के फलों का उपभोग कर शेष कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में पुनः यहां जन्म ले लेते हैं। इष्ट आदि जिन विशिष्ट कर्मों का फल उन जीवात्माओं ने भोगलिया है, उनसे अतिरिक्त कर्मों के संस्कार अथवा कर्मजन्य धर्माधर्मरूप अदृष्ट उन आत्माओं में बने रहते हैं, सूत्र में उन्हीं को 'अनुशय' पद से कहा है। अनुशय वाले वे जीवात्मा जिस मार्ग से परलोक गये [यथेतम्], उसीके अनुसार फलभोग के अनन्तर लौट आते हैं। इसी अर्थ को छान्दोग्य [५।१०।५] के उक्त प्रसंग में बताया–'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' भोगद्वारा कर्मों का क्षय होने तक परलोक में निवास कर अनन्तर इसी मार्ग से फिर लौट आते हैं, जिससे गये। कर्मानुसार विभिन्न योनियों में उनका जन्म होता है, इसका भी छान्दोग्य [५।१०।७] में वर्णन है।

अनुशयसहित जीवात्मा यहां वापस आते हैं, यह अर्थ श्रुति और स्मृति से प्रमाणित होता है। मुण्डक उपनिषद् [१।२।१०] में बताया– इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' यज्ञ याग, वापी कूप तडाग, धर्मशाला विद्यालय चिकित्सालय आदि के अनुष्ठान व रचना को मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानने वाले पुरुष अन्य आत्मज्ञान आदि को मोहावेश में नहीं जानपाते। वे स्वर्गदशा में इष्ट आदि कर्मों से प्राप्त सुखों का उपभोग कर इस लोक में मानव तथा तिर्यक् आदि योनियों में कर्मानुसार जन्म लेते हैं। इसीप्रकार बृहदा-

रण्यक [४।४।६] में कहा–'प्राप्यान्त कर्मणस्तस्य यत्किचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' यह पुरुष जो कुछ यहां करता है, वह परलोक में भोगा जाकर जब पूरा होजाता है, पुनः कर्मानुष्ठान के लिये वह आत्मा इस लोक में आजाता है। बृहदारण्यक के एक अन्य सन्दर्भ [६।२।१६] में यही भाव प्रकट किया है। सांख्यस्मृति [६।५६] में कहा–'चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात्' कर्मानुसार फलों को भोगने के लिये चन्द्र आदि लोक-लोकान्तरों अथवा अवस्थाओं में प्राप्त हुए भी आत्माओं को कर्मफलभोग के अनन्तर उस लोक से इस लोक में लौट आना होता है; क्योंकि पुनः पुनः जन्म-मरण आवृत्ति का निमित्त अविवेक अभी तक बना रहता है। फलतः परलोक से इष्टादिकारी आत्मा का पृथिवीलोक की ओर जो आगमन होता है, वह सानुशय आत्मा का होता है, यह श्रुति-स्मृति से सिद्ध है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है. गतसूत्र में अनुशयसहित आत्मा की परलोक से आवृत्ति कही, परन्तु श्रुति में 'अनुशय' का निर्देश नहीं है। वहां पुण्य-पाप चरण को जन्म का निमित्त बताया है। 'चरण' का अर्थ आचरण व आचार है, सूत्र में उसीको निमित्त बताना उपयुक्त था। आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक अन्य आचार्यद्वारा किया समाधान प्रस्तुत किया—

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

[चरणात्] चरण–आचरण से [इति, चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो ठीक) [न] नहीं, [उपलक्षणार्था] उपलक्षण के लिये है [इति] यह [काष्णाजिनिः] काष्णाजिनि। आचरण से जन्म होना, कहना चाहिये अनुशय से नहीं; यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि काष्णाजिनि आचार्य कहता है, कि श्रुति में 'चरण' पद कर्म का उपलक्षण है, द्योतक है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।७] में कहा है–'तद्य इह रमणीयचरणाः····· रमणीयां योनिमापद्येरन्···कपूयचरणाः···कपूयां योनिम्' यहां जो रमणीय आचरण करते हैं, वे रमणीय योनियों में जन्म लेते हैं, जो निन्दित आचरण करते हैं, वे निन्दनीय योनियों में। इस सन्दर्भ में 'अनुशय' का निर्देश न होकर जन्म का निमित्त 'आचरण' बताया है। आचरण चरित्र अथवा कर्मानुष्ठान को कहते हैं, और अनुशय है–जिन कर्मों के फल भोगलिये हैं, उनसे अतिरिक्त कर्मों के संस्कार। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। इसलिये छान्दोग्यसन्दर्भ के अनुसार गतसूत्र में 'अनुशय' को जन्म का निमित्त न कहकर 'आचरण' को कहना चाहिये। काष्णाजिनि आचार्य के विचार को प्रकट करते हुए सूत्रकार ने बताया–छान्दोग्य की आचरणश्रुति अर्थात् 'चरण' पद कर्म का उपलक्षण है। तात्पर्य यह, कि जो कर्म संस्काररूप से अथवा धर्माधर्मरूप से आत्मा में सञ्चित रहते हैं, उन्हींका नाम 'अनुशय' है। छान्दोग्य का 'चरण' पद उसी अर्थ का द्योतक है।

यद्यपि 'कर्म' और 'चरण' का अनेक स्थलों पर भिन्नरूप से उल्लेख हुआ है–

'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' [बृ० ४।४।५] जैसा कर्म होता है, जैसा आचरण होता है, वैसा पुरुष होता है। तथा 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि,···यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' [तै० १।११।२] जो हमारे अनिन्द्य कर्म हैं, उनका सेवन करना चाहिये, जो हमारे अच्छे आचरण हैं, उन्हें तुमको अपनाना चाहिये। इन स्थलों में कर्म और आचरण को एक दूसरे से अलग दिखाया गया है। फिर भी यह सोचकर कि सद्यस्क कर्मानुष्ठान 'आचरण' है, उसके अनन्तर जो संस्कार आत्मा में उन कर्मों के रहजाते हैं, अथवा विशिष्ट कर्मानुष्ठान से जो धर्म-अधर्म आत्मा में सञ्चित रहते हैं, उन्हें कर्म अथवा 'अनुशय' पद से कहा जाता है, इस भेद के कारण उनका पृथक् निर्देश हुआ है। कोई आचरण, संस्कार अथवा धर्माधर्मरूप में जाये बिना जन्म का निमित्त नहीं होपाता। आचरण या कर्मानुष्ठान तात्कालिक क्रियारूप हैं, अगला जन्म लेने तक उनका रहना सम्भव नहीं। उनसे जो संस्कार या अदृष्ट [धर्माधर्म] आत्मा में निहित होते हैं, उनके अनुसार आगे जन्म होता है। तब उसे आचरण से हुआ कहा जाय, या अनुशय से; इसमें कोई अन्तर नहीं। आचार्य कार्ष्णाजिनि के कथन का यही तात्पर्य है ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि 'अनुशय' ही जन्म का कारण है, तो शास्त्र में 'चरण' को कारण बताया जाना निरर्थक होगा, जो अवाञ्छनीय है। सूत्रकार ने जिज्ञासानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

[आनर्थक्यम्] अनर्थक होना (होगा श्रुति का) [इति चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [तदपेक्षत्वात्] उसकी अपेक्षा वाला होने से। 'अनुशय' को जन्म का निमित्त मानने से 'चरण' श्रुति का अनर्थक होना प्राप्त होगा; यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुशय आचरण की अपेक्षा करता है।

सूत्र के 'तद्-अपेक्षत्वात्' में 'तत्' पद 'चरण' का परामर्श करता है। गतसूत्र में 'अनुशय' को जन्म का निमित्त बताने पर, छान्दोग्य में 'चरण' को जन्म का निमित्त कहना निरर्थक नहीं है; क्योंकि अनुशय आचरण की अपेक्षा करता है। आचरण अथवा कर्मानुष्ठान एक बात है। 'अनुशय' अदृष्ट [धर्माधर्म] एवं संस्कारों का नाम है। आचरण के बिना अनुशय का होना संभव नहीं। शुभ-अशुभ कर्मानुष्ठान से धर्माधर्मरूप 'अनुशय' बनता है। इसलिये 'अनुशय' को जन्म का निमित्त कहने पर आचरण को निमित्त बताना निरर्थक नहीं। आत्मा के देहसंयोगरूप जन्म के समय यद्यपि अनुशय का अस्तित्व है, आचरण का नहीं। पर आचरण के बिना अनुशय बन नहीं सकता; इसलिये छान्दोग्य में जन्म के निमित्तरूप से 'चरण' का निर्देश सार्थक है, व्यर्थ नहीं ॥१०॥

उक्त विषय में सूत्रकार आचार्य बादरि के विचार को प्रस्तुत करता है—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

[सुकृतदुष्कृते] सुकृत और दुष्कृत–अच्छे और बुरे कर्म [एव] ही, [इति] ऐसा [तु] तो [बादरिः] बादरि आचार्य कहता है। अच्छे और बुरे कर्म ही 'चरण' पद का अर्थ हैं; इसे अनुशय का उपलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं; यह बादरि आचार्य का विचार है।

विहित और प्रतिषिद्ध कर्मों की तरह शुभ-अशुभ आचरण भी सुकृत और दुष्कृत हैं। तात्पर्य यह, कि आचार एक धर्मविशेष है, अन्य कुछ नहीं। इसलिये छान्दोग्य [२।१०।७]का 'चरण' पद शुभ-अशुभ कर्मों का ही वाचक है। फलतः गतसूत्र [३।१।८] में जो 'अनुशय' को जन्म का निमित्त कहा है, उसका न छान्दोग्य-वचन के साथ कोई असामञ्जस्य है, न 'चरण' पद की अनर्थकता है और न इसको कर्म का उपलक्षण मानने की आवश्यकता रहती है। 'यथाकारी यथाचारी' [बृ० ४।४।५] आदि प्रयोगों में जो कर्म और चरण शब्दार्थ का भेद प्रतीत होता है, वह ब्राह्मण-परिव्राजकन्याय से अवान्तर भेद का द्योतक कहा जासकता है। 'आचार' एक लौकिक वर्त्ताव है, और कर्म अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान का नाम है। पर अच्छा या बुरा वर्त्ताव भी शुभ-अशुभ कर्म ही है। लौकिक वैदिक सब प्रकार के कर्म आत्मा में जो संस्कार या धर्माधर्म की स्थिति को बनाते हैं, वे ही आगे जन्म का निमित्त हैं। 'चरण' पद से इन सबकी अभिव्यक्ति होती है। रमणीयचरण और कपूयचरण पदों का पुण्यकर्मा और पापकर्मा अर्थ होने में कोई बाधा नहीं है। यह बादरि आचार्य का विचार है। कर्म और चरण पदों को साधारणतया समान अर्थवाला मानने पर दोनों पदों का साथ प्रयोग [बृ० ४।४।५ तै० १।११] विधेय अर्थ के प्रतिपादन में दृढ़ता के लिये किया जाना संभव है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवात्मा चन्द्रलोक में प्राप्त हो, वहां कर्मों का फल भोगकर पुनः इस लोक में जन्म लेते हैं, यह निश्चय किया गया। पर जो इष्ट आदि कर्म नहीं करते, उनकी क्या गति होती है ? सूत्रकार ने इस विषय का निश्चय करने के लिये उपक्रम किया—

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२॥

[अनिष्टादिकारिणाम्] इष्ट आदि कर्मों के न करनेवालों का [अपि] भी [च] और [श्रुतम्] सुना गया है (चन्द्रलोकगमन)। तथा जिन्होंने इष्ट आदि कर्म नहीं किये, अथवा अनिष्ट कर्म किये हैं उनका भी चन्द्रलोकगमन उपनिषद् में वर्णित है।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।२] में कहा है–ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक को ही जाते हैं। इस सन्दर्भ में 'सर्व' पद यह प्रकट करता है, कि चाहे कोई इष्ट आदि कर्म

का करनेवाला हो अथवा इष्ट को न कर अनिष्ट का करनेवाला हो, इस लोक से प्रयाण करने पर सबका चन्द्र में जाना होता है। पुनः देहप्राप्ति के लिये चन्द्रलोक जाना इसलिये आवश्यक है—छान्दोग्य [५।६।१] के अनुसार पांचवीं आहुति में 'आपस्' को पुरुषवचन का उल्लेख होने से चन्द्र में न जाने पर पांच संख्या की पूर्त्ति न होगी। उसके सामञ्जस्य के लिये प्रत्येक आत्मा की चन्द्रगति समानरूप से मानी जानी चाहिये। इष्ट आदि कर्म करने वालों, न करने वालों तथा अनिष्ट कर्म करने वालों की चन्द्रस्थानप्राप्ति के समान होने पर भी इतनी विशेषता रहती है, कि इष्ट आदि कर्म न करने वालों को वहां भोग की प्राप्ति नहीं होती। फलतः सभी आत्माओं के लिये चन्द्रलोकप्राप्ति साधारण है, यह अवगत होता है॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि सभी की गति मृत्यु के अनन्तर समान है, तो इष्ट आदि कर्म करने की विशेषता क्या रही ? यह प्रकट करने को सूत्रकार ने कहा—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

[संयमने] यम के लोक में [तु] तो [अनुभूय] अनुभव करके—भोगकर (पाप-फल को) [इतरेषां] अन्यों का [आरोहावरोहौ] चढ़ना-उतरना (होता है) [तद्गति-दर्शनात्] उनकी गति देखे जाने से। इष्ट आदि न करने वाले आत्मा यमलोक में पाप का फल भोगकर चन्द्रमार्ग से यहां लौट आते हैं, उनका आरोह और अवरोह ऐसा ही है, क्योंकि आत्मा की ऐसी गति का वर्णन शास्त्रों में देखा जाता है।

सूत्र में 'तु' पद गतिसमानता की व्यावृत्ति का सूचक है। इष्ट आदि कर्मों को न करनेवाले चन्द्रलोक—स्वर्गनामक सुखविशेष की अवस्था—को प्राप्त नहीं होते; प्रत्युत वे यमलोक में पापों का फल भोगकर वहां से चन्द्रलोक होते हुए इस लोक में आजाते हैं। जगत् के नियन्ता परमात्मा का नाम 'यम' है, आत्माओं के पापकर्मफलभोग के लिये उसने विविध कृमि कीट आदि निम्न योनियों की व्यवस्था की है। यम का वह सदन सूत्र के 'संयमन' पद का अर्थ है। पापकर्मा आत्माओं का तीव्रवेदनारूप फलभोग द्वारा वहां अच्छी तरह नियमन किया जाता है। 'इस लोक' का तात्पर्य है—साधारण मानव योनि। इसके अनुसार सूत्रार्थ होता है—इष्ट आदि शुभ कर्मों को न करनेवाले पापात्मा मानव मृत्यु के अनन्तर चन्द्रलोक न जाकर पापफलों को भोगने के लिये निम्न योनियों में नियन्ता [यम] परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार चले जाते हैं। जब भोग जाकर पाप समाप्त होजाते हैं, तब अन्य अवशिष्ट साधारण कर्मानुसार [सञ्चित कर्मानुसार] वे पुनः चन्द्रलोकमार्गद्वारा यहां साधारण मानवयोनि में जन्म लेते हैं। ऐसे आत्माओं का आरोह [मानव योनि के अनन्तर अन्य योनियों में पापफल भोगकर चन्द्रलोक में जाना] और अवरोह [चन्द्रलोक से पुनः मानवयोनि में जन्म लेना] ऐसे ही है। शास्त्र में उन आत्माओं की गति का ऐसा वर्णन देखा जाता है।

कठ उपनिषद् [२।६] में नाचिकेतोपाख्यान के प्रसंग से बताया–'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' धन के मोह से मोहित हुए अज्ञानी प्रमादी को परलोक नहीं सूझता। बस यही लोक [जन्म] है, दूसरा कोई नहीं; ऐसा समझनेवाला आत्मा बार-बार मेरे वश में आता है। यह धनगर्वीले मदमत्त अज्ञानी मानव जीवन का सच्चा चित्र है। परलोक [परजन्म] की चिन्ता न कर इष्टादि धर्मानुष्ठान की उपेक्षाद्वारा विविध पापराशिसंचय में सुखातिशय का अनुभव करता हुआ अमूल्य मानवजीवन को व्यर्थ नष्ट कर देता है। तब उस नियन्ता [यम] की व्यवस्था के अनुसार यामी यातनाओं को भोगने के मार्ग पर चल पड़ता है [–पुनः पुनर्वशमापद्यते मे]। परमात्मा इस रूप में जीवात्माओं के पापपुण्यफलों का नियन्ता है, इस आशय से 'यम राजा' के रूप में उसका अथर्ववेद [१८।३।१३] के एक मन्त्र में वर्णन है–'वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत'। जो धर्मानुष्ठान नहीं करता, वह जन्म-मरण के अनवरत चक्र में फंसा रहता है। इस विवेचनद्वारा सूत्रकार ने निश्चय किया, सुखभोग के लिये चन्द्रलोक को केवल इष्टादिकारी प्राप्त होते हैं, अनिष्टादिकारी नहीं। 'आपस्' पांचवीं आहुति में पुरुषवचन होजाते हैं [छा० ५।६।१] इस शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार वे आत्मा उस नियत मार्ग से केवल गुजरते हैं, जिसे शास्त्र में चन्द्रलोक कहा है ॥१३॥

इसी विषय की दृढ़ता के लिये सूत्रकार ने कहा—

स्मरन्ति च ॥१४॥

[स्मरन्ति] स्मरण करते हैं–समझकर बतलाते हैं [च] और। उपनिषत्कार तथा अन्य आचार्यों ने इस अर्थ को समझकर बतलाया है।

कठ उपनिषद् [२।६] के नाचिकेतोपाख्यान में इस विषय के वर्णन का उल्लेख गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया है। मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में इस विषय का विस्तृत वर्णन है। सात्त्विक राजस तामस कर्मों के अनुसार कर्त्ता को क्या फल प्राप्त होते हैं। प्रारम्भ के इक्यासी श्लोकों में विभिन्न पापगतियों का संक्षेप से उल्लेख है; उसके अनन्तर उन कर्मों का वर्णन है, जो अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन हैं। ऐसे शुभ कर्मों के ज्ञान व अनुष्ठान के लिये वेद को वहां सर्वश्रेष्ठ प्रमाण बताया है। फलतः अभ्युदय आदि की प्राप्ति के लिये शास्त्रप्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करना फलप्रद है। जो उस मार्ग पर नहीं चलते, वे अन्धकारमय योनियों में दुःख भोगते हैं ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, वह संयमन–यम का सदन (घर) कहां है, जहां अनिष्टादिकारी विविध यातनाओं का अनुभव कर पुनः इस लोक [मानव योनि] में आकर जन्म लेते हैं ? सूत्रकार ने बताया—

अपि च सप्त ॥१५॥

[अपि, च] किञ्च, अपितु [सप्त] सात। यम का घर और कहीं नहीं, अपितु वही है, जहां सात [इन्द्रिय] बैठे रहते हैं।

परमात्मा सर्वत्र व्यापक सर्वान्तर्यामी है, प्रस्तुत प्रसंग में उसका कोई घर बताने का तात्पर्य नहीं, जीवात्माओं के कर्म व फलभोग की दृष्टि से नियन्ता के नियम व व्यवस्थाओं का निर्देश करना मुख्य लक्ष्य है। सूत्रकार ने बताया सात इन्द्रियां जहां बैठी रहती हैं, वही उसका घर है। मानव योनि तथा उसके अतिरिक्त वे विविध योनियां हैं, जहां जीवात्मा पुण्य-पाप कर्मों का फल भोगता है। सूत्र का 'सप्त' पद सात इन्द्रियों से युक्त देह का बोधक है। मानवदेह का त्यागकर जीवात्मा उन योनियों में जाता है, जहां पाप कर्मों के फलों को भोगता है। वे योनियां एक दूसरे की अपेक्षा निम्न, निम्नतर, निम्नतम एवं और अधोऽधः कोटि की हैं, उनकी वैसी स्थिति की दृष्टि से रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भीपाक, तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि भेद-उपभेदों की कल्पना करली गई है, जिनकी भीषण यातनाओं का वर्णन विविध पौराणिक साहित्य में उपलब्ध होता है। उन्हीं योनियों को प्रस्तुत प्रसंग में 'संयमन' पद से निर्दिष्ट किया है, क्योंकि यह सब उस अचिन्त्यशक्ति नियन्ता की व्यवस्था के अनुसार उसके नियन्त्रण में हुआ करता है ॥१५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि नियन्ता परमात्मा इसी कार्य में लगा रहता है, तो उसके विश्वनियन्ता होने में विरोध आता है। सूत्रकार समाधान करता है—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

[तत्र] वहां [अपि] भी [च] और [तद्व्यापारात्] उसका व्यापार—नियन्त्रण होने से [अविरोधः] विरोध नहीं। और वहां भी उसका व्यापार होने से कोई विरोध नहीं होता।

परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता है, वह जीवात्मा की तरह परिच्छिन्न नहीं, जो एक जगह किसी एक विषय में व्यापृत होने पर अन्यत्र नियमन न करसके। इसलिये परमात्मा जैसे समस्त जीवात्माओं के कर्मानुसार फलों का प्रदाता है, ऐसे ही वह सकल विश्व का नियन्त्रण सदा करता है, यह उसका स्वभाव है, उसकी व्यवस्था के अनुसार निर्बाधरूप से अनादि अनन्त संसार का संचालन होता रहता है।

परमात्मा ने प्रत्येक कार्य के लिये अलग अधिष्ठाता नियत किये हुए हैं, उनके और आगे उनके कर्मचारी या गुमाश्ते हैं, उन्हींके द्वारा वह विश्व का संचालन करता है; कर्म और उनके फलों का ब्यौरा रखनेवाला भी कोई चित्रगुप्त नामक अधिष्ठाता है; इत्यादि सब कल्पनामात्र है, और यह आसुरीदर्शन का आर्यदर्शन पर प्रभाव का

परिणाम है। जिस आसुरीदर्शन में राजा को ही ईश्वर माना जाता है, तथा वह अपने राज्य की व्यवस्था मन्त्री अन्य कर्मचारी एवं गुमाश्तों आदि के द्वारा करता है, ऐसी व्यवस्था के जनप्रिय होने से उसकी देखा-देखी ईश्वर को माननेवाले आर्यपरम्परा के पराभिभूत व्यक्तियों ने ईश्वर के एक विशाल दरबार की कल्पना कर डाली; अनन्तर उसको उसी रूप में यथार्थ माना जाने लगा। उस अयथार्थ मार्ग पर चल-पड़ने से न मालूम कितनी मिथ्या कल्पनाओं को जन्म देना पड़ा, कालान्तर में समस्त समाज उस जाल में जकड़ गया। परमात्मा की व्यवस्था को मोटे तौर पर समझने-समझाने के लिये उदाहरण के रूप में ऐसी कल्पनाओं का भले ही आश्रय लेलिया जाय, पर उनके ऐसे स्वरूप की यथार्थता पर विश्वास करना अज्ञता का सूचक है। सूत्रकार आचार्य ने यही बताया, कि सर्वनियन्ता परब्रह्म का नियन्त्रण सर्वत्र सर्वदा समानरूप से संचालित रहता है, इसलिये वह जब एकत्र नियन्त्रण करता है, अन्यत्र कैसे करेगा ? ऐसी आशंका करना सर्वथा निस्सार है।

वेदादि शास्त्रों में परब्रह्म के ऐसे स्वरूप को स्पष्ट बताया है। यजुर्वेद [४०।१] में कहा—'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यह सब परमात्मा से व्याप्त है। आगे कहा-[यजु० ४०।५] 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' वह समस्त विश्व के अन्दर और बाहर परिपूर्ण है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३।७।१] में बताया—'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति' वह इस लोक और परलोक तथा सब भूतों को उनमें व्याप्त रहता हुआ नियन्त्रित करता है। वह अचिन्त्यशक्ति है, उसे अपने कार्य के लिये किसी अधिष्ठाता कर्मचारी या गुमाश्ते की आवश्यकता नहीं रहती ॥१६॥

इष्टादि कर्म न करनेवाले चन्द्रलोक को प्राप्त नहीं होते; इस विषय की अन्य प्रकार से उपपत्ति के लिये सूत्रकार ने कहा—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

[विद्याकर्मणोः] विद्या और कर्म का [इति] यह [तु] तो [प्रकृतत्वात्] प्रकरण होने से। यह चन्द्रलोकप्राप्ति तो विद्या और कर्म का फल है, क्योंकि यह उन्हीं-का प्रकरण है।

सूत्र के 'विद्या' पद का अर्थ उपासना है। इष्ट [यज्ञ याग आदि] और पूर्त्त [कूप तड़ाग विद्यालय आदि का निर्माण] आदि के लिये 'कर्म' पद का प्रयोग है। विद्या और कर्म का जो अनुष्ठान करते हैं, उनकी गति के दो मार्ग छान्दोग्य [५।३।३–५।१०।८] के इस प्रसंग में बताकर आगे एक तीसरे मार्ग का उल्लेख हुआ है। राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु से प्रश्न किया—क्या तुम जानते हो, वह लोक भर क्यों नहीं जाता, जबकि अनेकानेक प्राणी देह त्यागकर यहां से वहां जाते है ? श्वेतकेतु के द्वारा कोई उत्तर न दिये जाने पर यथावसर प्रवाहणद्वारा उपनिषत्कार ने बताया—इस लोक से परलोक जानेके

दो मार्ग हैं–देवयान और पितृयाण। जो व्यक्ति एकान्तवासी होकर श्रद्धा-तपस्यापूर्वक उपासना करते हैं, उनका मार्ग देवयान है [छा० ५।१०।१]। जो व्यक्ति समाज के बीच आबादियों में रहकर इष्ट पूर्त्त तथा दान आदि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं [छा० ५।१०।३-४]। इसी प्रसंग में आगे कहा–'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति, एतत् तृतीयं स्थानं, तेनासौ लोको न सम्पूर्यते' [छा० ५।१०।८] जो प्राणी इन दोनों मार्गों द्वारा परलोक नहीं जाते, वे क्षुद्र डाँस मच्छर कृमि कीट आदि योनियों में निरन्तर जल्दी-जल्दी जन्मते मरते रहते हैं। यह तीसरा मार्ग है, इसीकारण परलोक भरता नहीं।

इस प्रसंग में पहले दो मार्ग यथाक्रम उपासक और कर्मिष्ठों के हैं। इनमें इष्ट और पूर्त्त आदि कर्मों के करनेवाले की गति चन्द्रलोकप्राप्ति बताई है। सूत्र में विद्या–उपासना का निर्देश प्रसंगवश है। सूत्रकार का आशय यह स्पष्ट करने में है, कि चन्द्रलोक की प्राप्ति इष्टादिकारी व्यक्ति को होती है, यह इस प्रसंग से स्पष्ट होता है। जो इष्टादिकारी नहीं हैं, उनकी तीसरी गति है। यह छान्दोग्य के इस प्रकरण से अवगत है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [१।२] में जो चन्द्रलोक में सबके जाने का उल्लेख है, वह उन सबके जाने का समझना चाहिये, जो अधिकारी हैं। वहां इष्ट आदि कर्मों का फल भोगना है, जिन्होंने ये कर्म नहीं किये, उनका जाना व्यर्थ है।

इस आशय को ऋग्वेद [१०।१४।८] की एक ऋचा में कहा है–'सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः' अपने पूर्वजों के साथ संगत होओ, नियमपूर्वक किये गये इष्ट व पूर्त्त के द्वारा उत्कृष्ट स्वर्ग में प्राप्त होओ। पाप को छोड़कर फिर इस घर–पृथ्वीलोक में आओ, तथा शोभन कान्तियुक्त मानवदेह को प्राप्त करो। यही मन्त्र अथर्ववेद [१८।३।५८] में भी पढ़ा गया है। इससे इष्ट और पूर्त्त आदि कर्म करनेवालों को स्वर्ग–सुखविशेषप्राप्ति का संकेत मिलता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'चन्द्रलोकप्राप्ति' का जो उल्लेख है, उसका तात्पर्य लोकान्तर [जन्मान्तर] में सुखविशेषप्राप्ति है। वह दिव्यदेहप्राप्तिद्वारा इस लोक में भी ऐहिक ऐश्वर्य साधनों के सहयोग से संभव है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मानवदेहप्राप्ति के लिये सबका चन्द्रलोक जाना संभव होसकता है; क्योंकि पांचवीं आहुति में मानवदेह प्राप्ति का निर्देश कर आहुति-संख्या का नियम किया है। पांच संख्यापूर्ति चन्द्रलोक में जाये बिना संभव नहीं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

[न] नहीं [तृतीये] तीसरे में [तथा] वैसे [उपलब्धेः] उपलब्धि से। तीसरे

मार्ग में पांचवीं आहुति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि शास्त्र में वैसा उपलब्ध होता है।

छान्दोग्य [५।१०।८] में जहां तृतीयमार्ग का वर्णन किया है, वहां यह स्पष्ट उपलब्ध होता है, कि जिन आत्माओं की गति उक्त दोनों मार्गों [देवयान–पितृयाण] से नहीं होती, उनके लिये वह तीसरा मार्ग है, जहां कृमि कीट आदि क्षुद्र योनियों में निरन्तर जन्मना मरना चलता रहता है। इष्ट आदि कर्म करनेवालों को देहपात के अनन्तर चन्द्रलोक प्राप्त होता है, वहां उन कर्मों का फल भोगकर पुनः उनके मानवदेहप्राप्ति में पांचवीं आहुति का नियम उपनिषद् [छा० ५।३।३] में बताया गया है। चन्द्रलोक प्राप्ति के लिये जिनके कर्म ही नहीं, उनका न वहां जाना अपेक्षित है, और न उनके लिये पांचवीं आहुति का नियम। यह नियम तभी लागू होता है, जब वे विविध क्षुद्र योनियों में अपने पापकर्मों के फलों का उपभोग कर उन कर्मों के समाप्त होजाने पर मिश्रित सञ्चित कर्मों के अनुसार पुनः मानवदेह प्राप्त करते हैं। यदि इष्टादिकारी के लिये पांचवीं आहुति में मानवदेह प्राप्त करने का कथन है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं, कि अन्यत्र विना पांचवीं आहुति के मानवदेह प्राप्त नहीं होता। इसलिये कर्मानुसार जिनका चन्द्रलोक में आरोह-अवरोह संभव है, उनको पांचवीं आहुति मे मानवदेह प्राप्त होता है। जिनकी चन्द्रलोकप्राप्ति संभव नहीं, उनको आहुतिसंख्यानियम के विना ही मानव-देह कर्मानुसार यथावसर प्राप्त होगा। ऐसी व्यवस्था भी मानली जाय, तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है। फलतः मानवदेहप्राप्ति के लिये चन्द्रलोक में सब[illegible]ाना आवश्यक नहीं ॥१८॥

उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये सूत्रकार ने लोकप्रमाण प्रस्तुत किया—

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

[स्मर्यते] स्मरण किया जाता है [अपि] भी [च] और [लोके] लोक में। लोक और शास्त्र में यह स्मरण किया गया है, कि अयोनिज सृष्टि में आहुतिसंख्या का नि[illegible]म नहीं।

लोक में यह कहा सुना जाता है, कि सर्ग के आदि अवसर पर प्राणियों का प्रादुर्भाव अयोनिज होता है। वहां पुरुषविषयक और योषित्विषयक दोनों आहुतियों का अभाव रहता है। दर्शनशास्त्र में अयोनिज सृष्टि का स्मरण किया है। वैशेषिक दर्शन [४।२।११] में बताया–'सन्त्ययोनिजाः' सर्गादि काल में प्राणियों का अयोनिज प्रादुर्भाव होता है। जैसे आदि सर्ग के अवसर का अयोनिज सृष्टि में आहुतिसंख्या के नियम का अभाव है, ऐसे अन्यत्र भी होसकता है। मानवदेह की प्राप्ति के लिये यह कोई सार्वत्रिक प्रतिबन्ध नहीं है ॥१९॥

इसी विषय में सूत्रकार ने चालू सर्गकाल का लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया—

दर्शनाच्च ॥२०॥

[illegible]नात्] देखे जाने से [च] और (लोक में)। और लोक [illegible] जाने से।

गतसूत्र से 'लोके' पद का यहां अनुवर्त्तन है। न केवल आदि सर्गकाल में, अपितु अब भी लोक में प्राणियों का अयोनिज प्रादुर्भाव देखा जाता है। समस्त प्राणियों का विभाजन शास्त्रकारों ने चार वर्गों में किया है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज। समस्त मानव और पशु प्रथम वर्ग में आजाते हैं। समस्त पक्षी, सरीसृप एवं प्रायः जलचर द्वितीय वर्ग में। शेष सूक्ष्म कृमि कीट आदि तृतीय तथा लता वृक्ष वनस्पति आदि चौथे वर्ग में आते हैं। यहां तीसरे चौथे वर्ग के प्राणियों में पुरुष-योषिद्विषयक दो आहुतियों का प्रायः अभाव रहता है: इस आधार पर ऐसे प्राणियों का प्रादुर्भाव आज चालू सर्ग-काल में भी अयोनिज समझा जाता है। फलतः मानवदेहप्राप्ति के लिये आहुतिसंख्या का नियम किसी विशेषस्थिति के लिये है, सार्वत्रिक नहीं। इसलिये इष्ट आदि कर्म न करनेवालों को भोगार्थ चन्द्रलोक प्राप्ति नहीं होती, यह निश्चित है॥२०॥

प्रसंगवश शिष्य जिज्ञासा करता है, गतसूत्र की व्याख्या में प्राणियों के चार वर्ग बताये गये, परन्तु छान्दोग्य [६।३।१] में तीन का उल्लेख है। इसका सामञ्जस्य कैसे होगा? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

[तृतीयशब्दावरोधः] तीसरे शब्द से अवरोध—संग्रह है [संशोकजस्य] संशोकज—स्वेदज का। छान्दोग्य के तीसरे उद्भिज्ज शब्द से स्वेदज का संग्रह होजाता है:

छान्दोग्य उपनिषद् [६:३:१] में बताया—'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति—आण्डजं, जीवजं, उद्भिज्जमिति'। इन प्राणियों के तीन ही बीज—मौलिक वर्ग हैं—आण्डज, जीवज [जरायुज] और उद्भिज्ज; यहां स्वेदज का निर्देश नहीं है। सूत्रकार ने कहा, यहां के तृतीय शब्द—उद्भिज्ज—से स्वेदज का संग्रह होजाता है। यह पद दोनों वर्गों का बोधक है, उस एक समानता के आधार पर जिसका ऊपर संकेत किया गया है; ये दोनों वर्ग प्रायः अयोनिज होते हैं।

अन्यत्र शास्त्र में चारों का उल्लेख हुआ है। ऐतरेय उपनिषद् [३।३] में कहा—'बीजानीतराणि चेतराणि च अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि च' यहां चारों वर्गों का स्पष्ट उल्लेख है। निमित्तवश जहां नहीं किया गया, वहां भी समझ लेना चाहिये, यह एक शास्त्रीय मर्यादा है।

इस प्रसंग का सारांश इतना है, कि इष्ट आदि कर्मों को करनेवाले आत्मा पितृ-याण मार्ग से परलोक को प्राप्त होते हैं, तथा उपासना आदि द्वारा ज्ञानमार्ग का आश्रयण करनेवाले देवयान से। इन दो मार्गों का संकेत वेद [ऋ० १०।८८।१५; यजु० १९।४७] में उपलब्ध होता है—

द्वे सृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

यजुर्वेद में 'सृती' पद के स्थान पर 'सृती' पाठ है, अर्थ दोनों पदों का समान है। अपने पूर्वज पितरों और देवों के दो मार्ग सुनता हूं, जो मर्त्यरूप से यहाँ आते व जाते हैं। यह समस्त प्राणिजगत् इन मार्गों से आता जाता है। प्राणियों के आवागमन की इस गति का क्षेत्र द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच है। माता-पिता के द्वारा जन्म को प्राप्त होकर सांसारिक विषयभोगरूप एक गति है, तथा आत्मज्ञानी गुरुओं के सम्पर्क में रह आत्मज्ञानद्वारा मोक्षप्राप्ति दूसरी गति है। इन्हींको पितृयाण व देवयान मार्ग कहा जाता है। यही पितृलोक व देवलोक हैं। ये कर्म आदि का फल भोगने की अवस्था हैं : इसीके अनुसार इष्ट आदि कर्म करनेवाले पितृलोक और उपासक देवलोक को प्राप्त होते हैं : बृहदारण्यक (१।५।१६) में यही कहा–'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः'। जो न इष्ट आदि कर्म करते हैं न उपासना, ऐसे पापी आत्माओं का बार-बार सत्वर जन्म-मरण का क्रम निरन्तर चला रहता है, यह तीसरा मार्ग है। वे पापफलों को भोगने के लिये लगातार कर्मानुसार जन्मते मरते रहते हैं [कठ० २।२।७] ॥२१॥

अपने किये इष्ट आदि कर्मों का फल भोगने के लिये इष्टादिकारी चन्द्रलोक में जा, जब उन कर्मों का फल भोग चुकते हैं; तब उस अवस्था से पुनः पृथिवीलोक में उनका अनुशय [सञ्चित कर्माशय] सहित आवर्त्तन होता है, यह निश्चय किया गया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, आवर्त्तन का जो प्रकार शास्त्र में बताया है, वहां निर्देश है, कि वह आत्मा आकाश में आता है, आकाश से वायु, वायु से धूम, धूम से अभ्र आदि होजाता है; इसका क्या आशय है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

[साभाव्यापत्तिः] सदृश स्थिति को प्राप्त होता है [उपपत्तेः] उपपत्ति-युक्ति से। आवर्त्तन के समय इष्टादिकारी आत्मा की स्थिति आकाशादि के सदृश होती है; ऐसा मानना युक्तियुक्त है।

छान्दोग्य उपनिषद् [५।१०।५-६] में जहां चन्द्रलोक में भोगों को भोगकर इष्टादिकारी आत्मा के पुनः आवर्त्तन का वर्णन है, वहां कहा है–'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशम्, आकाशाद्वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति' भोगद्वारा इष्ट आदि कर्मों के क्षीण होजाने पर इसी मार्ग को फिर वापस होते हैं, जैसे वहां पहुंचे आकाश होकर। यद्यपि जाने और आने की अवस्थाओं में अन्तर है, पर इनको समान केवल इतने आधार पर कहा गया है, कि जैसे जाते समय पृथिवी से आकाश में होकर चन्द्रलोक पहुंचते हैं, ऐसे ही चन्द्रलोक से आकाश [अन्तरिक्ष] में होकर पृथिवी पर वापस आजाते हैं। इस अवरोहण [आवर्त्तन–वापस आना] में जिज्ञासा यह है, कि उक्त उपनिषत्संदर्भ में कहा

गया है—वह आकाश से वायु को आता है, वायु होकर धूम होजाता है, धूम होकर अभ्र होजाता है; इत्यादि वाक्यों में उस इष्टादिकारी आत्मा का आकाश वायु धूम अभ्र आदि होजाने का तात्पर्य क्या तद्रूप होजाना है, अथवा उनके सदृश व अनुकूल होजाने का है? सूत्रकार ने बताया, उक्त कथन का अभिप्राय आत्मा का 'साभाव्य' होजाना है। सूत्र के 'साभाव्य' पद का अर्थ 'सादृश्य' है। साभाव्य—समान भाव का होजाना; जैसी स्थिति आकाश वायु आदि की है, उसके अनुकूल होजाना।

चन्द्रलोक में भोग के अनन्तर भोगसाधन दिव्य शरीर के क्षीण होजाने पर सूक्ष्मदेह से आवेष्टित आत्मा आकाश [अन्तरिक्ष] में अवस्थित होता है, तात्पर्य यह, कि आकाश के समान उसकी भी स्थिति सूक्ष्म है। अनन्तर वह वायु के आवरण [घेरा] में आता है, वायु जैसा चलता है, उसीके अनुसार उसका संचरण होता रहता है। तब वह अभ्र होजाता है, अर्थात् अभ्रों के मध्य आजाता है। 'अभ्र' मेघों की वह अवस्था है, जब वे वाष्परूप होते हैं। उसके अनन्तर अभ्र मेघ होजाते हैं, वह आत्मा उनके साथ मेघरूप होजाता है, अर्थात् मेघों के मध्य आजाता है। मेघ जब बरसते हैं, वह आत्मा भी धाराओं के साथ पृथिवी पर आजाता है। तब ओषधि वनस्पति अन्न आदि में अनुशयी होकर बैठ जाता है ओषधि आदि को किसीके द्वारा प्रयोग करने पर रसपाकक्रम से वीर्य में जा पुनः योषित्पुरुषसंपर्क होने पर देहधारण करता है। वर्षा के साथ पृथिवी पर आकर देहधारण की स्थिति तक पहुंचना बहुत कठिनता से होपाता है। यह कोई निश्चय नहीं, कि प्रत्येक अन्न आदि का ठीक उपयोग होकर वह आवश्यक रूप से देहधारण की अवस्था तक पहुंच सकेगा। अन्न ओषधि आदि के अथवा उनके विकारों के पानी में बहजाने या धूल में मिलजाने पर वह फिर वाष्प अथवा वायु के द्वारा मेघ में पहुंच जाता है, पुनः बरसता है, फिर ऐसे ही मेघ में जाने की संभावना बनी रहती है, इस चक्र से निकलना बड़ा कठिन होता है। यह सब क्रम कर्मानुसार चला करता है।

वह आत्मा इन अवस्थाओं में वायु मेघ आदि के सदृश रहते हैं, अर्थात् उनके अनुकूल इनकी गति बनी रहती है, ये तद्रूप नहीं बन जाते; इसमें सूत्रकार ने हेतु दिया है—उपपत्ति। प्रमाणों एवं युक्ति के आधार पर किसी वस्तु की सिद्धि का नाम 'उपपत्ति' है। सूक्ष्मदेह से आवेष्टित आत्मा किसी भी दशा में वायुरूप अथवा मेघरूप आदि नहीं होसकता। वैसे कोई एक वस्तु दूसरी का रूप नहीं होती; फिर आत्मा तो चेतनतत्त्व है, उसका वायु आदि के साथ तादात्म्य होना सर्वथा युक्तिप्रमाण के विरुद्ध है। इसलिये उपनिषद् के कथन का वही तात्पर्य होसकता है, जो प्रथम वर्णन किया है।

प्रसंगवश यह और जानलेना चाहिये, कि जिन आत्माओं को अपने कर्मों के अनुसार स्थावर योनि प्राप्त हुई है, वे उन अनुशयी आत्माओं से अतिरिक्त होते हैं। अनुशयी आत्मा का किसीतरह का स्थूलदेह नहीं है। कर्मानुसार स्थावर योनि में प्राप्त हुए देह का वह अभिमानी आत्मा है, जिसे वहां कर्मानुसार दुःखानुभूति होती है।

मनु[1] में इनका 'अन्तःसंज्ञ' नाम दिया गया है। इसके विपरीत अनुशयी आत्मा सर्वथा अज्ञान अवस्था में रहता है, जैसे कि एक घोर मूर्च्छा की अवस्था होती है। इसलिये अन्न आदि के उपयोग में हिंसा की कल्पना का अवकाश नहीं रहता ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अवरोहण के अवसर पर आत्मा का जो आकाश आदि के साथ सादृश्य कहा गया, उसके काल का क्या कोई नियम है ? वह अवस्था जल्दी समाप्त होती है, या चिरकाल लेलेती है ? अथवा उसका कोई नियम ही नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

[न] नहीं [अतिचिरेण] अति चिर से [विशेषात्] विशेष वचन से। आगे कहे विशेष वचन से यह ज्ञात होता है, कि आकाश वायु अभ्र आदि स्तरों में अतिचिर से अवरोहण नहीं होता।

वर्षा द्वारा यहां आकर आत्मा की स्थिति व्रीहि यव आदि अन्न व वनस्पति आदि में अनुशयी होकर रहने की बताई है–'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' [छ० ५।१०।६]। यहां व्रीहि आदि में अनुशयीरूप से प्राप्त आत्मा के अवरोहणस्तर को कठिनता से पार होनेवाला अति दुस्तर [दुर्निष्प्रपतरं] बताया है; इस विशेष कथन से यह ज्ञात होता है, कि आकाश से लेकर व्रीहिस्तर में आने से पूर्व तक की अवस्थाओं को पार करने में अधिक काल नहीं लगता। यदि सब अवस्थाओं को पार करने में समानप्राय समय लगता होता, तो यहां उक्तरूप से विशेष कथन करना अनावश्यक था। फलतः स्पष्ट होता है–आकाशभाव से व्रीह्यादि-भाव की प्राप्ति तक अल्पकाल में अवरोहण पूरा होजाता है, इसमें अधिक काल नहीं लगता ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इष्टादिकारी आत्मा की व्रीह्यादिभाव में प्राप्ति पहले आकाश आदि में प्राप्ति के समान है, अथवा व्रीहि आदि में अपने कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

[अन्याधिष्ठितेषु] अन्य आत्माओं से अधिष्ठितों में [पूर्ववत्] पहले के समान [अभिलापात्] कथन से। अन्य आत्माओं से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयी

१. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥
मनुस्मृति, १।४९॥

आत्माओं का संपर्कमात्र होता है, जैसे पहले कहे वायु आदि में; क्योंकि उपनिषद् में इस विषय पर समान कथन है।

इष्टादिकारी आत्माओं के परलोक से अवरोहण में वर्षा के साथ पृथिवी पर आने के अनन्तर उपनिषद् [छा० ५।१०।६] में कहा—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' यहां 'जायन्ते' क्रियापद से यह भाव प्रकट होता है, कि वे अनुशयी कहेजानेवाले आत्मा अवरोहण की इस स्थिति में आने पर व्रीहि यव आदि के रूप में जन्म लेलेते हैं। तो क्या यह उनका मुख्य जन्म समझना चाहिये, अथवा वायुभाव आदि में जैसा पहले वायु आदि के साथ केवल संपर्क व संश्लेष बताया गया है, वैसा व्रीहि आदि के साथ संपर्कमात्र समझना चाहिये?

सूत्रकार ने बताया, पूर्वोक्त वायुभाव आदि के समान यहां व्रीहिभाव आदि में संपर्कमात्र अनुशयी आत्माओं का समझना चाहिये। व्रीहि आदि के रूप में कर्मानुसार जन्म लेनेवाले आत्मा दूसरे होते हैं, जो उन स्थावर देहों के अधिष्ठातारूप में वहां उपस्थित हैं। 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' [कठ० २।२।७] अन्य आत्मा अपने उपार्जित कर्म व विज्ञान के अनुसार वृक्ष व्रीहि यव आदि स्थावरभाव को प्राप्त होते हैं, अर्थात् फलभोग के लिये इन योनियों में जन्म लेते हैं। इसप्रकार व्रीहि आदि रूप में जन्मलेनेवाले अधिष्ठाता आत्मा अन्य हैं; इष्टादिकारी तो परलोक से अवरोहण के अवसर पर वर्षा के साथ पृथिवी पर आ व्रीहि यव आदि में संश्लिष्ट होकर रहते हैं, ठीक उसी तरह जैसे पहले वायुभाव आदि में बताये गये हैं। कारण यह है, कि उपनिषद् में इनका समानरूप से कथन हुआ है। इनके कथन में समानता है—कर्मव्यापार का निर्देश न होना। जैसे वायुभाव आदि विना कर्मों के कहा है, अर्थात् उस अवस्था में अनुशयी आत्मा को किसीप्रकार के कर्मों का भोग प्राप्त नहीं होता, ऐसे ही व्रीहिभाव आदि में अनुशयी को कर्मफलभोग नहीं कहा। जहां कर्मफलभोग अपेक्षित है, वहां 'रमणीयचरणाः·····कपूयचरणाः' [छा० ५।१०।७] इत्यादि निर्देश किया गया है। इसलिये व्रीहिभाव आदि में वायुभाव आदि के समान अन्य आत्माओं से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयी आत्माओं का संश्लेषणमात्र होता है, कर्मफलभोग नहीं होता। इसके अनुसार उक्त वाक्य में 'जायन्ते' क्रियापद का प्रयोग मुख्य न होकर गौण समझना चाहिये। वह इनके 'जन्म' को न कहकर केवल संपर्क को कहता है। अनुशयी आत्मा व्रीहि यव आदि होजाते हैं, इसका इतना ही तात्पर्य है, कि वे व्रीहि यव आदि में संश्लिष्ट होजाते हैं।

यदि ऐसा न माना जाय, और 'जायन्ते' क्रियापद के मुख्यार्थ के लिये आग्रह किया जाय, तो यह निश्चित है, कि व्रीहि आदि के काट लिये जाने पर अभिमानी व अधिष्ठाता आत्मा वहां नहीं रहता। किसी भी देह के काट डाले जाने पर आत्मा वहां नहीं रहता, यह सर्वानुभवसिद्ध है। व्रीहि पौधे के बीज अथवा दाने उसके सन्ततिरूप

हैं; उनमें अधिष्ठाता आत्मा दूसरे बैठे हुए हैं, जो कालान्तर में सहयोगी निमित्तों के सहयोग से समानजातीय अंकुर आदि के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। यदि उन दानों या बीजों को पीस दिया जाता है, या पका दिया जाता है, तो वे अधिष्ठाता आत्मा वहां नहीं रहते, प्रवासित होजाते हैं; परन्तु अनुशयी आत्मा उस अवस्था में भी निरन्तर वहां संश्लिष्ट रहते हैं, वहां किसीप्रकार के सुख-दुःख का उन्हें अनुभव नहीं होता, घोर मूर्च्छित जैसी यह अवस्था उनकी निरन्तर उस समय तक बनी रहती है, जब तक उनके भोगाधिष्ठान देह का आरम्भ नहीं होता। ये अनुशयी आत्मा ही अन्नादि का उपयोग करने पर रसपाक आदि के अनन्तर वीर्य आदि के रूप में जा, पांचवीं आहुति में पुरुषवचन होते हैं। यदि 'जायन्ते' क्रियापद को वहां मुख्यार्थ माना जाता है, तो व्रीहि आदि के अधिष्ठाता आत्माओं का इसरूप में पांचवीं आहुति तक पहुंचना असंभव है। वे तो व्रीहि आदि के काट लिये जाने पर उस देह को छोड़ जाते हैं। फलतः अनुशयी आत्माओं का व्रीहि आदि में संपर्कमात्र मानना प्रामाणिक एवं शास्त्रीय है ॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि व्रीहि आदि में अनुशयी आत्मा संश्लिष्ट रहते हैं, और अधिष्ठाता आत्मा दूसरे; तो इन सब अवस्थाओं में उनके काटने कूटने पीसने छड़ने पकाने आदि में उन आत्माओं को पीड़ा पहुंचेगी, इसकारण अन्न आदि का उपयोग हिंसापूर्ण होने से अशुद्ध होगा, अभोज्य होगा; यह व्यवहार शास्त्रीय कैसे माना जासकता है ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

[अशुद्धम्] अशुद्ध है (अन्नादि का उपयोग), [इति-चेत्] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं [शब्दात्] शब्द से। अन्नादि का उपयोग अशुद्ध नहीं है, यह शब्द से जाना जाता है।

जीवात्मा को किसीप्रकार का दुःख या सुख भोगाधिष्ठान देह के आश्रय बिना नहीं होता। यह तथ्य समस्तशास्त्रसंमत है। आत्मा को पीड़ा पहुंचना या पीड़ा का अनुभव होना उस समय तक संभव नहीं, जब तक वह भोगाश्रय देह के साथ संबद्ध नहीं होता, संबन्ध होने पर वह उस देह का अधिष्ठाता व अभिमानी आत्मा होता है। 'हिंसा' पद का प्रयोग वहीं संभव व यथार्थ है, जहां ऐसे आत्मा के देह को काटा-पीटा जाय। इष्टादिकारी आत्माओं का समस्त अवरोहण काल में ऐसा कोई देह नहीं होता। व्रीहि आदि में उनका संश्लेषणमात्र है, वहां कोई भोगायतन देह उनका नहीं है। आत्मा स्वरूप से निरवयव है। उसका कूटा पीटा जाना असंभव है। इसलिये व्रीहि आदि के कूटे पकाये जाने पर अनुशयी आत्मा को किसी कष्ट या पीड़ा के होने की संभावना नहीं कीजासकती। तब यहां हिंसा का कहना सर्वथा निराधार है। इसलिये वह अन्न अशुद्ध व अभोज्य नहीं कहा जासकता।

व्रीहि आदि में जो अधिष्ठाता व अभिमानी आत्मा हैं, जिन्हें कर्मफलोपभोग के लिये यह योनि प्राप्त हुई है, वे आत्मा फसल के पक जाने पर उस देह को छोड़ जाते हैं। उस अवस्था में व्रीहि आदि का काटना हिंसाजनक नहीं है। बीज अथवा दाने में जो उससे उत्पन्न होनेवाले देह का अभिमानी आत्मा बैठा है, उसका अभी बीज अवस्था में भोगायतन देह आरम्भ नहीं हुआ। उस देह का आरम्भ अंकुर की प्रथम अवस्थाओं से होपाता है। यह बीज एकप्रकार से व्रीहि आदि का बीर्यरूप है, जिससे कालान्तर में सजातीय देह का आरम्भ होना है। इसे व्रीहिसन्तान की प्रथम अवस्था कहा जासकता है। यहां आगे बननेवाले देह का जो अधिष्ठाता आत्मा बैठा है, इस दशा में उसे दुःखादि का भोग असंभव है, क्योंकि अभी भोगाश्रय देह उसे प्राप्त नहीं है। इसलिये बीज आदि के कूटने पीटने में उसे पीड़ा की संभावना न होने से इस आधार पर भी हिंसा का स्वरूप वहां नहीं बनता। अतः अन्न अशुद्ध व अभोज्य नहीं होता।

कुक्कुटाण्ड का उपयोग हिंसा की सीमा में आजाता है, क्योंकि वह देह की भ्रूण अवस्था है। दाने की भ्रूण अवस्था वह है, जब वह अंकुरित होने के लिये उन्मुख रहता है। अंकुरित होने पर व्रीहि का जन्म हो चुका है, मानना चाहिये। सूत्रकार का आशय है, कि शास्त्र से यह प्रमाणित है, कि आत्मा का जब तक भोगाश्रय देह के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक उसे सुख-दुःख आदि का अनुभव होना संभव नहीं। अन्न की ऐसी अवस्था है, इसमें अनुशयी आदि आत्माओं का सम्पर्क रहने पर भी भोगाश्रय देह न होने से उनको अन्न के कूटने पकाने आदि में न कष्ट होता, न यहां हिंसा का अवसर है। मनु [१।४९] ने इन योनियों को 'अन्तःसंज्ञ' कहा है।

जीवन में अनेक कार्यकलापों के प्रसंग से अनिवार्यरूप में हिंसा होजाती है। ऐसी हिंसा इस प्रकरण का विषय नहीं है। फिर भी यह ध्यान रखने की बात है, कि राष्ट्रीय जातीय अथवा सार्वजनिक अतिशय अभ्युदय की प्राप्ति में यदि थोड़ी-बहुत हिंसा होती है, तो वह सामाजिक दृष्टि से क्षम्य समझी जाती है। आत्मिक उन्नति में वह भी बाधक है। चिकित्सक थोड़ा कष्ट पहुंचाकर स्वास्थ्य प्रदान करता है, वहां हिंसा की अणुमात्र भी कल्पना नहीं कीजासकती। चिकित्सक की भावना बड़ी पवित्र और उच्च होती है, यदि उसमें स्वार्थ का घुंगार न दिया गया हो। 'अहिंसन् सर्व-भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' [बृ० ८।१५।१] इत्यादि सन्दर्भ में 'तीर्थ' पद का भाव राष्ट्र अथवा समाजसम्बन्धी कार्य ही समझना चाहिये। राष्ट्ररक्षा के लिये युद्ध में होनेवाली तथाकथित हिंसा की भी यही स्थिति है ॥२५॥

इष्टादिकारी आत्माओं का परलोक से अवरोहण का वर्णन करते हुए छान्दोग्य [५।१०।६] में कहा है—जो अनुशयी आत्माओं से संपृक्त उस अन्न को खाता है, और रेतःसिञ्चन करता है, तद्रूप ही अनुशयी होजाते हैं। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, अनुशयी आत्माओं का रेतःसिग्भाव व्रीह्यादिभाव के समान संपर्कमात्र है

अथवा अनुशयी रेतःसिग्रूप ही होजाते हैं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

रेतःसिग्योगोऽथ ॥२६॥

[रेतःसिग्योगः] वीर्यसेचन करनेवाले के साथ योग [अथ] अनन्तर। व्रीहि आदि के साथ संपर्क के अनन्तर अनुशयी आत्माओं का रेतःसेक्ता के साथ सम्बन्ध होता है।

छान्दोग्य [५।१०।६] के उक्त प्रसंग में कहा है—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः-सिञ्चति तद्भूय एव भवति' जो-जो अन्न खाता है, जो वीर्यसेचन करता है, वही रूप अनुशयी आत्मा का होजाता है। यहां 'तद्भूय एव भवति' वाक्य का यह अर्थ नहीं, कि अद्यमान अन्न के साथ संपृक्त अनुशयी आत्मा रेतःसेक्ता का रूप होजाता है। वस्तुतः रेतःसेक्ता पृथक् आत्मा है, और अनुशयी पृथक्। एक आत्मा अन्य आत्मा नहीं बन-सकता। इसलिये वाक्य का यही अर्थ है, कि अनुशयी आत्मा अद्यमान अन्न के साथ जिस योनि के रेतःसेक्ता से संपृक्त होकर मातृकुक्षि में पहुंच जाता है, उसी योनि का देह धारण करता है। इसलिये जैसे अनुशयी आत्माओं का व्रीह्यादिभाव व्रीहि आदि के साथ संपर्कमात्र है, ऐसे ही रेतःसिग्भाव रेतःसेक्ता के साथ संपर्कमात्र समझना चाहिये।

अद्यमान अन्न के साथ अनुशयी होकर इस स्तर तक आये आत्मा के विषय में यह बात ध्यान देने की है, आत्मा अपने रूप में एक स्वतन्त्र चेतनतत्त्व है, जिस अद्य-मान अन्न के साथ वह अनुशयीरूप में संपृक्त है, उस अन्न का उपयोग जिस प्राणी ने किया है, उस प्राणी के देह में रसपाकद्वारा वह अन्न वीर्यरूप में परिणत होता है, अनुशयी आत्मा वहां भी संपृक्त है। आगे वीर्यसेचन होने पर उस अनुशयी आत्मा को उसी आकार के देह की प्राप्ति होती है, जिस देह में अन्न का वीर्यपरिपाक हुआ है। यदि उसी अन्न को कोई अन्य प्राणी खाता, तो अनुशयी आत्मा को वैसा देह प्राप्त होता। इसके अनुसार 'तद्भूय एव भवति' वाक्य में यह भावना निहित है, कि अन्न का जो भोक्ता है, उस अन्न में अनुशयी आत्मा को उसी भोक्ता के देह की आकृतिवाला देह प्राप्त होता है। देह के उपादानभूत उस अनुशयीसंपृक्त अन्न में अनन्त आकृतियां विद्यमान हैं, अनुशयी आत्मा के लिये वही आकृति उभरती है, जिस देहाकृतिवाला प्राणी उस अन्न का उपभोग करता है। साजात्यप्रजनन में यह मूलभूत सिद्धान्त गम्भीरतापूर्वक विवेचनीय है ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने छान्दोग्य [५।१०।७] के अगले सन्दर्भ के आधार पर उक्त अर्थ का उपपादन किया—

योनेःशरीरम् ॥२७॥

[योनेः] योनि के अनुसार [शरीरम्] शरीर। रेतःसेचन के अनन्तर उस योनि के अनुसार अनुशयी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है।

सूत्र में 'अथ' पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से समझलेनी चाहिये। रेतःसेक्ता जब योषित् में रेतःसेचन करदेता है, तब अनुशयी आत्मा को उसी योनि [जाति] के अनुसार शरीर की प्राप्ति होती है। योषिद्गर्भ में उसी क्षण से शरीर की रचना प्रारम्भ होजाती है। छान्दोग्य [५।१०।७] में रेतःसिग्भाव के अनन्तर कहा—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्···अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्' जो यहां अच्छे आचरण करनेवाले होते हैं, वे अच्छी योनियों में प्राप्त होते हैं; तथा जो बुरे आचरण करनेवाले हैं, वे नीच योनियों में जन्म लेते हैं।

इष्टादिकारी आत्माओं के परलोक से अवरोहण में उनके पुनः देहधारण तक स्थिति का वर्णन प्रस्तुत प्रसंग में है। इसमें स्पष्ट किया गया है, कि वे आत्मा वायु मेघ वर्षा आदि द्वारा पृथिवी पर आ, अन्नादि में अनुशयी होकर उपस्थित होते हैं। अनन्तर अन्न के आहार व परिपाक वीर्यद्वारा योषिद्गर्भ में पहुंच देहधारण करते हैं। अवरोहण के प्रारम्भ से लेकर देहधारण तक वे किसीप्रकार के सुख-दुःख से अन्वित नहीं रहते; क्योंकि तब भोगायतन देह के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता। उनकी यह यात्रा घोर मूर्च्छा जैसी अवस्था में पूरी होती है। इस यात्रा में वायु से लेकर रेतस् तक सब भाव एकप्रकार से उन आत्माओं के वाहन हैं। फलतः यह स्पष्ट होता है, कि इन सबके संपर्क में वे आत्मा आते हैं, उनका अधिष्ठातृभाव वहां नहीं होता। देह प्राप्त होने पर होता है। इसीमें सुख दुःख आदि की अनुभूति होती है, यह आत्मा का भोगायतन देह माना जाता है ॥२७॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः।

प्रथम पाद में पञ्चाग्निविद्या के आधार पर जगत् में जीवात्मा की वैराग्यभावना को जगाने के लिये इस लोक से परलोकगमन और वहां से आगमन की प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण किया गया। अब परब्रह्म के प्रति भक्त्यतिशय की भावना को उभारना अपेक्षित है, क्योंकि यह उपासना का मुख्य प्रयोजक है। उपासनाद्वारा ब्रह्म को प्राप्त किया जासकता है। भक्ति का उद्रेक तब तक नहीं होता, जब तक अपने से विलक्षण अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म का साधारणज्ञान न हो। इसके लिये प्रथम जीवात्मा की संसारगति का वर्णन किया है, अब उसकी विशेष अवस्थाओं का वर्णन, तथा परब्रह्म में इन सब स्थितियों के अभाव का निरूपण अपेक्षित है। उसके लिये यह द्वितीय पाद का आरम्भ

है। जीवात्मा की तीन अवस्था बताई गई—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जाग्रत एक सर्वजन-विदित प्रसिद्ध अवस्था है, उसका निरूपण अनावश्यक समझ जीवात्मा की स्वप्न अवस्था का वर्णन करने की भावना से पहला पूर्वपक्षसूत्र कहा—

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

[सन्ध्ये] स्वप्न में [सृष्टिः] सृष्टि—रचना [आह] कही जाती है [हि] निश्चय से। स्वप्न में निश्चयपूर्वक सृष्टि अर्थात् रचना का कथन शास्त्रद्वारा किया जाता है।

सूत्र में 'सन्ध्य' पद का अर्थ 'स्वप्न' है, क्योंकि यह जाग्रत और सुषुप्ति की सन्धि में होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।३।९] में कहा—'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्'। स्वप्न का वर्णन करते हुए आगे कहा—'स यत्र स्वपिति' जब वह सोजाता है, तब 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' [बृ० ४।३।१०] स्वप्न में वहां न रथ होते हैं, न बैल या घोड़े और न सड़कें; पर यह उन सबकी वहां सृष्टि—रचना करलेता है। इस विषय में यह सन्देह है, कि क्या वहां जाग्रत के समान सच-मुच रथ आदि पदार्थों की रचना करली जाती है, अथवा वह उन पदार्थों का विपरीत ज्ञानमात्र है? पूर्वपक्षरूप में सूत्रकार ने कहा, स्वप्न में उन पदार्थों की रचना करली जाती है, क्योंकि उपनिषद् के उक्त वाक्य में स्पष्टरूप से 'सृजते' कहा है, जिसका मुख्य अर्थ है—सृष्टि करलेता है। इसी सन्दर्भ के अन्त में कहा—'स हि कर्त्ता' क्योंकि वह कर्त्ता है। स्वप्न में उस रचना का करनेवाला जीवात्मा है। इसप्रकार जीवात्मा स्वप्न अवस्था में रथ आदि पदार्थों की रचना करलेता है, यह मानना युक्त है। वहां रथ आदि का विपरीतज्ञानमात्र है, यह कहना उपयुक्त न होगा ॥१॥

इसी विषय में सूत्रकार ने अन्य हेतु का निर्देश किया—

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

[निर्मातारं] निर्माता—रचनेवाला [च] और [एके] एक शाखाध्यायी [पुत्रा-दयः] पुत्र आदि [च] और। कठ शाखा के आचार्यों ने स्वप्न में आत्मा को निर्माता बताया है, पुत्र आदि वे अर्थ हैं, जिनका वह निर्माण करता है।

कठ उपनिषद् [२।२।८] में पाठ है—'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' प्रत्येक 'काम' की रचना करता हुआ यह जो पुरुष सोये हुओं में जागता है। यहां 'काम' पद से पुत्र आदि अभिप्रेत हैं। यद्यपि 'काम' पद का प्रयोग इच्छाविशेष के अर्थ में होता है, तथापि प्रकरण के अनुसार यहां उसका तात्पर्य पुत्र आदि से है। जिन अर्थों की कामना कीगई है, उनको प्रथम बताया—'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्' यहां सौ-सौ वर्ष की आयु वाले बेटे पोते तथा बहुतसे पशु हाथी सोना घोड़ा आदि वरने के लिये कहा गया है। इन सब काम्य अर्थों को बताकर

आगे कहा—'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' [कठ० १।२४], मैं तुझे सब कामों का भागी बनाता हूं। इससे प्रकट है, कि पहले जो पुत्र आदि काम्य अर्थ कहे हैं, उन्हींको लक्ष्य कर यहां [२।२।८ में] 'काम' पद का प्रयोग है। इसलिये उक्त सन्दर्भ में 'काम' पद का इच्छाविशेष अर्थ न समझकर पुत्र आदि काम्य अर्थों में उसका तात्पर्य समझना चाहिये। स्वप्न में उनके निर्माण का कथन यह स्पष्ट करता है, कि जाग्रत के समान स्वप्न में भी उनकी रचना वास्तविक है, विपरीतज्ञानमात्र नहीं। बृहदारण्यक [४।३।१४] में कहा—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' आत्मा का यह जागरित देश ही है, क्योंकि जो जागते हुए देखता है, वह सोते हुए। फलतः जाग्रत के समान स्वप्न की सृष्टि को भी यथार्थ मानना चाहिये ॥२॥

ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष कहा—

मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

[मायामात्रं] विपरीत ज्ञानमात्र (है, स्वप्न) [तु] तो [कात्स्न्र्येन] पूर्णरूप से [अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्] न प्रकट हुए स्वरूपवाला होने से। स्वप्न तो वस्तुतः विपरीत ज्ञानमात्र है, क्योंकि वहां वस्तु का स्वरूप पूर्णरूप से प्रकट नहीं होता।

स्वप्न में जो रथ आदि पदार्थों का दर्शन होता है, वह केवल विपरीतज्ञानमात्र है, उनका वहां निर्माण नहीं होता, वह प्रतीतिमात्र है, धोखा है, भ्रान्ति है। 'माया' पद का अर्थ निघण्टु [३।९] में 'प्रज्ञा' अर्थात् 'ज्ञान' किया है। यहां सामान्यज्ञान को न कहकर यह पद विपर्ययज्ञानविशेष का बोधक है। इसका यह अर्थ लोक एवं शास्त्र में प्रसिद्ध है। स्वप्न में रथ आदि का वास्तविक अस्तित्व न होकर वह केवल विपरीतज्ञान इसलिये माना जाता है, वहां अर्थ का अभिव्यञ्जन पूर्णरूप [कात्स्न्र्य] से नहीं होपाता। पूर्णरूप से न होने [कात्स्न्र्य] का तात्पर्य है—किसी वस्तु का उचित देश एवं काल में उचित निमित्तों से न होना। स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थों में ये सब बात रहती हैं।

स्वप्न में शरीर के अन्दर हम बड़े-बड़े पहाड़ नदी जंगल सड़कें नगर रथ घोड़ा आदि देखते हैं। यह इनके दीखने का उचित देश नहीं है; इनका इसप्रकार वास्तविक अस्तित्व देह के अन्दर सर्वथा असंभव है। सोने का समय रात्रि है, और स्वप्न सब रात्रि में देखे जाते हैं। पर उस काल में दिन सूर्य तथा वहां होनेवाले सब कार्यों को देखते हैं। इन सबके लिये वह उचित काल नहीं है। फिर थोड़े काल में स्वप्न के अन्दर कई दिन और महीने बीतते दिखाई देते हैं, यह भी कालविषयक अनौचित्य है। अनेक बार स्वप्न में दीखती एक वस्तु तत्काल बदल जाती है, अभी जो घोड़ा दीखता है, वही कुत्ता दीखने लगता है। फिर उस अवस्था में हमारे चक्षु आदि करण सर्वथा निर्व्यापार रहते हैं, पर स्वप्न में सब इन्द्रियों का व्यापार प्रतीत होता है। यह सब निमित्तविषयक अनौचित्य है। बिना निमित्त वस्तु का बदलजाना तथा बिना करणव्यापार के देखना आदि। फिर

स्वप्न में देह के अन्दर रथ आदि के निर्माण की कल्पना भी नहीं कीजासकती, वहां एक लकड़ी का छोटा टुकड़ा भी नहीं समासकता, रथ का कारखाना कैसे चलेगा ? इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है, कि जाग्रत में प्रतीत होनेवाले अर्थों की बाधा नहीं होती, परंतु स्वप्न में देखे पदार्थ जागते ही बाधित होजाते हैं, उनका कुछ पता नहीं लगता। जागने पर तो क्या, कभी-कभी स्वप्न में ही उनकी बाधा होजाती है। अभी जो रथ दीखता है, क्षण में वही पेड़ बन जाता है, वही क्षण में पत्थर। ये सब स्थितियां स्पष्ट करती हैं, कि स्वप्न में पदार्थ का अस्तित्व वास्तविक नहीं है, वह विपर्ययज्ञानमात्र है।

देशविषयक अनौचित्य के विषय में कहा जासकता है, कि स्वप्न में रथ नदी पर्वत आदि पदार्थ देह के अन्दर दीखते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। प्रत्युत अपने-अपने देश में स्थित हुए दीखते हैं। उस दशा में आत्मा मनसहित देह से बाहर जाकर उन्हें देखता है। तब स्वप्न में चलना ठहरना आदि का होना संभव होसकता है। बृहदारण्यक में कहा–'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा स ईयतेऽमृतो यत्र काममू' [४।३।१२] वह अमर [पंछी] घोंसले से बाहर चलकर वहां पहुंचजाता है, जहां उसकी कामना है। स्वप्न में जीव सूक्ष्मदेह के साथ बाहर जा विद्युत् वेग से घूमघामकर अतिशीघ्र अपने स्थूलदेह में लौट आता है। ऐसी स्थिति में देशविषयक अनौचित्य का कहना असंगत है।

स्वप्न में देशविषयक अनौचित्य का यह समाधान ठीक नहीं है। पहली बात यह है, कि स्थूलदेह से आत्मा के बाहर निकल जाने पर देह जीवित नहीं रहसकता, श्वास-प्रश्वास की गति, रक्तसंचार आदि क्रिया तत्काल रुद्ध होजायेंगी, आत्मा चाहे कितने भी अल्पकाल के लिये बाहर जाय। शयनकाल में ये सब क्रिया यथावत् होती रहती हैं। इसके अतिरिक्त अनेक बार व्यक्ति अपने आपको शयनकक्ष से बहुत दूर देखता है, कहीं पर्वत पर चढ़ रहा है, नदी में स्नान कर रहा है, तत्काल नींद टूट जाती है, पर तब वह अपने शयनकक्ष में ठीक वैसा ही जागता है जैसा सोया था, न पर्वत पर चढ़ने का वेष है, न नदी में स्नानकाल का नग्न देह। फिर स्वप्नकाल में अन्य व्यक्ति उस स्थूलदेह को शयनकक्ष में लेटा देखते हैं, जबकि स्वप्नद्रष्टा अपने आपको अपने स्थूलदेह के साथ पर्वत पर चढ़ता और नदी में स्नान करता देखता है। इससे स्पष्ट होता है, कि स्वप्न देह में दीखते हैं, देह से बाहर नहीं। बृहदारण्यक [२।१।१८] में बताया–'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते' अपने शरीर में यथारुचि घूमा करता है। इसलिये स्वप्न में आत्मा शरीर के अन्दर रहता है, बाहर नहीं जाता, यह निश्चित है। इस विषय में 'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा' [बृ० ४।३।१२] इत्यादि सन्दर्भ को गौण समझना चाहिये। स्वप्न में देह के अन्दर रहता आत्मा ऐसा प्रतीत होता है, जैसे बाहर चला गया हो। तात्पर्य यह, कि जैसे स्वप्न में रथ आदि की सत्ता नहीं, उनकी भ्रान्त प्रतीतिमात्र है, ऐसे ही स्वप्न में चलना-फिरना आदि केवल भ्रम है।

इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थों की वहां कोई

वास्तविक सत्ता नहीं है। बृहदारण्यक [४।३।१०] में स्वप्न के स्वरूप का निर्देश करते हुए स्पष्ट कहा—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' न वहां रथ हैं, न रथ में जुड़नेवाले घोड़े या बैल और न सड़कें। स्वप्न में इनकी सत्ता का शास्त्र निषेध करता है। स्वप्न वस्तुतः विपर्ययज्ञानमात्र है। जाग्रत अवस्था में व्यक्ति जो देखता है, वही स्वप्न में स्मृतिरूप से उभरता है। निद्रादोष के कारण उसमें जाग्रत जैसी व्यवस्था नहीं रहती। स्वप्न केवल स्मृतिरूप है, यह तथ्य इसकारण भी प्रमाणित है, कि जन्मान्ध व्यक्ति को रूपविषयक स्वप्न कभी नहीं होता, न वह स्वप्न में कभी अपने आपको चक्षुष्मान् देखता है। जाग्रत अवस्था में अनुभूत प्रत्येक विषय स्वप्न में स्मृतिरूप से भासता है। उपनिषद् [बृ० ४।३।१४] में स्पष्ट बताया—'यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः' जाग्रत अवस्था में जिन वस्तुओं को देखता है, सोता हुआ उन्हींको देखता है। इसलिये स्वप्न स्मृतिमात्र है। वहां जो जाग्रत अवस्था से विपरीत अटपटी-सी बातें प्रतीत होती हैं, उसका कारण उपनिषद् [बृ० ४।३।२०] में बताया—'यदेव जाग्रद् भयं पश्यति तदविद्यया मन्यते' जाग्रत अवस्था में जिस भय को देखता है, स्वप्न में उसे अविद्या—अज्ञान के कारण भय मानलेता है। वस्तुतः भय का वहां कोई कारण उपस्थित नहीं रहता। वस्तुस्थिति को न जानने का कारण उस समय निद्रादोष है। उसीके कारण तब स्मृतिक्रम में अविद्या—अज्ञान अर्थात् विपर्यय होजाता है।

यद्यपि प्रश्न उपनिषद् [४।५] में कहा है—'दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च' दृष्ट अदृष्ट, श्रुत अश्रुत, अनुभूत अननुभूत सब स्वप्न में प्रतीत होता है; तब स्वप्न को स्मृतिमात्र समझना अप्रामाणिक होगा, यह कहा जासकता है। परन्तु प्रश्नोपनिषद् के सन्दर्भ में ऐसी भावना नहीं है, उसका केवल इतना तात्पर्य है, कि जाग्रत अवस्था में वस्तुसमुदाय जैसा अथवा जिसप्रकार देखा जाता है, स्वप्न में अनेक बार वैसा नहीं दीखता, इसी भावना से अदृष्ट अश्रुत एवं अननुभूत का देखना स्वप्न में कहा है। यह अयथाभाव अविद्या के कारण स्वप्नद्रष्टा समझता है। इसीलिये 'अथ रथान्·····सृजते' [बृ० ४।३।१०] इत्यादि सन्दर्भ में 'सृजते' क्रियापद का मुख्य अर्थ न लेकर गौण अर्थ समझना चाहिये। जाग्रत में देखे हुए से स्वप्न में कुछ व्यतिक्रम होने से 'सृजते' कह दिया गया है; वस्तुतः वहां किसी रथ आदि का सर्जन—निर्माण नहीं होता। उस अवस्था में आत्मा को कर्त्ता [बृ० ४।३।१०] भी स्वप्न-दर्शन की सृष्टि का हेतु होने से कहा गया है, रथादि पदार्थ का स्रष्टा होने से नहीं।

'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति' [कठ० २।२।८] इत्यादि सन्दर्भ के आधार पर जो जीवात्मा को स्वप्न में निर्माता कहा गया है; वस्तुतः वह जीवात्मा का प्रसंग न होकर समष्टिकालिक परब्रह्म का वर्णन है। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' [कठ० १।२।१४] इ वाक्यस्थ परब्रह्म के वर्णन का है, तथा निगमन भी 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म' [कठ ५।३।८] इत्यादि से परब्रह्मविषयक है। फलतः स्वप्न में किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती,

स्वप्न केवल विपर्ययज्ञानरूप है, स्मृतिमात्र है, यह निश्चित होता है ॥३॥

इसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

[सूचकः] सूचक [च] भी [हि] क्योंकि [श्रुतेः] श्रुति से [आचक्षते] कहते हैं [च] और [तद्विदः] उसके—स्वप्न के जाननेवाले। स्वप्न के जाननेवाले कहते हैं, कि स्वप्न भावी शुभ-अशुभ का सूचक होता है, क्योंकि श्रुति से यह निश्चयपूर्वक जाना जाता है।

अनेक स्वप्न आगे होनेवाले शुभ-अशुभ के सूचक होते हैं, यह छान्दोग्य उपनिषद् [५।२।९] के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने' जब काम्य कर्मों में स्वप्न के अन्दर किसी स्त्री को देखता है, तो उस स्वप्नदर्शन में समृद्धि—सिद्धि अर्थात् सफलता समझनी चाहिये। ऐतरेय आरण्यक [३।२।४] में आता है—'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' जब वह काले रंग के काले दान्तों वाले पुरुष को देखता है, वह इसको मारडालता है। ऐसी आकृति का स्वप्न में दीखना मृत्यु का द्योतक है, मृत्युकाल समीप आनेवाला है, यह इससे सूचित होता है। स्वप्नशास्त्र के जानकार कहते हैं, कि स्वप्न में हाथी या घोड़े पर चढ़ना अथवा चंवर छत्र आदि का प्राप्त होना शुभ की सूचना देता है। स्वप्न में तैल मर्दन तथा गधे या ऊंट पर सवारी करना अशुभ का—रोग आदि होने का सूचक होता है।

स्वप्न की इन स्थितियों को शुभ-अशुभ का सूचक बतलाना यह स्पष्ट करता है, कि ये पदार्थ न वहां उत्पन्न होते हैं, न वस्तुतः वैसी घटना [हाथी आदि पर चढ़ना] वहां होती है; वह केवल अपनी आन्तरिक प्रबल भावनाओं के प्रभाव से प्रतीतिमात्र होता है। तात्पर्य यह, कि जो घटना जाग्रत अवस्था में हमारे अनुभव में आती है, वह निद्रादोष से कुछ विपर्यस्त होकर प्रबल संस्कारों के उभार से उस रूप में प्रतीत होती है। इसलिये स्वप्न को विपर्ययज्ञानमात्र समझना प्रमाणसिद्ध है, वहां किसी नई वस्तु का होना संभव नहीं ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जाग्रत अवस्था में पुरुष के जैसे बन्ध और मोक्ष घट जाते हैं, वैसे यह कभी स्वप्नदशा में देखता है। उनकी प्रतीति स्वप्न में कैसे होजाती है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥

[पराभिध्यानात्] दूसरे के गहरे चिन्तन से [तु] तो [तिरोहितं] तिरोहित—अभिभूत है [ततः] उस कारण से [हि] क्योंकि [अस्य] इसके—स्वप्नद्रष्टा के [बन्ध-विपर्ययौ] बन्ध और मोक्ष। अन्यपदार्थों के गहरे चिन्तन से बुद्धिसत्त्व आच्छादित रहता

है, उसीकारण स्वप्न में बन्ध-मोक्ष प्रतीत तेहो हैं।

जिज्ञासा का आशय यह है, कि स्वप्न में जिस व्यक्ति को बन्ध व मोक्ष की प्रतीति होती है, वह विषय उसका अनुभूत नहीं है, फिर भी वैसी प्रतीति का होना स्वप्न में नई सृष्टि की संभावना को प्रकट करता है। सूत्रकार का तात्पर्य है, व्यक्ति जाग्रत दशा में उन विषयों का गंभीरतापूर्वक तीव्र चिन्तन करता है, उन संस्कारों से बुद्धिसत्त्व प्रभावित होता है, उसीसे स्वप्न में वैसी प्रतीति होजाती है।

सूत्र के 'पर' पद का तात्पर्य रथ वेश्म आदि से लेकर मोक्षपर्यन्त वे सब पदार्थ हैं, जिनका व्यक्ति के जीवन से सम्पर्क रहता है। 'अभिध्यान' पद का अर्थ है—गम्भीर चिन्तन। रथादि साधारण पदार्थों से लेकर मोक्षपर्यन्त विषयों का गंभीर चिन्तन करने से उस विषय के जो संस्कार आत्मा में बैठते हैं, उनसे बुद्धिसत्त्व तिरोहित—अभिभूत रहता है। तात्पर्य यह, कि उन संस्कारों के तीव्र होने के कारण उनके उभरने में बुद्धिसत्त्व सहयोग करता है, स्वाप्नप्रतीति के रूप में वे उद्बुद्ध होजाते हैं। इसप्रकार स्वप्न में मोक्ष एवं सद्यः अनन्तर बन्ध की प्रतीति का निमित्त वे तीव्र संस्कार हैं, जो जाग्रत में उस विषय के गंभीर चिन्तन से आत्मा में उत्पन्न होगये हैं। इसलिये जैसे जाग्रत में अनुभूत अन्य विषयों का स्वप्न में संस्कारवश प्रतिभास होता है, वैसे बन्ध-मोक्ष का होता है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। सूत्र में 'विपर्यय' पद मोक्ष का बोधक है, क्योंकि मोक्ष, बन्ध का विपर्यय—उलट है। फलतः ऐसी प्रतीति से स्वप्न में नई सृष्टि की कल्पना करना सर्वथा निराधार है ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, फिर ये ऐसे विचित्र स्वप्न किन कारणों से हुआ करते हैं? आचार्य ने समाधान किया—

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥६॥

[देहयोगात्] देहसम्बन्ध से [वा] अथवा (अन्य से) [सः] वह [अपि] भी। देहसम्बन्ध से अथवा अन्य कारण से भी स्वप्न होता है।

स्वप्न का कारण संस्कार बताया गया, परन्तु संस्कारों का बनना और बनकर कालान्तर में उद्बुद्ध हो प्रतीति का कराना देहयोग से होता है। आत्मा का सम्बन्ध जब-तक देह के साथ न हो, तबतक न संस्कार उत्पन्न होते हैं, न उद्बुद्ध होकर किसी प्रतीति को करा सकते हैं। आत्मा देहसम्बन्ध के बिना किसीतरह का अनुभव करने में असमर्थ रहता है। जब अनुभव न होगा, संस्कार भी न होंगे। फिर संस्कारों के उद्बोधन से स्वप्न का होना भी देहसम्बन्ध के बिना संभव नहीं। इसलिये स्वप्न के होने में आत्मा का देहसम्बन्ध एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

सूत्र में 'वा' पद इस निमित्त के विकल्प का द्योतक है। स्वप्नों की विचित्रता में जहां संस्कार निमित्त हैं, वहां देहगत-विशेषता तथा धर्म-अधर्म भी कारण होते हैं। देह

में वात पित्त कफ धातुओं की विषमता स्वप्नों के वैचित्र्य में निमित्त है। देह में वात प्रधान होने पर उड़ने के स्वप्न अधिक आते हैं, पित्त की प्रधानता में अग्नि एवं अन्य चमकदार पदार्थ प्रायः दीखते हैं, कफ की प्रधानता में नदी पर्वत हरे जंगल खेत आदि के दृश्य सामने आया करते हैं। कभी इस विचित्रता में धर्म-अधर्म भी कारण होते हैं। धर्म के जभार में शुभ, उल्लासभरे व सुखद स्वप्न आते हैं, ऐसे ही अधर्म के कारण भयजनक, निन्दित व दुःखप्रद स्वप्न दिखाई देते हैं। स्वप्नों की विचित्रता के ये सब कारण संभव हैं।

आचार्य शंकर ने इन दो [५, ६] सूत्रों की जो व्याख्या की है, वह कुछ अस्पष्ट है, तथा प्रकरण के अनुकूल नहीं है। इन सूत्रों में प्रकरणानुसार स्वप्नविषयक चर्चा का होना अभिमत समझना चाहिये ॥६॥

जीवात्मा की स्वप्न अवस्था का निरूपण किया गया, अब सुषुप्ति अवस्था की परीक्षा होनी चाहिये, इस भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

[तदभावः] उसका अभाव–स्वप्न का अभाव (सुषुप्ति है), [नाडीषु] नाड़ियों में [तच्छ्रुतेः] उनकी श्रुति से [आत्मनि] आत्मा-परमात्मा में [च] और। स्वप्न का अभाव सुषुप्ति है, तब जीवात्मा नाड़ियों और परमात्मा में अवस्थित रहता है, यह उस विषय की श्रुति से ज्ञात होता है।

सुषुप्ति अवस्था जीवात्मा की कब होती है, इसके कई प्रकार उपनिषदों में देखे जाते हैं। छान्दोग्य [८।६।३] में बताया—'यत्र···स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' जब आत्मा स्वप्न नहीं देखता है, तब उन नाड़ियों में बैठा होता है। बृहदारण्यक [२।१।१९] में कहा—'अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' जब यह आत्मा सुषुप्त होता है, जब कुछ नहीं जानपाता, हिता नामक बहत्तर हजार नाड़ियां हृदयदेश से पुरीतत् की ओर फैलती हैं, उनके साथ सम्बन्ध विच्छिन्न कर आत्मा 'पुरीतत्' में शयन करता है। अन्यत्र छान्दोग्य [६।८।१] में कहा–'यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति' जब यह पुरुष [जीवात्मा] सुषुप्ति अवस्था में होता है, तब 'सत्' से सम्बद्ध होता है, परमात्मा से मिला रहता है। यही बात बहदारण्यक [४।३।२१] में बताई–'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' परब्रह्म से संपृक्त हुआ यह न बाह्य अर्थ को जानता है, न आन्तर को। इन सब स्थलों में तीन आधारों पर अथवा तीन प्रकार से सुषुप्ति अवस्था का होना बताया—१. नाड़ियों में आत्मा का बैठ जाना; २. पुरीतत् में शयन करना; ३. परमात्मा में संपृक्त होजाना। विचारणीय यह है, कि सुषुप्ति के इन सब स्थानों का

विकल्प है, अथवा समुच्चय ? ये सब अलग-अलग सुषुप्ति के स्थान हैं, अथवा इन सब में एक ही सुषुप्ति होती है ?

सूत्रकार ने बताया, नाड़ियों और परमात्मा में इकट्ठा ही आत्मा का बैठना सुषुप्ति अवस्था है। परमात्मा के जानने का स्थान मस्तिष्कगत हृदयाकाश है; जीवात्मा का वही निवास है। वहां से समस्त शरीर में नाड़ीजाल बिछा हुआ है। वह नाड़ियों का मूल केन्द्रस्थान है, वह प्रदेश जिस आवेष्टन से घिरा रहता है, उसका नाम 'पुरीतत्' है। सुषुप्ति दशा में पुरीतत् से बाहर की ओर फैले नाड़ीजाल के साथ आत्मा का सम्बन्ध विच्छिन्न होजाता है, तब उक्त तीनों प्रकार के कथन में कोई अन्तर नहीं रहता। नाड़ियों में बैठ जाता है, अर्थात् नाड़ियों के मूलकेन्द्र में बैठा होता है, अथवा पुरीतत् में सोता है, अथवा परब्रह्म में संपृक्त होता है; ये सब कथन सुषुप्ति के एक ही स्थान को बताते हैं। यद्यपि आत्मा सदा वहीं रहता है, परब्रह्म से संपृक्त रहता है, पर जाग्रत और स्वप्न में आत्मा बाह्य और आन्तर विषयों से नाड़ीजाल व इन्द्रिय आदि द्वारा सम्बद्ध रहता है; वह सम्बन्ध तीसरी दशा में नहीं रहता, इसी आधार पर केवल ब्रह्म से संपर्क अथवा हृदयाकाश में शयन की बात कही गई है।

व्यावहारिक दृष्टि से यह ऐसी स्थिति है, जैसे कोई व्यक्ति अपने मकान के शयनकक्ष [सोने के कमरे] में पलंग पर सोया है; उसे इन सब रूपों में कहा जासकता है, कि वह मकान में सोया है, वह शयनकक्ष में सोया है, वह पलंग पर सोया है। इन सबमें एक ही शयनस्थान का निर्देश है। उपनिषद् के उक्त कथनों में पुरीतत् घर [मकान] के समान है, हृदयाकाश शयनकक्षस्थानीय है, अर्थात् कमरे की तरह है, परब्रह्म पलंग के स्थान पर समझा जासकता है। फलतः उपनिषद् के उक्त प्रसंगों में सुषुप्ति के एक स्थान का निर्देश है, वे सब अलग-अलग सुषुप्तिस्थान नहीं हैं ॥७॥

सुषुप्ति का एक स्थान है, इस तथ्य को प्रकारान्तर से प्रमाणित करने के लिये सूत्रकार ने कहा—

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

[अतः] इसलिये [प्रबोधः] जागना [अस्मात्] इससे—परमात्मा से। क्योंकि परमात्मा सुषुप्तिस्थान है, इसलिये उपनिषद् में कहा गया—इससे जागना—संगत होता है।

सुषुप्तिवर्णन के प्रसंग में कहा—'कुत एतदागात्' [बृ० २।१।१६] यह कहां से आगया ? अजातशत्रु ने सोये हुए पुरुष को जगाकर बालाकि से यह पूछा। इसके उत्तर में वहां कहा है—'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका···व्युच्चरन्ति' जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियां उठ खड़ी होती हैं, ऐसे इस आत्मा [परमात्मा] से सब प्राण—इन्द्रियां उठ खड़े होते हैं और सब लोक। छान्दोग्य [६।१०।२] में बताया—'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' सत् से आकर

नहीं जानते कि हम सत् से आये हैं। 'सत्' का तात्पर्य यहां ब्रह्म है। जहां से जागने का कथन है, वहां सोना अर्थात् उसे शयनस्थान मानना उचित है। परमात्मा से जागने का कथन यह स्पष्ट करता है, कि सुषुप्ति का वही स्थान है। शरीरावयव के रूप में उसका वर्णन करने की भावना से उसे पुरीतत् हृदयाकाश अथवा नाड़ी जाल कहा गया है। ऐसे निर्देश का आधार केवल यह है कि वह आत्मा का निवास है, और आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार वहीं होसकता है। वह अवस्था ऐसी है, कि जब जीवात्मा का बाह्य आन्तर जगत् से भोगरूप संपर्क नहीं रहता; इसी आधार पर सुषुप्ति का त ब्रह्म कहा है। जीवात्मा को यहां ब्रह्म का किसीतरह का ज्ञान नहीं होता, इसी ारण इसे तामस अथवा अज्ञान अवस्था माना जाता है ॥८॥

'अग्नि से चिनगारी के समान' दृष्टान्त के आधार पर कतिपय व्याख्याकारों ने जो यह समझा है, कि जीवात्मा और लोक आदि ब्रह्म के अंश अथवा कार्य एवं परिणाम हैं, वह निराधार है। कारण यह है, कि अग्नि और चिनगारी के पृथग्भाव को प्रकट करने में दृष्टान्त का तात्पर्य है। सोने और जागनेवाला निश्चित ही शयनस्थान से अतिरिक्त तत्त्व है। अन्यथा दृष्टान्त का असामञ्जस्य होगा। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, परमात्मा में अविभाग को प्राप्त हुआ जीवात्मा क्या वहीं प्रबुद्ध होता है, या अन्य ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

[सः] वह [एव] ही [तु] तो [कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः] कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि से। जो सोता है, वही आत्मा तो प्रबुद्ध होता है, यह कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि से जाना जाता है।

यदि जलराशि में जल की एक बूंद डाल दी जाय, उसी बूंद को जलराशि में से निकालना अशक्य है। क्या सुषुप्ति अवस्था का ऐसा ही स्वरूप है ? जहां जीवात्मा परमात्मा की गोद में पहुंचा अथवा परमात्मा में प्रविष्ट हुआ कहा जाता है। वहां से पुनः बाहर आने के लिये आग-चिनगारी का दृष्टान्त है। इससे सुषुप्ति अवस्था के अन्दर जीवात्मा का परमात्मा में जलराशि में जलबिन्दु के समान अविभाग को प्राप्त होजाना प्रतीत होता है। ऐसी दशा में सुषुप्ति के अनन्तर उसी आत्मा का प्रबुद्ध होना दुःसंपाद्य है।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया, सुषुप्ति के अनन्तर वही आत्मा जागता है, जो सोया था; इसलिये जलराशि में जलबिन्दु के समान जीवात्मा परब्रह्म में उस समय अविभाग को प्राप्त नहीं होता। बाह्य आन्तर जगत् से तब जीवात्मा का सम्बन्ध न होने की दशा को ऋषियों ने उस रूप में वर्णन किया है; वस्तुतः जीवात्मा स्वरूप से कभी परब्रह्मरूप में प्राप्त नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था भी ऐसी है। जीवात्मा का तब ह्म से पृथक् रहना निश्चित है। उपनिषद् में इस स्थिति को प्रकट करने के लिये

'सृष्टः' 'संपरिष्वक्तः' 'संपन्नः' इत्यादि पदों का प्रयोग है; इनसे यह तात्पर्य कदापि प्रकट नहीं होता, कि तब जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप होजाता है। इसका केवल इतना तात्पर्य है, कि वह उसके संपर्क में चला जाता है। यह कथन भी जगत् के साथ संपर्क न रहने पर आधारित है। जीवात्मा सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ अविभाग को प्राप्त नहीं होता, इस विषय में सूत्रकार चार हेतु प्रस्तुत करता है–१. कर्म, २. अनुस्मृति, ३. शब्द, ४ विधि।

'कर्म' पद का तात्पर्य प्रतिदिन किया जानेवाला कार्य है। जो व्यक्ति एक कार्य को प्रारम्भ करता है, वह उस दिन अधूरा रहजाता है, उसे वह अगले दिन पूरा करता है। वह जानता है, इतना कार्य मैंने कल किया, शेष आज करना है। यह व्यवहार तभी संभव होसकता है, जब यह माना जाय, कि जो व्यक्ति कल सोया था, वही आज प्रातः जागा है; सुषुप्ति दशा में उसकी वही स्थिति निर्बाध बनी रहती है। 'अनुस्मृति' का अर्थ प्रत्यभिज्ञा है। इसका तात्पर्य है, पहले अनुभूत अर्थ को उसी रूप में पहचानना। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर व्यक्ति अपने आपको अपने अन्य स्त्री पुत्र पशु मकान आदि को उसी रूप में पहचानता है, जिस रूप में उनको पहले जाना है। इससे प्रकट होता है, कि जो आत्मा सोया था, वही उठा है। 'शब्द' प्रमाण से यह अर्थ सिद्ध होता है। बृहदारण्यक [४।३।१६] में बताया–'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्यांद्रवति बुद्धान्तायैव' यह आत्मा जैसे जाग्रत से स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्त दशा में जाता है, जागने के लिये ठीक वैसे वापस आजाता है। सुषुप्त से स्वप्न में और स्वप्न से पुनः जाग्रत दशा में आजाता है। यह वर्णन प्रकट करता है, कि सोने से पहले और पीछे की स्थिति में वही एक आत्मा रहता है। सुषुप्त दशा में वह ब्रह्म के साथ अविभाग को प्राप्त नहीं होता। छान्दोग्य के स्थलों [६।८।३॥८।३।२] में भी यह अर्थ कहा है। सूत्र में 'विधि' पद का अर्थ है–विधान अर्थात् शास्त्र का आदेश। वेद आदेश देता है–'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' [यजु० ४०।२] कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। यदि प्रत्येक दिन सुषुप्त दशा में आत्मा ब्रह्मस्वरूप होजाय, तो यह विधान निरर्थक होगा; तथा अन्तःकरण की शुद्धि एवं आत्मज्ञान के लिये जिन विधियों व उपासनाओं का अनुष्ठान किया जाता है, वह सब व्यर्थ होगा। फलतः यह निश्चित होता है, कि सोकर आत्मा वही जागता है, जो सोया था। सुषुप्त दशा में ब्रह्म के साथ आत्मा अविभक्त होजाता है, ऐसा समझना युक्त नहीं ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जाग्रत अवस्था में कभी कोई व्यक्ति अचानक बेहोश होजाता है, अथवा तीव्र आघात व विशिष्ट औषध आदि के प्रयोग से ऐसी दशा होजाती है। यह उक्त दशाओं में से कौनसी दशा होगी ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

मुग्धेऽर्द्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥१०॥

[मुग्धे] मोह अथवा मूर्च्छा में [अर्द्धसंपत्तिः] आधी सुषुप्त दशा [परिशेषात्]

परिशेष से। जब व्यक्ति मोह अथवा मूर्च्छा को प्राप्त होता है, उसकी वह आधी सुषुप्त दशा समझनी चाहिये; परिशेष से यह ज्ञात होता है।

देही आत्मा की एक मूर्च्छा अवस्था देखी जाती है। जब कोई व्यक्ति इस दशा को प्राप्त होता है, उसे मूर्च्छित अथवा मुग्ध कहा जाता है। यह अवस्था न जाग्रत है न स्वप्न। उन दोनों दशाओं में विषय का ज्ञान होता रहता है, मूर्च्छा में वह नहीं होता। इसे सुषुप्त कहना कठिन है, क्योंकि मूर्च्छा में सुषुप्ति से कुछ विलक्षणता देखी जाती है। मूर्च्छा दशा में कभी-कभी देर तक सांस नहीं आता, मुख कान्तिहीन प्रतीत होता है, शरीर में कम्पन और नेत्र कभी फटे-से दिखाई देते हैं। सुषुप्ति में यह सब नहीं होता, वहां सांस निरन्तर समानरूप से चलता रहता है, मुख की कान्ति में तिलमात्र अन्तर नहीं आता, न शरीर कांपता है न आंखें फटी दीखती हैं; सुषुप्ति दशा में व्यक्ति प्रसन्नवदन दिखाई देता है, तथा हाथ के स्पर्शमात्र से जाग जाता है, पर मूर्च्छित व्यक्ति बलपूर्वक झकझोरने पर भी चेत में नहीं आता। फिर मूर्च्छा और सुषुप्ति के कारण भी भिन्न हैं, मूर्च्छा तीव्र आघात आदि से होती है, और सुषुप्ति थकावट से। इसलिये मूर्च्छा को सुषुप्ति नहीं माना जासकता।

देही की एक अवस्था मृत्यु है, पर मूर्च्छा मृत्यु भी नहीं। मूर्च्छा में प्राणों की गति बनी रहती है, और देह गरम रहता है; मृत्युदशा में यह सब नहीं रहता। तब मूर्च्छा को कौनसी अवस्था माना जाना चाहिये? जाग्रत आदि के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था तो है नहीं? सूत्रकार ने बताया, मूर्च्छा को अर्द्धसुषुप्ति कहा जासकता है, क्योंकि यही एक ऐसी अवस्था बचजाती है, जिसमें मूर्च्छा की कुछ समानता है। किसीप्रकार के ज्ञान आदि का न होना समानता है, दोनों में आकार आदि का उक्त वैलक्षण्य होने से 'अर्द्ध' कहा है। इसप्रकार मूर्च्छा को अर्द्धसुषुप्ति समझना चाहिये ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जीवात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं का उपपादन किया गया; क्या इन अवस्थाओं से ब्रह्म का सम्बन्ध होता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥

[न] नहीं [स्थानतः] स्थान से [अपि] भी [परस्य] पर को [उभयलिङ्ग] दोनों धर्मवाला [सर्वत्र] सब जगह [हि] क्योंकि। जीवात्मा के संपर्क से और स्वतः परमात्मा को स्वप्न आदि नहीं होते, क्योंकि सर्वत्र श्रुति स्मृति में परमात्मा का अन्दर बाहर दोनों जगह स्थित रहनेवाला बताया है।

सूत्र में 'परः' पद जीवात्मा और प्रकृति तथा उसके कार्यों से भिन्न परब्रह्म का निर्देश करता है। परब्रह्म सर्वान्तर्यामी होने से जीवात्मा में विद्यमान रहता है, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः···यस्यात्मा शरीरम्' [श० ब्रा० १४।६।७।३०]। जो आत्मा

में स्थित रहता है, आत्मा से भिन्न है, आत्मा जिसका शरीर है। जीवात्मा परब्रह्म का वासस्थान है, इसलिये सूत्र में 'स्थान' पद जीवात्मा का निर्देश करता है। जीवात्मा को स्वप्न आदि होते हैं, वह परमात्मा का वासस्थान होने से उसको भी स्वप्न आदि अवस्था होनी चाहियें। सूत्रकार ने बताया 'स्थानतः' अर्थात् जीवसम्पर्क से परब्रह्म को स्वाप आदि नहीं होते। सूत्र में 'अपि' पद 'स्वतः' का बोधक है। तात्पर्य यह, कि परमात्मा को स्वाप आदि अवस्थाओं का प्राप्त होना न जीवसम्पर्क से संभव है, न स्वतः ; जीवात्मा की तरह परमात्मा को स्वतन्त्ररूप से यह अवस्था प्राप्त होती हों, यह भी नहीं है।

कारण यह है, कि परमात्मा सर्वत्र श्रुति स्मृतियों में प्रत्येक वस्तु के अन्दर और बाहर स्थित रहनेवाला बताया गया है। पानी क्यारी के आकारधर्मवाला उसी समय होता है, जब वह केवल क्यारी से घिरा रहता है। पर जब पानी क्यारी के अन्दर बाहर सब जगह आप्लावित रहता है, तब वह क्यारी के आकाररूप धर्म से प्रभावित नहीं होता। यदि परब्रह्म केवल जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान रहता, तो यह संभावना हो सकती थी, कि वह जीवात्मा के स्वप्न आदि धर्मों से प्रभावित हो; परन्तु वह अन्दर और बाहर इन दोनों धर्मों के साथ सदा सर्वत्र समानरूप से विद्यमान रहता है। इसलिये जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से विद्यमान होते हुए भी परब्रह्म में जीवात्मा के स्वाप आदि धर्मों का कोई प्रभाव नहीं होता।

यह तथ्य श्रुति स्मृतियों से प्रमाणित है, कि परब्रह्म प्रत्येक वस्तु के अन्दर बाहर सब जगह रहता है—'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' [ऋ० १०।९०।१] 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' [यजु० ४०।५], वह पृथिवी आदि सब लोक लोकान्तरों को सब ओर से घेरे है और वह उनसे भी आगे अनन्तरूप में विद्यमान है। वह सब पदार्थों के अन्दर और बाहर विद्यमान रहता है। फलतः जीवात्मा के संपर्क से परब्रह्म को स्वाप आदि का होना संभव नहीं। जीवात्मा को स्वप्न आदि अवस्था अभिमानी देह के साथ संबन्ध होने पर होती हैं। परब्रह्म को स्वतः स्वप्न आदि अवस्थाओं का होना इसीलिये असंभव है, कि उसका कोई अपना अभिमानी देह नहीं होता। ऐसे देह की प्राप्ति कर्मानुसार फल भोगने के लिये होती है; परब्रह्म के कोई कर्म न होने से फलभोग के लिये ऐसे देह का प्राप्त होना असंभव है। परब्रह्म को वेद 'अकायम्' [यजु० ४०।८] कहता है। इसलिये स्वतः उसको स्वप्न आदि अवस्थाओं का होना किसी प्रकार संभव नहीं ॥११॥

शिष्य आशंका करता है, शास्त्र में स्थानभेद से ब्रह्म का भेद, अंगवर्णन तथा उसके शरीर का वर्णन उपलब्ध होता है; तब पूर्वसूत्रोक्त अर्थ कैसे संभव होगा ? आचार्य सूत्रकार ने आशंकानिर्देशपूर्वक समाधान किया—

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

[न] नहीं [भेदात्] भेद से [ ] ऐसा यदि (कहो, तो वह ठीक

[न] नहीं, [प्रत्येकं] प्रत्येक में [अतद्वचनात्] न वैसा कथन होने से। शास्त्र में भेद-कथन से पूर्वसूत्र में प्रतिपादित अर्थ ठीक नहीं; ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि शास्त्र में प्रत्येक जगह भेद का कथन नहीं है, अभेद का कथन है।

स्वतः और परतः [स्थानतः] परमात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं का जो निषेध किया गया, वह युक्त प्रतीत नहीं होता, कारण यह है, कि परमात्मा एक होते हुए स्थानभेद से उसका भेद शास्त्र में कहा है। जैसे एक आकाश घट पट मठ आदि स्थानभेद से भिन्नरूप में व्यवहृत होता है, ऐसे एक ब्रह्म उन-उन स्थानों के भेद से भिन्नरूप में व्यवहृत होता है। स्थानयोग से आदित्यपुरुष अक्षिपुरुष वैश्वानर आदि ब्रह्म के नामों का पृथक् निर्देश है। उसका रूप हिरण्यश्मश्रु और हिरण्यकेश वर्णन किया है। यद्यपि यह उसका वास्तविक रूप नहीं है, आदित्यस्थान के सम्बन्ध से इस रूप का वर्णन है। जैसे यहां आदित्यधर्म का सम्बन्ध ब्रह्म से बताया गया, ऐसे ही जीवात्मधर्म स्वप्न आदि का सम्बन्ध ब्रह्म से मानाजाना चाहिये। फिर ब्रह्म के देह व देहांगों का वर्णन शास्त्र में उपलब्ध है, तब इस रूप में देही होने पर उसे स्वप्न आदि होने चाहियें। छान्दोग्य [५।१८।२] में वर्णन है–'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' वैश्वानर आत्मा का मूर्धा द्युलोक है, चक्षु सूर्य है, प्राण वायु है, देह का मध्यभाग अन्तरिक्ष है, वस्ति [मूत्राशय] जल है, पैर पृथिवी है। मुण्डक उपनिषद् [२।१।४] में कहा–'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' द्युलोक उस परब्रह्म की मूर्धा है, चन्द्र सूर्य चक्षु हैं, दिशा श्रोत्र हैं, विस्तृत वेद वाणी हैं, वायु प्राण तथा समस्त विश्व हृदय है, पृथिवी पैररूप है, यह ब्रह्म समस्त विश्व का अन्तरात्मा है। वेदों के पुरुष सूक्तों में उस ब्रह्म को सहस्र सिर आँख व पैरवाला बताया है। इन वर्णनों से ब्रह्म जीवात्मा के समान देही प्रतीत होता है, तब स्वप्न आदि अवस्था उसकी जीवात्मा के समान संभव हैं।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया, ब्रह्म के विषय में उक्त कथन ठीक नहीं है। कारण यह है, कि शास्त्रीय प्रसंगों में सर्वत्र ब्रह्म को एकरूप वर्णन किया गया है। उक्त प्रसंगों में जहाँ देह व देहांगों का उल्लेख है, वह सब आलंकारिक है, ब्रह्म की सर्व-व्यापकता व सर्वान्तर्यामिता को प्रकट करता है। जो देहांग ऐसे वर्णनों में बताये गये हैं, वह ऐसे देहांग नहीं हैं जैसे जीवात्मा के। वह केवल उसके विश्वरूप व विराट्रूप की कल्पना है, ब्रह्म की महत्ता व सर्वशक्तिमत्ता को प्रकट करने के लिये। इसी तथ्य को यजुर्वेद [३२।८] में कहा–'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' यह समस्त विश्व जिसमें एक घोंसले के समान है; उसीमें यह विश्व बनता चलता और बिगड़ता रहता है, वह सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमात्मा एक-मात्र सब विश्व में ओत-प्रोत है। 'अव्यक्तात् पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च' [कठ

२।३।८] 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० ६।११] 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' [मुण्ड० २।१।४] इत्यादि सन्दर्भ तथा ऐसे अन्य अनेक [तै० ३।१०; बृ० २।५।१; छा० १।७।५; मुण्ड० २।१।२; यजु० १३।४६; अथर्व० १०।७।३२-३३] सन्दर्भ ब्रह्म की एकता का वर्णन करते हैं। इसलिये स्थानभेद से उसका भेद एवं विराट् वर्णन से उसके—जीवात्मसदृश देह के समान—देह की कल्पना करना सर्वथा निराधार है। फलतः स्वप्न आदि अवस्थाओं का उसमें मानाजाना संभव नहीं ॥१२॥

प्रकारान्तर से सूत्रकार ने उक्त अर्थ को दृढ़ करने की भावना से कहा—

अपि चैवमेके ॥१३॥

[अपि] भी [च] और [एवं] इसप्रकार [एके] कई। कई और भी शाखा-वाले इसप्रकार वर्णन करते हैं।

अथर्ववेदी आचार्यों ने माण्डूक्य उपनिषद् में प्रथम जीवात्मा के समान परब्रह्म के जागरितस्थान स्वप्नस्थान आदि का निर्देश किया है, तथा इसप्रकार स्वप्न आदि अवस्थाओं के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट किया है। अन्त में उपेक्षापूर्वक स्वयं उसका प्रत्याख्यान कर दिया है—'नान्तः प्रज्ञं, न बहिः प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानघनम्' [मा० ७] यहां पहले वाक्य से ब्रह्म का स्वप्न अवस्था के साथ सम्बन्ध प्रतिषिद्ध किया है, द्वितीय वाक्य से जाग्रत अवस्था, तृतीय से मूर्च्छा तथा चौथे वाक्य से सुषुप्ति अवस्था का प्रतिषेध है। प्रथम जो सम्बन्ध प्रकट किया है, वह—इस वाक्यशेषद्वारा निषेध किये जाने से—औपचारिक व आलंकारिक कहा जासकता है।

अन्यत्र भी ब्रह्म के नानात्व का निषेध उपलब्ध होता है—'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [कठ० २।१।११] शुद्ध अन्तःकरण से उसको जानने का प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, इस अनन्त विश्व में किसी रूप से वह नाना [अनेक] नहीं है। वह जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है, जो उसे नाना [अनेक] देखता है। फलतः परब्रह्म परमात्मा एकमात्र है, उसका भेदवर्णन औपचारिक है। तथा स्वप्न आदि अवस्थाओं का उसके साथ सम्बन्ध साक्षात् प्रतिषिद्ध किया गया है। इसलिये ब्रह्म के साथ स्वप्न आदि अवस्थाओं का सम्बन्ध किसीतरह सम्भव नहीं।

परमात्मा सर्वान्तर्यामी होने से आत्मा में स्थित रहता भी उसके धर्मों व अवस्थाओं से प्रभावित नहीं होता, वह समस्त गुण-दोषरहित होकर अपने विशुद्धरूप में अवस्थित रहता है। श्वेताश्वतर [१।१२] में कहा—'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्' नित्य ही आत्मा में स्थित यह ब्रह्म ज्ञातव्य है, इससे परे और कोई ज्ञातव्य नहीं है। भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति और नियन्ता परमात्मा को मानकर सब कह दिया गया,

समस्त विश्व इन तीन में आजाता है, इनको मानकर अन्य कुछ शेष नहीं रहजाता, मेरे लिये वह त्रिविध तत्त्व ब्रह्म है; महत्त्वपूर्ण हैं। तात्पर्य यह, कि ये तीनों अपनी-अपनी जगह हैं, कोई किसी अन्य के धर्मों से प्रभावित नहीं होता। फलतः परब्रह्म में स्वप्नादि जीवात्मधर्मों का संचरित होना सम्भव नहीं ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, शास्त्र में ब्रह्म को रूपवाला और रूपरहित बतानेवाले दोनों प्रकार के सन्दर्भ मिलते हैं, फिर उसे रूपरहित ही क्यों माना जाता है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥१४॥

[अरूपवत्] न रूपवाला [एव] ही, [हि] क्योंकि अथवा निश्चय से [तत्प्रधानत्वात्] उसके (अरूपता के) प्रधान होने से—मुख्य होने से। निश्चय से परब्रह्म अरूपवाला है, क्योंकि उसका मुख्यरूप से वैसा वर्णन किया गया है।

सूत्र के 'अरूपवत्' पद में 'रूप' का अर्थ है—आकार। जीवात्मा या परमात्मा का कोई आकार नहीं है, पर जीवात्मा देह के कारण आकारवाला कहाजाता है। साधारणतया देह के हाथ पैर सिर आदि अंग होते हैं, पर अनेक कृमि कीट आदि के देहों में ये अंग नहीं रहते, फिर भी वह देह है, और उसके कारण वह आत्मा देही अथवा आकारवाला कहा जाता है। परन्तु परमात्मा का ऐसा कोई रूप, आकार अथवा देह नहीं होता, वह निस्सन्देह अरूपवत् है, अशरीरी है। शास्त्र में मुख्यरूप से उसका ऐसा वर्णन है। 'अकायम्' [यजु० ४०।८] 'अशरीरम्' [कठ० १।३।२२] 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' [कठ० १।३।१५] 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' [मुण्ड० २।१।२] 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्-लोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' [बृ० ३।८।८] 'अपाणिपादो···अचक्षुः···अकर्णः' [श्वे० ३।१९] इत्यादि अनेक शास्त्रीय वचनों द्वारा परब्रह्म को मुख्यरूप से शरीर तथा शरीरांगों से सर्वथा रहित बताया है, इसलिये ब्रह्म को सदा ऐसा समझना चाहिये।

जिन सन्दर्भों में उसके देह व देहांगों का कथन है, वह उसके एक काल्पनिक विराट् स्वरूप का वर्णन है। वह केवल औपचारिक व आलंकारिक है। केवल गौण वर्णन, जिसका तात्पर्य ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता व सर्वान्तर्यामिता को प्रकट करना मात्र है। 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' [छा० ३।१४।४] इत्यादि वाक्य तथा उक्त देहांगादिवर्णनविषयक समस्त वचन इसीप्रकार के हैं। फलतः जब ब्रह्म सर्वथा अशरीरी है, तब उसका स्वप्नादि अवस्थाओं से सम्बन्ध नहीं होसकता, यह निश्चित है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है यदि ब्रह्म अरूप-अशरीरी है, तो उसके ऐसे रूप का वर्णन करनेवाले शास्त्रवचन क्या व्यर्थ है ? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥१५॥

[प्रकाशवत्] प्रकाश की तरह [च] और [अवैयर्थ्यात्] न व्यर्थ होने से। ब्रह्मविषयक प्रकाशवचनों की तरह रूपादिविषयक वचनों के व्यर्थ न होने से। जैसे ब्रह्म के प्रकाशविषयक वर्णन व्यर्थ नहीं हैं, ऐसे रूपादिविषयक वर्णन व्यर्थ नहीं हैं।

शास्त्र में कहा–'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [बृ० ४।४।१६] देव ज्योतियों के भी ज्योति उस अमृत की आयुभर उपासना करते हैं। लोक व शास्त्र में सूर्य अग्नि आदि ज्योति अर्थात् प्रकाशतत्त्व कहे जाते हैं। प्रस्तुत वाक्य में कहा, कि वह अमृत–परब्रह्म इन प्रकाशों का प्रकाश है। तब क्या परब्रह्म को ऐसा या इससे अतितीव्र प्रकाश माना जाता है ? सूर्य आदि भौतिक प्रकाश हैं, ब्रह्म चाहे इनकी अपेक्षा अतितीव्र प्रकाश हो, पर उसे ऐसा प्रकाश नहीं माना गया। ऐसा न माने जाने पर भी उक्त वाक्य व्यर्थ नहीं है, ब्रह्मविषयक ऐसे वर्णन का कुछ प्रयोजन है। उसे प्रकाशों का प्रकाश कहने का तात्पर्य है, वह इन प्रकाशों को उत्पन्न करनेवाला, इन सबका नियन्ता है। इन पदों का साधारण लोकप्रसिद्ध अर्थ लेकर वाक्यों की व्याख्या करना, और उसके अनुसार सामञ्जस्य न होने पर इनको व्यर्थ समझना ठीक नहीं है। ऐसे वर्णनों का विशेष अभिप्राय है। ये पद ब्रह्म के चेतनस्वरूप को प्रकट करते हैं। वह चेतनस्वरूप अमृत सत प्रकाशमय लोक-लोकान्तरों का उत्पादक नियन्ता व प्रेरक है, यह प्रकट करना प्रस्तुत वर्णन का प्रयोजन है; इसलिये इसे व्यर्थ नहीं कहा जासकता। यही बात रूपादि के वर्णन में है।

यह निश्चय किया जाचुका है, कि ब्रह्म का कोई रूप या शरीर नहीं है। परन्तु वेद व वैदिक साहित्य में अनेकत्र उसका ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' [ऋ० १०।८१।३; अथर्व० १३।२।२६; यजु० १७।१९] 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' [ऋ० १०।९०।१; यजु० ३१।१] 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' [श्वे० ३।१६] ऐसे वर्णनों का प्रयोजन ब्रह्म के विराट् रूप व उसके सर्वान्तर्यामी होने को बतलाना है। उक्त समस्त वाक्यों के शेषभाग में इसका निर्देश है। 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' [ऋ० १०।८१।३] उसे 'विश्वतश्चक्षुः' आदि इसलिये कहा है, कि वह सब विश्व का उत्पादक है। आगे 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा [विश्वतो वृत्वा, ऋ०] अत्यतिष्ठत्' वह परपुरुष समस्त भुवनकोश को व्याप्त कर ठहरा हुआ है, इसलिये उसे 'सहस्रशीर्षा' आदि कहा गया। 'सहस्र' पद अनेक अथवा असंख्य का द्योतक है। ये गिर आदि उसके निज अंग नहीं हैं; उसने सबको आवृत किया हुआ है, अथवा वह सबमें अन्तर्यामी होकर व्याप्त होरहा है, वह सबका आलम्बन है, इसी प्रयोजन से उसका उक्त वर्णन है। श्वेताश्वतर के वाक्य में यही भाव स्पष्ट किया–'सर्वमावृत्य तिष्ठति' [३।१६] वह सब-

को अपने अन्दर समेटे ठहरा हुआ है। फलतः भौतिक प्रकाश व उसके समान न होता हुआ भी वह प्रकाशों का प्रकाश विशेष प्रयोजन से बताया गया है, उसका विराट् वर्णन भी सप्रयोजन है, व्यर्थ नहीं ॥१५॥

इस अर्थ को स्पष्ट व दृढ़ करने के लिये सूत्रकार ने बताया, कि ऐसे आधारों पर शास्त्र ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप अथवा चेतनस्वरूप कहता है—

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

[आह] कहता है [च] और [तन्मात्रम्] तन्मात्र–तत्स्वरूप। और शास्त्र उसको प्रकाशमात्र व चेतनमात्र कहता है।

सूत्र में 'तत्' पद प्रकाश का परामर्श करता है, जो ब्रह्म के चेतनभाव का द्योतक है। ऋग्वेद [६।९।५] में कहा–'ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः' जन्म-मरण के प्रवाह में बहते प्राणियों के हृदय में वह निश्चल ज्योति सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म बैठा है। यहां ब्रह्म को ज्योतिःस्वरूप कहना उसके चेतनभाव को प्रकट करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [४।५।१३] में बताया–'एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' जैसे नमक का डला नमक ही नमक है, ऐसे यह परब्रह्म अन्दर बाहर की स्थिति से रहित चेतनमात्र है। ऐसे वह आनन्दमात्र है–'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।९।२८], 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' [तै० ३।६], 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' [मुं० २।२।७]। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप केवल ऐसा है। ऐसे स्वरूप को प्रकट करने के लिये शास्त्रों में उक्त वर्णन किये गये हैं। फलतः देहादिगादि वर्णनों को व्यर्थ नहीं समझना चाहिये ॥१६॥

अन्य श्रुति स्मृतियों में इस अर्थ की पुष्टि कीगई है, सूत्रकार ने कहा—

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ॥१७॥

[दर्शयति] दिखलाता है [च] भी [अथो] और [अपि] भी [स्मर्यते] स्मरण किया जाता है–स्मृति में प्रतिपादित हुआ है। ब्रह्म के ज्योतिर्भाव को उपनिषदादि शास्त्र दिखलाता है और स्मृति भी उसका प्रतिपादन करती है।

ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप है, ऐसे वर्णनद्वारा उपनिषद् उसके चेतनमात्र होने का वर्णन करते हैं। 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' [मुं० २।२।९] वह शुद्ध परब्रह्म अग्नि सूर्य आदि सबका प्रकाशक प्रेरक है। 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' [छा० ३।१४।७) जो समस्त द्यौः लोकान्तरों से पर–उत्कृष्ट ज्योतिः है, वह ब्रह्म है। 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' [छा० ८।१२।३] उस परज्योति को प्राप्त होकर। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [कठ० २।२।१५] उस चेतनस्वरूप परब्रह्म के प्रताप से ही यह सब विश्व प्रकाश में आता है। 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' [गीता १३।१७]

ब्रह्म का ज्योतिरूप में वर्णन उसके चेतनस्वभाव को अभिव्यक्त करता है। ये सब वर्णन सप्रयोजन हैं ॥१७॥

इसी विषय को पुष्ट करने के लिये सूत्रकार ने कहा—

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

[अतः] इसलिये [एव] ही [च] और [उपमा] उपमा—सादृश्य [सूर्यकादिवत्] सूर्य आदि के समान। क्योंकि ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है, इसलिये ही सूर्य अग्नि आदि के साथ उपमा दीजाती है।

वेदादि शास्त्रों में जो वाणी एवं मन आदि के अविषय परब्रह्म चेतन की उपमा सूर्य आदि के साथ दीगई हैं, उसका यही कारण है, कि उस प्रकाशस्वरूप वर्णन से उसके चेतनभाव व नियन्तृभाव को स्पष्ट किया जाय। अन्धकार जड़ का प्रतीक माना जाता है, और प्रकाश चैतन्य का। प्रकाशदशा में समस्त प्राणी गतिशील होजाते हैं, अन्धकार इसमें बाधक होता है। तम से आच्छादित संसार गतिशून्य-सा एकीभूत हुआ प्रतीत होता है। वेद [यजु० ३१।१८] में मानो इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए बताया—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' वह महान पुरुष आदित्यवर्ण है, और तम से परे है, उसे हम जानें। यहां 'आदित्यवर्ण' पद ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप बताता हुआ उसके चेतनभाव को प्रकट करता है; इसीलिये उसे 'तमसः परस्तात्' तम से—अन्धकार से परे बताया, वह जड़ से भिन्नतत्त्व है। कठ उपनिषद् [२।१।१३] में कहा—'''पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य' हृदयदेश में ज्ञेयभाव से निवास करनेवाला वह पुरुष परब्रह्म धूमरहित ज्योति के समान है। वह समस्त विश्व का अतीत—अनागत का नियन्ता है। यहां धूमरहित ज्योति के समान ब्रह्म को बताने का तात्पर्य है, कि वह केवल प्रकाशस्वरूप है, तम का वहां लेश भी नहीं। फलतः उसके विशुद्ध चेतनस्वरूप को प्रकट करने के लिये सूर्य अग्नि आदि की उपमा उसे दीगई हैं। उसका चेतनभाव उसके ईशान—नियन्ता होने का आधार है। इसीलिये अन्यत्र [केन० १।३] कहा—'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' वह विदित से अन्य है और अविदित से ऊपर। विदित यह व्यक्त जगत् है और अविदित है—इसका उपादानकारण अव्यक्त प्रकृति। यह व्यक्त-अव्यक्तरूप समस्त विश्व जड़तत्त्व है, परब्रह्म इससे परे है, भिन्न है; इसमें अन्तर्यामीरूप से व्याप्त रहता हुआ इस सबका नियन्त्रण करता है ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म के लिये सूर्य आदि की जो उपमा दीजाती है, क्या सूर्य के समान उसको परिच्छिन्न भी मानलेना चाहिये? होसकता है, जैसे सूर्य एक जगह रहता सब लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ब्रह्म एकदेश में रहता हुआ समस्त विश्व को प्रेरित करता रहे? उसका समस्त तत्त्वों में अन्तर्यामीरूप से रहना प्रतिबिम्बप्रक्रिया के अनुसार सम्पन्न होसकेगा। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥

[अम्बुवत्] जल में जैसे [अग्रहणात्] न ग्रहण से [तु] तो [न] नहीं [तथात्वं] वैसा होना। जल में जैसे किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब गृहीत होता है, वैसे ब्रह्म का कहीं प्रतिबिम्ब गृहीत नहीं होसकता, इसलिये ब्रह्म का परिच्छिन्न होना तथा प्रतिबिम्बद्वारा अन्तर्यामी होना युक्त नहीं।

सूत्र में 'अम्बु' पद दर्पण आदि का उपलक्षण है। स्वच्छ जल आदि में सूर्य तथा अन्य रूपादियुक्त सावयव दृश्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है; ब्रह्म ऐसा तत्त्व नहीं है। सूर्य आदि की जो उपमा ब्रह्म के लिये दीजाती है, वह केवल प्रकाश अंश की भावना से है। किसी उपमा या दृष्टान्त की उपमेय से सर्वात्मना तुलना नहीं होती। सूर्यप्रकाश की उपमा से ब्रह्म का चेतनभाव केवल अभिलक्षित होता है। क्योंकि सूर्य व सूर्यप्रकाश स्वतः जड़तत्त्व है, उसका स्वरूपगत सादृश्य चेतन से कुछ नहीं है। पर उसकी वह स्थिति परब्रह्म की प्रेरणा से बनपाती है; तथा प्रकाश समस्त विश्व को अभिव्यक्त करता है; अन्य पदार्थों से इस विशेषता तथा अभिव्यक्तिरूप समानता के कारण सूर्य आदि की उपमा ब्रह्म के लिये दीजाती है। उसकी परिच्छिन्नता आदि का आरोप ब्रह्म में करना सर्वथा अप्रामाणिक है।

वेद आदि शास्त्रों में सर्वत्र ब्रह्म को सर्वान्तर्यामी व सर्वव्यापक बताया है, 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' [यजु० ४०।५; ईशा० ५] वह परब्रह्म सबके अन्दर बाहर व्याप्त रहता है। जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण ब्रह्म के एकदेशी होने की कल्पना नहीं कीजासकती। न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब संभव है, और न एकदेशी होने से सर्वान्तर्यामी न रहने पर उसके द्वारा जगत् की उत्पत्ति आदि संभव है। इसलिये जैसे जल दर्पण आदि में अन्य सूर्य आदि पदार्थों के प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है, ऐसे ब्रह्म का कहीं प्रतिबिम्ब संभव न होने से उसके एकदेशी होने की कल्पना सर्वथा अमान्य है ॥१९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म सर्वान्तर्यामी है, प्रत्येक वस्तु में व्याप्त रहता है; तो उस वस्तु के वृद्धि और ह्रास से ब्रह्म प्रभावित होना चाहिये? अर्थात् उसमें भी वृद्धि आदि हों? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

[वृद्धिह्रासभाक्त्वं] बढ़ने घटने का भागी होना [अन्तर्भावात्] अन्दर होने से—अन्तर्यामी होने से, [उभयसामञ्जस्यात्] दोनों का समान सन्तुलन होने से [एवम्] ऐसा। गतसूत्र से यहां 'न' पद की अनुवृत्ति है। अन्तर्यामी होने से ब्रह्म, वस्तु के बढ़ने घटने का भागी होगा, यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा दोनों पदार्थों के सामञ्जस्य

से होता है।

ब्रह्म सर्वान्तर्यामी है, इसका तात्पर्य है, वह प्रत्येक वस्तु के अन्दर विद्यमान है। तब उस वस्तु के बढ़ने घटने का प्रभाव ब्रह्म पर होना चाहिये; उस वस्तु के अनुसार वह भी घटे बढ़े। पर वेदादि शास्त्रों में उसका स्वरूप बढ़ने घटनेवाला नहीं माना गया, 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' [बृ० २।५।१९] वह ब्रह्म पूर्व पर तथा अन्दर बाहर से रहित है। जो घटे बढ़ेगा, उसमें पूर्व पर आदि भाव होंगे। यह स्थिति उसके सर्वान्तर्यामी होने में बाधक है; फिर वस्तु के बढ़ने घटने का प्रभाव उस पर मानना होगा। सूत्रकार ने बताया, अन्तर्यामी होने से [अन्तर्भावात्] ब्रह्म को जो वृद्धि और ह्रास का भागी होनेवाला बताया गया, वह युक्त नहीं है। कारण यह है, कि इसप्रकार वृद्धि-ह्रास के भागी परस्पर वे पदार्थ होसकते हैं, जहां दोनों का सामञ्जस्य हो, सन्तुलन हो, सब प्रकार समानरूपता हो। ब्रह्म के सर्वान्तर्यामी होने पर किसी ऐसी वस्तु के साथ उसका सारूप्य नहीं है, जो घटने बढ़ने वाली है। ऐसी समस्त वस्तु अशुद्ध अचेतन विकारी परिणामशील होती हैं, ब्रह्म ऐसा कदापि नहीं है; इसलिये अन्तर्यामी से व्याप्त वस्तु में वृद्धि-ह्रास होने पर उसके प्रभाव से अन्तर्यामी ब्रह्म में बढ़ने घटने की सम्भावना नहीं कीजासकती। फलतः जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म न परिच्छिन्न है, और न किसी वस्तु के बढ़ने घटने का वह भागी होता है ॥२०॥

सूत्रकार ने इस तथ्य को शास्त्र में देखे जाने का निर्देश कर पुष्ट किया—

दर्शनाच्च ॥२१॥

[दर्शनात्] देखे जाने से [च] भी। अन्तर्यामी ब्रह्म के वृद्धि-ह्रास नहीं होते, यह शास्त्र में देखे जाने से भी प्रमाणित होता है।

कठ उपनिषद् [२।२।११] में कहा—'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' जैसे सब लोकों के देखने में उपकारी चक्षु के समान सूर्य चक्षुगत दोषों से लिप्त नहीं होता; ऐसे समस्त विश्व में अन्तर्यामी होकर रहनेवाला एक ब्रह्म लोकदुःख से—वस्तुगत विकारों से—लिप्त नहीं होता। क्योंकि वह उनसे सर्वथा भिन्नस्वरूप है। बृहदारण्यक [४।४।२२] में बताया—'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्' सबका नियन्ता अधिष्ठाता वह ब्रह्म न किसीके साधु कर्म से बढ़ता है और न किसीके असाधु कर्म से घटता है।

इस प्रकरण में निश्चय किया गया, कि अन्तर्यामी परब्रह्म वस्तुमात्र से संपृक्त रहने पर भी उनके वृद्धि-ह्रास से जैसे घटता बढ़ता नहीं; ऐसे ही हृदयस्थित जीवात्मा में व्याप्त रहता भी वह उसकी स्वप्न आदि अवस्थाओं से प्रभावित नहीं होता। जीवात्मा के निवास हृदयाकाश में परब्रह्म के शयन करने का उल्लेख बृहदारण्यक

[४।४।२२] में इसप्रकार है–'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' वह यह नित्य महान आत्मा–जो यह हृदय के बीच आकाश [चेतन] है उसमें–शयन करता है; जो यह [–हृदयाकाश] इन्द्रियों के बीच घिरा [प्राणेषु] विज्ञानमय [जीवात्मा] है। हृदय में इन्द्रियों से घिरे जीवात्मा का निवास है; वहां महान आत्मा–परब्रह्म शयन करता है। आत्मा को परब्रह्म का साक्षात्कार यहीं होता है; इसी अभिप्राय से ऐसा वर्णन है। जीवात्मा की स्वप्नादि अवस्था होने पर वहां विद्यमान परमात्मा का इन अवस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहता ॥२१॥

जीवात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं से परब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं, इसका उपपादन किया गया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य आशंका करता है, यदि एकत्र रहते जीवात्मा की स्वप्नादि अवस्था का सम्बन्ध परब्रह्म से नहीं, तो परब्रह्म के वहां रहने में ही क्या प्रमाण है ? तब ब्रह्म का अस्तित्व सन्देह में पड़ जाता है। अन्यत्र [बृ० २।३।६] 'नेति नेति' कहकर उसका निषेध भी किया गया है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

[प्रकृतैतावत्त्वं] प्रकृत में इतने होने का [हि] निश्चय से [प्रतिषेधति] प्रतिषेध करता है [ततः] उसके अनन्तर [ब्रवीति] कहता है [च] और [भूयः] फिर। 'नेति नेति' वाक्यद्वारा निश्चय से प्रकृत में इतने होने का प्रतिषेध करता है; और फिर आगे उसीको कहता है।

हृदयदेश में एकत्र रहते जीवात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं का सम्बन्ध ब्रह्म से नहीं होता; यह निश्चय ब्रह्म के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं डालता। जगत् के जन्म आदि का कारण बताकर और उसे प्रत्येक प्रकार से सिद्धकर परब्रह्म के अस्तित्व का निर्णय कर दिया गया है। 'नेति नेति' वाक्य किस प्रकरण में है, और किसका निषेध करता है ? यह विचारणीय है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [२।३।१] में एक प्रकरण का प्रारम्भ किया–'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च' ब्रह्म के दो रूप हैं–मूर्त्त और अमूर्त्त। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है–'ब्रह्म ते ब्रवाणि' तेरे लिये ब्रह्म का कथन करता हूं। यह ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकरण चालू है। उसी प्रसंग से द्वितीयाध्याय के तीसरे ब्राह्मण के प्रारम्भ में उक्त वाक्य है, जिसके द्वारा मूर्त्त-अमूर्त्तरूप में ब्रह्म का निर्देश है। यहां पृथिवी जल तेज को मूर्त्त तथा वायु आकाश को अमूर्त्त कहकर विस्तार के साथ इसका प्रतिपादन है। अन्त में ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत करने की भावना से उपदेश किया–'अथात आदेशो नेति नेति' [बृ० २।३।६] अब इसके अनन्तर उस 'आदेश' को बतलाते हैं, वह 'यह नहीं है, यह नहीं है'। यहां 'आदेश' पद ब्रह्म का वाचक है,

क्योंकि समस्त शास्त्र उसीका कथन करते हैं। 'न इति, न इति' पदों से प्रकरण के प्रारम्भ में कहे मूर्त्त-अमूर्त्त का प्रतिषेध किया गया है, अर्थात् ब्रह्म न मूर्त्त है न अमूर्त्त है। इन पदों से प्रस्तुत प्रसंग में पृथिवी आदि पांच भूतों का निर्देश है। यहां बताया, ब्रह्म का यह स्वरूप नहीं है, वह इनसे अन्य एक अभौतिक तत्त्व है। 'नेति नेति' पदों से ब्रह्म का निषेध न होकर उसके पूर्वोक्त मूर्त्त-अमूर्त्तरूप होने का प्रतिषेध किया है। क्योंकि आगे उसको बताया है–'अन्यत् परमस्ति' [बृ० २।३।६] वह पूर्वोक्त मूर्त्त-अमूर्त्त से अन्य तथा उनसे 'पर' है, उत्कृष्ट है। आगे उसका नाम बताया–'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति' सत्य का सत्य उसका नाम है। संसार में जो जीवन है, जीवन का चिह्न है, वह सब सत्य है, वह ब्रह्म उस सत्य का भी सत्य है [प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्, बृ० २।३।६]।

संसार में जीवन का स्वरूप–जो साधारणतया सबके लिये अवगत है–जीवात्मा है। पूर्वोक्त मूर्त्त-अमूर्त्त से ऊपर वह सत्य है, अविनाशी अपरिणामी तत्त्व है। परब्रह्म उस सत्य का भी सत्य है, इन सबसे पर है, इनका ध्येय है प्राप्य है। यह वर्णन प्रश्न उपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न के उस उपदेश का स्मरण कराता है, जहां पृथिवी आदि समस्त भूत व इन्द्रियों का कथन कर उनके द्रष्टा श्रोता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुष का कथन उनसे पर मानकर किया, तथा विज्ञानात्मा [जीवात्मा] को भी आगे अविनाशी पर आत्मा [परमात्मा] में प्रतिष्ठित बताया है [प्रश्न ४।८-९]। इससे प्रमाणित होता है, 'नेति नेति' पदों से ब्रह्म का प्रतिषेध न होकर प्रकरण के अनुसार इस बात का निषेध है, कि वह पूर्वोक्त 'मूर्त्त-अमूर्त्त' इतना नहीं है, वह इससे पर है। इसीलिये आगे उसका वर्णन है, कि वह इनसे अन्य है, पर है और सत्य का सत्य है। 'नेति नेति' से ब्रह्म का निषेध विवक्षित होने पर आगे फिर उसका ऐसा वर्णन असंगत होता ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ब्रह्म है और इन सबसे पर है, तो वह दीखता क्यों नहीं ? और उसके दो रूप–मूर्त्त-अमूर्त्त किस प्रयोजन से कहे गये ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

[तत्] वह–ब्रह्म [अव्यक्तं] अव्यक्त है [आह] कहता है [हि] क्योंकि। क्योंकि वेदादि शास्त्र कहता है, कि वह ब्रह्म अव्यक्त है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है।

मूर्त्त-अमूर्त्त से पर होता हुआ ब्रह्म इन्द्रियादि से ग्राह्य न होने के कारण नहीं दीखता, न दीखने का कारण उसका अभाव नहीं है। वह इन्द्रियादि से प्राप्त नहीं किया जाता, यह उपनिषदों में बताया है–'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' [कठ० २।३।१२] वह वाणी मन व चक्षु आदि से जाना नहीं जासकता। मुण्डक उपनिषद् [१।१।६] में कहा–'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' वह इन्द्रिय आदि करणों के द्वारा अदृश्य एवं

अग्राह्य है, इन्द्रियों से न देखा जाता है, न जाना जाता है। मुण्डक [३।१।८] में आगे कहा–'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' वह चक्षु वाणी तथा अन्य तप कर्म आदि साधनों से नहीं जाना जाता। बृहदारण्यक [३।९।२६] में बताया–'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' इस सन्दर्भ में 'नेति नेति' पदों से ब्रह्म को मूर्त्त-अमूर्त्त तथा नाम-रूपात्मक जगत् से भिन्न बताकर 'स एष आत्मा' इन पदों से उसके अस्तित्व का अवधारण किया गया है। वह होता हुआ भी इन्द्रियादि से जाना नहीं जाता, क्योंकि इन्द्रियां कार्य जगत् का ग्रहण करसकती हैं, अव्यक्त ब्रह्म का नहीं। कठ उपनिषद् [२।१।१] में कहा है–'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' परमात्मा ने इन्द्रियों को बाह्यविषय बनाया है, इसलिये वे बाहर को देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं। ब्रह्म के मूर्त्त-अमूर्त्त दो रूप कहने का प्रयोजन यही है, कि उसकी जगद्रूप रचनाद्वारा क्रमशः उसके यथार्थ स्वरूप का बोध विधिपूर्वक कराया जासके ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ब्रह्म इन्द्रियादि से जाना नहीं जाता, तो वेदादि शास्त्रों में उसके जानने का उल्लेख क्यों हुआ है? 'य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्त्वमानशुः' [ऋ० १।१६४।२३] जो उसको जानलेते हैं, वे अमृत का भोग करते हैं। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' [यजु० ३१।१८] उसीको जानकर दुःख के पार जाता है। 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्' [तै० २।१] ब्रह्म को जाननेवाला मोक्ष को प्राप्त होता है। इत्यादि वचनों में ब्रह्म के जानने का उल्लेख है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया–

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

[अपि] भी [संराधने] आराधन होने पर [प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्] श्रुति और स्मृति से। अव्यक्त ब्रह्म भी विधिपूर्वक साधना होने पर जाना जाता है, यह श्रुति-स्मृति से अवगत होता है।

यद्यपि ब्रह्म अव्यक्त है, पर योगीजन विधिपूर्वक आराधना करने पर उसके अव्यक्त स्वरूप को जानते हैं। 'अव्यक्त' पद का अर्थ है, अकार्य अथवा अपरिणामी। व्यक्त कार्य को कहते हैं, ब्रह्म ऐसा नहीं है; इसलिये वह अव्यक्त है। इन्द्रियां केवल व्यक्त को जानपाती हैं, अतः ब्रह्म इन्द्रियों का अविषय है। वह जाना नहीं जाता, ऐसी बात नहीं है। दीर्घकाल तक निरन्तर आस्था रखते हुए विधिपूर्वक जो उपासना व ध्यान आदि उसके विषय में किये जाते हैं, उनसे समाधि अवस्था प्राप्त होने एवं इन्द्रियों व मन आदि समस्त करणों की वृत्तियों के लीन होजानेपर शुद्ध केवल जीवात्मा उस अव्यक्तस्वरूप का साक्षात्कार करलेता है। परब्रह्म का यह महान अनुग्रह है, जब जीवात्मा उसके स्वरूप का साक्षात् दर्शन करता है। श्रुति एवं स्मृतियों के द्वारा इस तथ्य को प्रकट किया गया है।

ब्रह्मज्ञान का निर्देश करनेवाले कतिपय वेदवचनों का सूत्र की अवतरणिका में उल्लेख है। कठ उपनिषद् [१।२।२३] में बताया–'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' जिसपर ब्रह्म का अनुग्रह है, वह इसे प्राप्त करलेता है, ब्रह्म अपने स्वरूप को उसके लिये प्रकाशित करदेता है। मुण्डक उपनिषद् [३।१।८] में कहा–'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' आत्मा की स्वच्छ शान्त स्थिति से विशुद्ध अन्तःकरणवाला व्यक्ति ब्रह्म का ध्यान करता हुआ उसे साक्षात् करलेता है। 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' [श्वे० २।५] योगी आत्मतत्त्वद्वारा ब्रह्मतत्त्व को ऐसे देखलेता है, जैसे एक दिये से दूसरा दिया प्रज्वलित करलिया जाता है। मनुस्मृति [६।६५] में कहा–'सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः' योगसमाधिद्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता–अव्यक्त स्वरूप का दर्शन करे। महाभारत [१२।२४०।२१ गो० पू० सं०] में बताया–'तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः' महात्मा मनीषी धैर्यशाली महाप्राज्ञ ब्रह्मज्ञानी उस परमात्मा का दर्शन करलेते हैं। फलतः ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता; योगी आत्मसाक्षात्कार होने पर उसे जानलेता है, यह शास्त्र से प्रमाणित है ॥२४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्मज्ञान का स्वरूप क्या है? और ब्रह्मज्ञान होजाने पर जीवात्मा की क्या स्थिति होती है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

[प्रकाशादिवत्] प्रकाश आदि के समान [च] और [अवैशेष्यं] अविशेषभाव, [प्रकाशः] प्रकाश [च] तथा [कर्मणि] संराधन कर्म में [अभ्यासात्] निरन्तर अनुष्ठान से। संराधन–उपासना ध्यान समाधि आदि–कर्म में निरन्तर अनुष्ठान से जो आत्मा में ब्रह्म का प्रकाश होजाता है, यही ब्रह्मज्ञान है। इस दशा में आत्मा का ब्रह्म के साथ अविशेषभाव होजाता है, प्रकाश आदि के समान।

जब जिज्ञासु विधिपूर्वक यम नियम आदि का पालन करता हुआ ध्यान धारणा आदि के निरन्तर अनुष्ठान से असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है, तब आत्मा में वह एक अनुपम दिव्य प्रकाश का अनुभव करता है; इसीका नाम ब्रह्मज्ञान है। इस अवस्था को प्राप्त होकर जीवात्मा का ब्रह्म के साथ अविशेषभाव होजाता है। 'विशेष' भेद को कहते हैं। अभीतक ब्रह्म और जीवात्मा का जो संराध्य-संराधक एवं उपास्य-उपासकरूप में भेद रहा है, वह अब न रहकर अविशेषभाव–अभेदभाव होजाता है। वह आत्मा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, इस रूप से उसकी वैसी स्थिति होजाती है। उसकी अपनी सत्ता बनी रहने पर भी तब संसारदशा का जीवभाव प्रतीत नहीं होता।

इस अर्थ को समझाने के लिये सूत्रकार ने उदाहरण दिया–प्रकाश आदि के समान। सूत्र के 'आदि' पद से जल जैसे तरलद्रव्य तथा दूसरे ऐसे अतरल द्रव्यों का

संग्रह होजाता है, जो अन्य के साथ उस जैसे प्रतीत होने लगते हैं। प्रकाश प्रकाश में, जल जल में, दूध दूध में, तेल तेल में, मिल जानेपर एकसमान प्रतीत होते हैं, पर उस अवस्था में भी उनका अपना निजी अस्तित्व बना रहता है, रेत के ढेर में अन्यत्र से मुट्ठीभर रेत उठाकर मिला देने पर वह एकजैसा ढेर प्रतीत होता है, पर मुट्ठीभर रेत के कण उस अवस्था में भी अपना अस्तित्व खो नहीं बैठते। ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्मानन्द में डूबे हुए, ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हुए जीवात्मा का अस्तित्व इसीप्रकार बना रहता है ॥२५॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को स्पष्ट करने की भावना से सूत्र कहा—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥२६॥

[अतः] इससे [अनन्तेन] अनन्त के साथ, [तथा हि] जैसाकि [लिङ्गम्] लिङ्ग है—शास्त्रीय प्रमाण है। ब्रह्म के साथ आत्मा के इस अविशेषभाव से अनन्त पर-ब्रह्म के साथ जीवात्मा अवस्थित होजाता है, जैसाकि इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण प्रकट करते हैं।

पूर्वसूत्रगत 'अवैशेष्य' पद का यही अभिप्राय है, कि तब आत्मा अनन्त के साथ अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के साथ अवस्थित रहता है। यद्यपि संसारदशा में जीवात्मा सर्वव्यापक परमात्मा से अलग नहीं रहता, पर प्राकृत धर्मों से अभिभूत रहने के कारण अपनी इस संलग्नता का उसे भास नहीं होपाता। यह अविवेक की दशा है। समाधि-द्वारा इन सब प्रवृत्तियों का विलय होजाने पर वह इस स्थिति का अनुभव करलेता है। यह तथ्य वेदादि वचनों से प्रमाणित होता है। यजुर्वेद [३२।११] में बताया—'उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश' सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत वेदवाणी का सेवन कर, उसके अनुसार आचरण कर जब जिज्ञासु आत्मसाक्षात्कार करलेता है, तब अपने आत्मा से ऋत के आत्मा में संविष्ट होजाता है। परमात्मा में जीवात्मा के संवेश का स्वारस्य इसीमें है, कि वह तब ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। माण्डूक्य उपनिषद् [१२] में कहा—'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव, संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद' जीवात्मा की जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थाओं का वर्णन कर उन अवस्थाओं से रहित समस्त प्रपञ्च से असंपृक्त कल्याणमय एकमात्र ब्रह्म की चौथी अवस्था है, जो लोक में अव्यवहार्य है, ऐसा परमात्मा ही है, जो 'ओम्' नाम से कहा जाता है। जो इसप्रकार परब्रह्म को जानलेता है, वह अपने स्वरूप से परमात्मा में संविष्ट होजाता है। संवेश का इसके अतिरिक्त और कोई तात्पर्य संभावित नहीं, कि ब्रह्मज्ञानी अनन्त ब्रह्म के साथ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। इस विवेचन से निश्चित होता है, कि कार्य-कारण अथवा मूर्त्त-अमूर्त्तरूप जगत् से भिन्न है वह ब्रह्म, जिसके सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामीरूप का दर्शन योगीजन निर्विकल्प समाधि में

करते हैं। ब्रह्मज्ञान से आत्मा मोक्षस्थिति को प्राप्त करलेता है ॥२६॥

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है, कि आत्मा मोक्षदशा में परब्रह्म से भिन्न रहता है, ब्रह्मस्वरूप नहीं। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है, अध्यात्मशास्त्रों में ऐसे वर्णन हैं, जिनसे मोक्ष में जीवात्मा की ब्रह्मरूपता प्रतीत होती है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] इत्यादि। इसका सामञ्जस्य कैसे होगा ? सूत्रकार ने समाधान किया—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

[उभयव्यपदेशात्] दोनों कथन होने से [तु] तो [अहिकुण्डलवत्] अहिकुण्डल के समान। शास्त्रों में दोनों प्रकार का कथन होने से अहिकुण्डल के समान उसका स्पष्टीकरण होजाता है।

इस विषय में 'अहिकुण्डल' दृष्टान्त की यथार्थता को विचारना चाहिये। 'अहि' का अर्थ सांप है। सांप स्वभावतः रस्सी की तरह का एक लम्बे शरीर का प्राणी है। यह ध्यान रखना चाहिये, कि दृष्टान्त सदा विवक्षित अंश में अभिप्रेत होता है, उसकी प्रत्येक स्थिति की तुलना चालू प्रसंग में नहीं कीजाती। सांप स्वभावतः लम्बे आकार का होता हुआ भी प्रायः कुण्डल मारकर बैठता है। यह उसकी एक तात्कालिक स्थिति है, तब भी उसका वास्तविक स्वरूप निर्बाध बना रहता है। इस दृष्टान्त के अनुसार परब्रह्म अहिस्थानीय है, वह आनन्दस्वरूप है। मोक्ष में जीवात्मा के द्वारा उस आनन्द का अनुभव करना 'कुण्डल' स्थानीय है। सर्प जब कुण्डली मारकर बैठता है, तब वह कुछ संकुचित प्रतीत होता है, मोक्ष में आत्माद्वारा अनुभूत उस आनन्द की स्थिति को इससे तुलना किया गया है। आनन्द सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी है, पर परिच्छिन्न अल्पज्ञ अल्पशक्ति आत्माद्वारा उसकी अनुभूति सर्पकुण्डल के समान संकुचित है; फिर भी वह आनन्दस्वरूप से सदा अबाध निर्विकल्प बना रहता है। जैसे कुण्डल सर्प का वास्तविक आकार न होते हुए भी उस दशा में सर्प की वस्तुसत्ता अबाध है, वही अवस्था जीवात्माद्वारा आनन्दानुभूति होने पर आनन्द की है। इस भावना से अभेद का वर्णन है; पर जैसे कुण्डल कभी स्वभावतः-स्वरूपतः सर्परूप नहीं, ऐसे ही जीवात्मा कभी आनन्दस्वरूप नहीं, सर्प कुण्डलाकार में देखा जाता है, पर वस्तुतः कुण्डलाकार नहीं; ऐसे ही जीवात्मा आनन्दानुभव करता है, पर स्वरूपतः आनन्द नहीं। इस दृष्टि से उनके भेद का वर्णन है। शास्त्र में दोनों तरह के वर्णनों का इस रूप में सामञ्जस्य समझा जासकता है। मोक्षदशा में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ 'अवशेष्य' कथन का यही अभिप्राय शास्त्रानुगत है ॥२७॥

इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने प्रकारान्तर से समझाया—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

[प्रकाशाश्रयवत्] प्रकाश के आश्रय के समान [वा] अथवा [तेजस्त्वात्] तेज

होने से।

प्रकाश के आश्रय जैसे अग्नि विद्युत् सूर्य आदि हैं, वे स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। पर जब वह प्रकाश दूसरी वस्तु पर पड़ता है, तो वह प्रकाशक अर्थात् प्रकाश करनेवाला कहा जाता है। 'प्रकाश' अथवा 'प्रकाशक' पदों से कहाजानेवाला तत्व एकमात्र तेज है; फिर भी वह प्रकाश्य वस्तु से अतिरिक्त है। वह वस्तु प्रकाशित होने पर स्वयं प्रकाशस्वरूप नहीं होती। इसीप्रकार ब्रह्म आनन्दरूप है, उस आनन्द से मोक्षदशा में जीवात्मा आनन्दित होता है, तब आनन्दरूप ब्रह्म आनन्द देनेवाला कहा जाता है। इतने से उसके आनन्दस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता; इसी आधार पर अभेद का वर्णन है। जिस दूसरे पर आनन्द का प्रभाव होता है, अर्थात् मोक्षदशा में जीवात्मा जब उस आनन्द का अनुभव करता है, तब वह आनन्दरूप नहीं होजाता; आनन्द के साथ एकमात्र होकर अभिन्न नहीं होजाता। इस आधार पर शास्त्र में उनके भेद का वर्णन है ॥२८॥

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने पूर्वोक्त कथन का स्मरण कराया—

पूर्ववद्वा ॥२९॥

[पूर्ववत्] पहले की तरह [वा] अथवा। अथवा पहले कहे हुए के समान प्रस्तुत अर्थ को समझना चाहिये।

इसी प्रकरण [३।२।१६] में पहले कहा गया है–'आह च तन्मात्रम्' ब्रह्म का स्वरूप चेतनमात्र, प्रकाशमात्र अथवा आनन्दमात्र है। वह जीवात्मा की स्थिति में कभी नहीं होता। यदि वह जीवात्मा की अवस्था में आता है, तो वह सर्वज्ञ आनन्दमात्र नहीं रहपाता। इसलिये ब्रह्म जीवात्मा से सदा भिन्न है, यह निश्चित है ॥२९॥

प्रस्तुत अर्थ को पुष्ट करने के लिये आचार्य सूत्रकार ने कहा, जीवात्मा को ब्रह्म होने का शास्त्र में प्रतिषेध उपलब्ध होता है—

प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

[प्रतिषेधात्] प्रतिषेध से [च] और। शास्त्र के वर्णन से ज्ञात होता है, कि शास्त्र जीवात्मा के ब्रह्म होने का प्रतिषेध करता है।

छान्दोग्य उपनिषद् [८।१२।३] में कहा–'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' परम ज्योति परब्रह्म को प्राप्त होकर जीवात्मा अपने रूप से अभिनिष्पन्न रहता है, सिद्ध रहता है, वह स्वरूप का परित्याग नहीं करता, आत्मा आत्मा ही बना रहता है, ब्रह्म नहीं होजाता। शतपथ ब्राह्मण [१४।४।२।१७] में बताया–'शृण्वन् श्रोत्रं·····मन्वानो मनो भवति' इत्यादि। मोक्षदशा में जब जीवात्मा सुनना चाहता है, अथवा संकल्प आदि करना चाहता है, तो कर सकता है। यदि उस दशा में जीवात्मा ब्रह्म होजाता हो, तो ब्राह्मण ऐसा वर्णन न करता। मोक्षदशा में जीवात्मा की अपनी

स्थिति बनी रहती है। इसीकारण अन्यत्र [तै० २।७] कहा–'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' वह ब्रह्म रस है, आनन्दस्वरूप है, निश्चय से यह जीवात्मा उस रस को प्राप्त कर आनन्दयुक्त होजाता है। इससे मोक्षदशा में आत्मा और ब्रह्म का अपने-अपने रूप में अवस्थित रहना स्पष्ट होता है।

इस सत्रके आधार पर 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य आत्मा को ब्रह्म बताने में न होकर इतने अंश में है, कि उस दशा में जीवात्मा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, संसारप्रपञ्च से तब सर्वथा विनिर्मुक्त है, इसलिये उसका वैसा वर्णन किया गया है। इसी भावना से अन्यत्र [मुं० ३।१।३] जीवात्मा का ब्रह्म के साथ परम समभाव प्रकट किया है–'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'। यदि ऐसा न माना जाय, तो उक्त वाक्य में 'उपैति' क्रिया का सामञ्जस्य कैसे होगा? प्राप्त होना अथवा उसमें डूब जाना भेद मानने पर संभव होसकता है।

२७वें सूत्र से यहां तक के चार सूत्रों की व्याख्या निम्नप्रकार भी संभव है।

शिष्य जिज्ञासा करता है, मूर्त और अमूर्त्त से विलक्षण तथा उनके कारण जिस ब्रह्म का निरूपण किया गया, वह ज्ञानस्वरूप है, अथवा ज्ञान का आश्रय है? अध्यात्मशास्त्र में दोनों प्रकार के उल्लेख उपलब्ध हैं। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥

[उभयव्यपदेशात्] दोनों प्रकार के कथन से [तु] तो [अहिकुण्डलवत्] अहि-कुण्डल के समान। दोनों प्रकार के कथन से ब्रह्म को कुण्डलाकार अहि के समान समझना चाहिये।

जैसे कुण्डलस्वरूप में स्थित सर्प 'कुण्डल' तथा 'कुण्डलवाला' दोनों प्रकार से लोक में व्यवहृत होता है; ऐसे ही ज्ञानस्वरूप होता हुआ ब्रह्म ज्ञान का आश्रय तथा ज्ञान-रूप दोनों प्रकार वर्णित किया है। 'ज्ञानं ब्रह्म' [ऐ० ३।१], 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१], 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।९।२८] इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। तथा 'यो विश्वाऽभि विपश्यति' [ऋ० ३।६२।१८], 'यः सर्वज्ञः सर्व-वित्' [मुं० १।१।९], 'स विश्वकृद् विश्ववित्' [श्वे० ६।१६] इत्यादि सन्दर्भों से ब्रह्म का ज्ञानाश्रय होना प्रतीत होता है। ब्रह्म वस्तुतः ज्ञानस्वरूप है, परन्तु जब विश्व को उसके ज्ञान का विषय बताया जाता है, तब ऐसा [ज्ञानाश्रयरूप] वर्णन है। फलतः यह वर्णन आपेक्षिक है, विश्वविषयकज्ञान की अपेक्षा से यह वर्णन है। जैसे लम्बा सांप कुण्डलाकार हुआ, 'सांप कुण्डल' है, 'सांप कुण्डल मारे बैठा है' दोनों प्रकार व्यवहृत होता है, ऐसे ब्रह्म का वर्णन 'ज्ञान' व 'ज्ञानाश्रय' दोनों रूप में हुआ है।

सूत्रकार ने अन्य दृष्टान्त से इसी अर्थ को स्पष्ट किया—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥

[प्रकाशाश्रयवत्] प्रकाश के आश्रय की तरह [वा] अथवा [तेजस्त्वात्] तेज

होने से। प्रकाश के आश्रय तेज की तरह ब्रह्म को ज्ञान का आश्रय समझना चाहिये, क्योंकि ब्रह्म को तेज के समान कहा गया है।

वेद [यजु० २२।१] में कहा–'तेजोऽसि शुक्रममृतम्' हे परमेश्वर ! तू अमरण-धर्मा बलशाली तेज है। अन्यत्र [तै० ब्रा० ३।१२।९] कहा–'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' जिस तेज से दीप्त हुआ सूर्य तपता है। अग्नि विद्युत् सूर्य आदि तेज हैं। वह तेज जैसे प्रकाशस्वरूप होता हुआ प्रकाश्य वस्तु के सम्बन्ध से प्रकाशक अर्थात् प्रकाश करनेवाला–प्रकाश का आश्रय कहा जाता है; ऐसे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ज्ञेय जगत् के सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय–जाननेवाला वर्णित हुआ है। यह सब ज्ञेय जगत् उस ज्ञानस्वरूप परब्रह्म से भिन्न है। इसलिये जगद्विषयक ज्ञान की भावना से उसका 'सर्वज्ञ' 'सर्ववित्' रूप में शास्त्रीय वर्णन युक्त समझना चाहिये।

सूत्रकार उक्त अर्थ को चेतनसाधर्म्य से स्पष्ट करता है—

पूर्ववद्वा ॥

[पूर्ववत्] पूर्व के समान [वा] अथवा। अथवा पूर्व के समान ब्रह्म का निश्चय करलेना चाहिये।

सूत्र में 'पूर्व' पद जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। वह मध्यम होने से जैसे प्रकृति से 'पर' है वैसे ब्रह्म से 'पूर्व' है। उसका प्रकृति-परमात्मा के मध्य में होना वेद द्वारा प्रमाणित है–'तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः' [१।१६४।१] उस परब्रह्म परमेश्वर का भरणीय-पोषणीय [भ्राता] कर्मफलों का भोक्ता [अश्नः] जीवात्मा मध्यम है। इस चालू तृतीयाध्याय से पूर्व द्वितीय अध्याय में जीवात्मा का निरूपण होने से भी पूर्ववर्णित जीवात्मा का ग्रहण सूत्र के 'पूर्व' पद से किया जासकता है। जीवात्मा यद्यपि ज्ञानस्वरूप है, पर शास्त्र में उसका वर्णन द्रष्टा श्रोता घ्राता मन्ता बोद्धा आदि बताकर ज्ञानाश्रय-रूप से किया जाता है [प्र० ४।९], ऐसे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का वर्णन विश्वजगत् के ज्ञातृ सम्बन्ध से–'यो विश्वाभि विपश्यति' [ऋ० ३।६२।९] जो समस्त विश्व को अच्छी-तरह देखता जानता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ज्ञानाश्रयरूप में किया जाता है।

इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रतिषेधाच्च ॥

[प्रतिषेधात्] प्रतिषेध से [च] और। और गुणगुणिभाव के प्रतिषेध से ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप समझना चाहिये।

यद्यपि अल्पमति जिज्ञासुओं के लिये आचार्यों ने गुणगुणिभाव की कल्पना की है, और उससे आपाततः गुण तथा गुणी का परस्पर भेद प्रतीत होता है। प्रारम्भ में पदार्थ को समझने में उससे सुविधा होसकती है, इस भावना से वह ठीक है; पर वस्तुतः इनमें कोई भेद नहीं होता। संभवतः इसीकारण सांख्य में पदार्थमात्र के मूल उपादान-तत्त्व को 'गुण' पद से कहा गया है, जो वेद [अथर्व० १०।८।४३] मूलक है। इसलिये

ब्रह्म को वस्तुस्थिति में ज्ञान का आश्रय न मानकर ज्ञानस्वरूप समझना सर्वथा युक्त है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' [ऐ० २।१] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१] 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० ६।११] इत्यादि सन्दर्भ उसके ज्ञानस्वरूप होने को प्रमाणित करते हैं। जहां अन्य की अपेक्षा से उसके ज्ञान का वर्णन है, उसे अन्यापेक्ष होने के कारण औपचारिक समझना युक्त होगा।

जैसे ब्रह्म ज्ञान-चेतना का आश्रय न होकर ज्ञानस्वरूप है, चेतनस्वरूप है, ऐसे ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, आनन्द का आश्रय नहीं। प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में [ब्र० सू० १।१।२–१९] ब्रह्म के इसी स्वरूप का वर्णन किया है; वह सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। चेतनस्वरूप के समान ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का शास्त्रों में 'स्वर्यस्य च केवलम्' [अथर्व० १०।८।१], 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' [मुं० २।२।७] 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' [तै० २।७] 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' [तै० ३।६] 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।९।२८] इत्यादि सन्दर्भों द्वारा विस्तार के साथ वर्णन है। फलतः उपादानोपादेयरूप इस मूर्त्त-अमूर्त्तलक्षण जगत् से सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म सर्वथा भिन्न है, यह शास्त्रद्वारा प्रमाणित होता है। इसी आधार पर ब्रह्म को अन्यत्र [बृ० २।५।१९] अपूर्व अनपर आदि बताया गया है–'तदेतद् ब्रह्मापूर्वं' न उससे कोई पूर्व है न अपर है, न आगे है न पीछे। न उसका कोई अन्दर है न बाहर। यह सब व्यवहार कार्य जगत् में संभव है। ब्रह्म इससे विलक्षण है ॥३०॥

सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म इस सब कार्यकारणरूप जगत् से भिन्न है, यह निश्चय किया गया। अब ब्रह्म से 'पर' अन्य कोई तत्त्व नहीं है, इसका निश्चय करने की भावना से आचार्य ने प्रस्तुत प्रकरण का प्रारम्भ किया। इस पृष्ठभूमि पर शिष्य आशंका करता है, अध्यात्मशास्त्र के अनेक प्रसंगों से यह प्रतीत होता है, कि ब्रह्म से 'पर' कोई अन्य तत्त्व है, उसका सामञ्जस्य कैसे होगा? सूत्रकार ने प्रथम आशंका को सूत्रबद्ध किया—

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

[परं] पर है [अतः] इससे–ब्रह्म से, [सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः] सेतु, माप, सम्बन्ध और भेद के कथन से। ब्रह्म के विषय में सेतु, माप, सम्बन्ध और भेद का कथन होने से प्रतीत होता है, कि ब्रह्म से पर अन्य कोई तत्त्व है।

सूत्र में 'व्यपदेश' पद 'सेतु' आदि सबके साथ जुड़ जाता है, सेतुव्यपदेश, उन्मान-व्यपदेश, सम्बन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेश से ज्ञात होता है, कि ब्रह्म से 'पर' अन्य तत्त्व है। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म से 'पर' अन्य कोई तत्त्व है, यह 'सेतुव्यपदेश' से जाना जाता है। ब्रह्म के विषय में कहा–'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' [छा० ८।४।१] 'एष सेतुर्विधरणः' [बृ० ४।४।२२] 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म' [कठ० १।३।२] सेतुं तीर्त्वा' [छा० ८।४।२]। यह जो आत्मा है वह विधारक–मर्यादा में रखनेवाला–सेतु है,

वह अक्षर ब्रह्म है, जो कर्मिष्ठ जीवात्माओं का सेतु है, सेतु से पार होकर; इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म को 'सेतु' कहा गया है। लोक में 'सेतु' पद नदी आदि जल के पुल अथवा बांध आदि के लिये प्रसिद्ध है। यह दूसरे किनारे पर पहुंचाने वाला होता है। जब ब्रह्म ऐसा सेतु है, तो उससे परे प्राप्त होने योग्य कोई अन्य तत्त्व सिद्ध होता है।

उन्मानव्यपदेश से यह अर्थ सिद्ध होता है। 'उन्मान' पद का अर्थ है–माप। वेद के पुरुषसूक्तों में कहा है–'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' [ऋ० १०।९०।३; यजु० ३१।३; अथर्व० १९।६।३], उसका एक पाद समस्त भूत है, और अमृत तीन पाद द्युलोक में। माण्डूक्य उपनिषद् [२] में कहा–'अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' यह सर्वव्यापक तत्त्व ब्रह्म है, यह चार पादवाला है। छान्दोग्य [४।५।२] में 'ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणि' हे सोम्य! तेरे लिये मैं ब्रह्म के पाद [भाग–अंश] कहता हूं, कहकर आगे उसके चार पाद और सोलह कलाओं का वर्णन है। इससे ब्रह्म का माप सिद्ध होता है। जो तत्त्व मापा हुआ है, परिमित है, उससे 'पर' कोई तत्त्व अवश्य सिद्ध होता है। क्योंकि माप तभी संभव है, जब उससे परे कोई अन्य वस्तु हो।

सम्बन्धव्यपदेश ब्रह्म से 'पर' किसी तत्त्व का साधक है। छान्दोग्य [८।१२।३] में कहा–'परं ज्योतिरुपसंपद्य' पर ज्योति को प्राप्त होकर। 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' [बृ०४।३।२१] प्राज्ञ आत्मा के साथ सम्बद्ध है। एक परिमित का सम्बन्ध दूसरे परिमित के साथ होता है, कोई प्राप्तव्य एक प्राप्तव्य को पाकर आगे दूसरे प्राप्तव्य को पाने का यत्न करता है और पाता है। जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त करता है, दोनों का सम्बन्ध यहां कहा गया है। आगे अन्य प्राप्तव्य नहीं रहा, इसमें कोई प्रमाण नहीं। जैसे ब्रह्म प्राप्तव्य है, आगे अन्य कोई प्राप्तव्य होसकता है, इसप्रकार जीवात्मा का यह ब्रह्म के साथ सम्बन्ध उससे परे अन्य किसी तत्त्व को सिद्ध करता है।

भेदव्यपदेश ब्रह्म से पर किसी तत्त्व का साधक है। वेद [ऋ० १।२२।२१; यजु० ३४।४४] में कहा–'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्' मेधावी सतर्क उपासक आत्मज्ञानी उस पद को पाते हैं, जो परब्रह्म का परम पद है। कठ उपनिषद् [१।३।९] में कहा–'सोऽध्वनः पारमाप्नोति यद् विष्णोः परमं पदम्' वह अध्वा के पार पहुंच जाता है, जो विष्णु का परम पद है। इन वचनों में विष्णु के किसी परम पद का वर्णन है, वह विष्णु-परब्रह्म से अवश्य परे होना चाहिये। छान्दोग्य [१।६।६; १।७।५] में कहा–आदित्य के अन्दर जो पुरुष है, और अक्षि के अन्दर जो पुरुष है, इनके रूप अंग और नाम एक हैं, पर इनका ईश्वरभाव सीमित और क्षेत्र दोनों के पृथक् हैं [छा० १।६।८; १।७।६]। यह वर्णन ब्रह्मविषयक है। जब उसका ईश्वरभाव सीमित व क्षेत्रिक है, तब अवश्य उससे परे अन्य तत्त्व होना चाहिये; अन्यथा ऐसा वर्णन संभव न होगा। इन सब हेतुओं से यह प्रतीत होता है, कि ब्रह्म से 'पर' कोई अन्य तत्त्व होना चाहिये ॥३१॥

आचार्य सूत्रकार ने यथाक्रम इनका समाधान किया—

सामान्यात्तु ॥३२॥

[सामान्यात्] समानता से [तु] तो। यह सेतु-व्यपदेश तो समानता से हुआ है।

ब्रह्म को जो सब लोकों का सेतु बताया है, उसका तात्पर्य ऐसा नहीं, जैसा लोक में सेतु देखा जाता है। उसकी किसी समानता के आधार पर ऐसा निर्देश है। सेतु जलों का विधारण-नियन्त्रण करता है, ब्रह्म समस्त लोकों का विधारण-नियन्त्रण करता है। लौकिक सेतु की इसी समानता से ब्रह्म के लिये सेतु पद का प्रयोग हुआ है। यह भाव पूर्वोक्त सन्दर्भों से स्वतः स्पष्ट होता है—'स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' [छा० ८।४।१] 'एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय [बृ० ४।४।२२]। जैसे लोक में जल का सेतु—बांध आदि न होने पर जल बिखर जाते हैं, फैल जाते हैं; ऐसे ही परब्रह्म समस्त लोकों का सेतु है, इनका विधारक है, नियन्त्रण में रखने वाला है, यदि ऐसा न हो, तो ये लोक बिखर जायें, छिन्न-भिन्न होजायें। फलतः जल के समान सब लोकों को नियन्त्रण में रखने की समानता से ब्रह्म को 'सेतु' कहा गया है। इसलिये सेतुव्यपदेश से कोई ऐसा तत्त्व सिद्ध नहीं होता, जो ब्रह्म से पर हो ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार यथाक्रम 'उन्मानव्यपदेशात्' हेतु के विषय में समाधान प्रस्तुत करता है—

बुद्धचर्थः पादवत् ॥३३॥

[बुद्धचर्थः] जानने के लिये [पादवत्] पाद के समान। लोकसिद्ध पाद—अंश के समान जो ब्रह्म का व्यपदेश है, वह उसे जानने के लिये है।

सूत्र में 'बुद्धि' पद का अर्थ 'जानना' है। लोक में जैसे एक बड़े सिक्के रुपये के मूल्य को समझने के लिये उसके छोटे अंशों का मूल्य जानलेना आवश्यक होता है, उनके जानलेने पर रुपये का मूल्य सुगमता से जानलिया जाता है; ऐसे मूर्त्त-अमूर्त्तरूप जगत् से भिन्न परमसूक्ष्म परब्रह्म का समझना सर्वसाधारण के लिये अत्यन्त कठिन होता है। यद्यपि सामने दीखते विश्व को समझना भी अति कठिन है, पर जब यह कहा जाता है, कि यह समस्त विश्व उस परब्रह्म परमात्मा के एक अंशमात्र के समान है, तो परब्रह्म की अतिशय महानता का कुछ अवभास जिज्ञासु को होजाने की संभावना रहती है। इस रीति पर ब्रह्म को समझने में सुगमता होजाती है, इसीकारण उसके पाद व अंश का वर्णन जहां-तहां हुआ है। छान्दोग्य [४।५।२] के प्रसंग में जो ब्रह्म के चार पाद व सोलह कलाओं का वर्णन है, वह उपासनापूर्वक ब्रह्म के यथार्थस्वरूप को जानने के लिये है। फलतः ब्रह्मविषयक उन्मान—माप का कथन उसके वास्तविक अंशों को नहीं बतलाता; प्रत्युत उसका तात्पर्य ब्रह्म के यथार्थस्वरूप को सुगमता से समझाने में है ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ब्रह्म वस्तुतः सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी एकमात्र तत्त्व है, जानने के लिये भी उसमें उन्मान–माप का कथन कैसे उपयुक्त व समञ्जस कहा जासकता है ? जो स्वरूप से अपरिमित है, उसे मित कैसे कहा जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३४॥

[स्थानविशेषात्] स्थानविशेष से [प्रकाशादिवत्] प्रकाश आदि के समान। प्रकाश आदि के समान स्थानविशेष के सम्बन्ध से ब्रह्म में उन्मान–माप का कथन संभव है।

सूत्र में 'आदि' पद से आकाश का ग्रहण है। सूर्य का प्रकाश जैसे अत्यधिक व्याप्त होता हुआ खिड़की, मकान या अन्य किसी स्थानविशेष के कारण सीमितरूप में व्यवहृत होता है, एवं आकाश व्याप्त होता हुआ स्थानविशेष के सम्बन्ध से खण्डरूप में व्यवहृत होता है; ऐसे लोक-लोकान्तर आदि स्थानविशेष के सम्बन्ध से सर्वव्यापक ब्रह्म में माप का व्यवहार औपचारिकरूप से होजाता है। इस विषय के वैदिक वर्णनों का ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिये, क्योंकि सर्वव्यापक एकमात्र ब्रह्म में वस्तुस्थिति से उन्मान–माप का वर्णन असंभव है। अन्यथा शास्त्रवचनों का असामञ्जस्य होगा। ऐसे वचनों के निगूढ़ तात्पर्य पर ध्यान देना अपेक्षित होता है ॥३४॥

क्रमप्राप्त 'सम्बन्धव्यपदेश' और 'भेदव्यपदेश' इन दोनों आक्षेप हेतुओं का समाधान आचार्य सूत्रकार अग्रिम एक सूत्र से प्रस्तुत करता है—

उपपत्तेश्च ॥३५॥

[उपपत्तेः] उपपत्ति से–सिद्ध होने से [च] और। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध-व्यपदेश तथा भेदव्यपदेश के सिद्ध होने से ये हेतु ब्रह्म से परे किसी तत्त्व के साधक नहीं।

'परं ज्योतिरुपसंपद्य' [छा० ८।१२।३] अथवा 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' [बृ० ४।३।२१] इत्यादि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म का जो संबन्ध प्रकट किया है, वह सर्वथा उपपन्न है, प्रमाणसिद्ध है। यहाँ जीवात्मा ब्रह्म का प्राप्ता है और ब्रह्म प्राप्तव्य है। इससे यह किसीप्रकार प्रमाणित नहीं होता, कि सम्बन्ध सदा दो परिच्छिन्न तत्त्वों का संभव है। न यह प्रमाणित होता है कि प्राप्तव्य ब्रह्म से 'पर' कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिये। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है, यह शास्त्रद्वारा पूर्णरूप में प्रमाणित है–'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० ६।११] वह एकमात्र देव सब जड़-चेतन तत्त्वों में व्याप्त है, सबका साक्षी है, प्रकृति से भिन्न है। जो तत्त्व अपरिच्छिन्न एवं सर्वव्यापी है, उससे 'पर' होने की कल्पना ही असंभव है। अन्यथा उसकी सर्वव्यापिता को तिलाञ्जलि देनी होगी। अतः जीव-ब्रह्म का प्राप्तृ-प्राप्तव्यभाव सम्बन्ध प्रमाणसिद्ध है,

वेदादि शास्त्रों ने इसे स्वीकार किया है। ब्रह्म से परे किसी तत्त्व का यह साधक नहीं।

भेदव्यपदेश भी ब्रह्म से परे किसी तत्त्व को सिद्ध नहीं करता। 'यद्विष्णोः परमं पदम्' [ऋ० १।२२।२१; कठ० १।३।९] इत्यादि सन्दर्भों में–विष्णु का जो परम पद है–इस 'विष्णोः' पद की षष्ठी विभक्ति को देखकर यह कल्पना की गई, कि विष्णु का वह 'पद' विष्णु से भिन्न है, क्योंकि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग साधारणरूप से 'भेद' अर्थ में होता है। वस्तुतः विष्णु का पद अर्थात् ब्रह्म का पद, ब्रह्म का स्वरूप ही है; वह परम है, सर्वोत्कृष्ट है, यही तथ्य इन सन्दर्भों द्वारा प्रकट किया है। किसीका स्वरूप उससे कभी भिन्न नहीं होसकता। अभेद में भेद की कल्पना करके षष्ठीविभक्ति का प्रयोग प्रायः देखा जाता है, 'राहोः शिरः' 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादि प्रयोगों को प्रामाणिक माना जाता है। आत्मज्ञानी अध्वा के पार ब्रह्म के उस परम पद को प्राप्त करलेता है [कठ० १।३।९], इत्यादि वर्णन प्रकट करता है, कि ब्रह्म सबसे पर है। ब्रह्म को जानने के जो साधन हैं, वही अध्वा है मार्ग है, वह अध्वा उस समय पूरा होजाता है, जब ब्रह्म का साक्षात्कार होजाय। यही ब्रह्म की प्राप्ति है, यही उसका परम पद है, 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [यजु० ३१।१८] उसीको जानकर संसार के बन्धन से पार आत्मा जाता है, अन्य कोई मार्ग उस परम पद को प्राप्त करने का नहीं है। ऐसे अभिप्राय से यह भेदव्यपदेश है; इससे सिद्ध नहीं होता, कि ब्रह्म से परे कोई तत्त्व होना चाहिये।

छान्दोग्य [१।६।६–८; १।७।५–६] में अक्षिपुरुष तथा आदित्यपुरुष का जो वर्णन है, वह ब्रह्मपुरुष की सर्वव्यापिता को प्रकट करता है। अक्षि-अभिलक्षित आत्माधिष्ठित देह में जो पुरुष है, वही आदित्य आदि लोक-लोकान्तरों में है, वह एकमात्र ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है, यही उक्त वर्णन का तात्पर्य है। उनके किसी सीमित शासनप्रदेश का बतलाना उपनिषद् का तात्पर्य नहीं है। मानव आदि देहों में जीवात्मा का जो अस्तित्व है, वह वहां अधिष्ठाता होकर बैठा है, वह अपने कर्म करने में स्वतन्त्र और फलभोग में परापेक्ष रहता है; यह भाव उपनिषद् के इस प्रसंग में अधिदैवत और अध्यात्मभेदद्वारा प्रकट किया गया है। यह वर्णन ब्रह्म से अतिरिक्त किसी परतत्त्व का साधक नहीं है ॥३५॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त अर्थ को पुष्ट करने के लिये कहा–शास्त्र ब्रह्म से परे किसी तत्त्व के होने का स्पष्ट प्रतिषेध करता है—

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

[तथा] और [अन्यप्रतिषेधात्] अन्य के प्रतिषेध से। तथा शास्त्र में ब्रह्म से पर अन्य किसीके प्रतिषेध किये जाने से ब्रह्म से परे कोई तत्त्व नहीं, यह निश्चित होता है।

कठ उपनिषद् [१।३।११] में स्पष्ट कहा–'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा

सा परा गतिः' ब्रह्मपुरुष से पर कोई तत्त्व नहीं है, वह परत्व की काष्ठा है, गतिशील संसारी आत्माओं की वह परा गति है, सबसे अन्तिम प्राप्ति है; उसके आगे अन्य प्राप्ति की संभावना नहीं। ऋग्वेद [१०।१२९।२] में इसी अर्थ को कहा–'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' उस परब्रह्म से पर अन्य कुछ नहीं रहता। परब्रह्म के इस सर्वव्यापी भाव को प्रकट करने के लिये अन्यत्र कहा–'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' [श्वे० ३।९] जिससे पर और अपर कुछ नहीं है। सर्वव्यापी ब्रह्म में पर-अपर का व्यवहार संभव नहीं; तब उससे परे किसी तत्त्व की कल्पना करना सर्वथा निराधार है। अन्यत्र कहा–'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरम्' [बृ० २।५।१९] वह यह ब्रह्म है, जिससे न कोई पूर्व है न पर है। यह इसीलिये कहा जासकता है, कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है।

'पर' पद का प्रयोग उत्कृष्ट अर्थ में भी होता है। प्रथम उद्धृत सन्दर्भों में यह अर्थ अवभासित है। अर्थ की इस भावना से श्वेताश्वतर [६।९] में कहा–'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता' न उसका कोई पति है, न उसपर शासन करने वाला। वह सत्ता सबसे पर है, सर्वोत्कृष्ट है। वही सबका पति है और सबका शासिता है। 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि' [मनु० १२।१२२] सबके प्रशासिता अति-सूक्ष्म दुर्ज्ञेय ब्रह्म को जानने का यत्न करना चाहिये। इन सब शास्त्रीय वचनों के आधार पर निश्चित होजाता है, कि ब्रह्म से पर अन्य कोई तत्त्व नहीं है ॥३६॥

प्रकरण का उपसंहार करता हुआ आचार्य सूत्रकार कहता है—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

[अनेन] इससे [सर्वगतत्वं] सर्वगत–सर्वव्यापक होना [आयामशब्दादिभ्यः] विस्तार के शब्द आदि से। इस प्रतिषेध के द्वारा ब्रह्म का सर्वव्यापक होना सिद्ध होता है, क्योंकि इस विषय में विस्तारवाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

'अनेन' पद से सूत्रकार गतसूत्रद्वारा किये गये प्रतिषेध का अतिदेश करता है। ब्रह्म से पर किसी तत्त्व के होने का प्रतिषेध कर दिये जाने से ब्रह्म का सर्वव्यापी होना सिद्ध होता है। इसप्रकार के ब्रह्मविषयक वर्णनों में ब्रह्म के लिये विस्तारवाचक शब्दों का प्रयोग है। व्यापी अर्थ को कहनेवाले शब्द विस्तारवाचक हैं–पर, ज्यायान्, विभु आदि। वेदों में वर्णन है–'परो दिवा पर एना पृथिव्याः' [ऋ० १०।८२।५; यजु० १७।२९] वह द्युलोक और पृथिवीलोक इन सबसे 'पर' है। 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः' [ऋ० १०।९०।३; यजु० ३१।३; अथर्व० १९।६।३] यह सब विश्व तो केवल उसकी महिमा है, वह पुरुष इससे 'ज्यायान्' है, बहुत बड़ा है। छान्दोग्य [३।१४।३] में कहा–'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' वह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और इन सभी लोक-लोकान्तरों से 'ज्यायान्' है, महान है। शतपथ ब्राह्मण [१०।६।३।२] में कहा–'ज्यायान् दिवो ज्यायानाकाशात्'

वह द्युलोक और आकाश से 'ज्यायान्' है। यजुर्वेद [३२।८] में बताया–'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' वह परमात्मा सर्वव्यापक होता हुआ सब प्रजाओं में ओत-प्रोत है। 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' [मुं० १।१।६] अत्यन्त सूक्ष्म सर्वत्र व्यापक विभु नित्य परमात्मा को जानने का यत्न करना चाहिये।

'सर्वगत' और 'सर्वव्यापी' शब्दों से अनेकत्र परमात्मा का वर्णन हुआ है। 'सर्वगत' का उदाहरण ऊपर की पंक्ति में आगया। 'सर्वव्यापी' पद से वर्णन किया–'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्' [श्वे० १।१६] जैसे दूध के प्रत्येक कण में घी व्याप्त रहता है, ऐसे विश्व के समस्त कण-कण में व्याप्त परमात्मा को जानना अभीष्ट है, जो निगूढ ब्रह्म सबसे पर है। इन सब तथा ऐसे अनेक अन्य प्रमाणवाक्यों से निश्चित होता है, कि परब्रह्म परमात्मा सर्वगत–सर्वव्यापक है; वह सबसे पर है, उत्कृष्ट है; उससे परे अन्य कोई तत्त्व नहीं है ॥३७॥

ब्रह्म की सर्वव्यापिता का निश्चय होजाने पर आचार्य सूत्रकार कहता है, कि ऐसी स्थिति होने से ब्रह्म सब जीवात्माओं के कर्मों का फलप्रदाता होता है—

फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

[फलं] फल [अतः] इससे [उपपत्तेः] उपपत्ति–युक्ति से। सर्वव्यापक परमात्मा से जीवात्माओं के कर्मों का फल प्राप्त होता है; उपपत्ति–युक्ति से यह सिद्ध है।

जीवात्मा जो शुभाशुभ कर्म करता है, उनके फलों की प्राप्ति का नियमन परब्रह्म के अधीन है। कोई अशुभ करके उनका फल भोगना नहीं चाहता। फिर जीवात्मा अल्पज्ञ अल्पशक्ति है, वह उन सब साधन व सामग्री आदि को अपने सामर्थ्य से प्रस्तुत नहीं करसकता, जो फल भोगने के लिये अपेक्षित हैं। उसे अपने समस्त कर्मों का बोध भी नहीं रहता, तब भोगेगा कैसे? कर्म तात्कालिक हैं, वे स्वयं कालान्तर में तथा जड़ होने के कारण फल उत्पन्न नहीं करसकते। कर्मजन्य धर्म-अधर्म जड़ होने से स्वयं फलप्रदान में अक्षम रहते हैं। ब्रह्म सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ चेतन है, इसकारण वह जीवात्माओं के कर्मफलों की व्यवस्था करने में समर्थ है। ब्रह्म जगत् के जन्म आदि का कारण है, वह संसार की रचना जीवात्मकर्मों की अपेक्षा रखते हुए इस रीति पर करता है, कि विविध शुभाशुभ कर्मों के फलों को सुविधा के साथ भोगा जासके। इस स्थिति को सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानसकता, कि अमुक कर्म का फल कब कहां किस रीति पर किन साधनों द्वारा किन परिस्थितियों में भोगा जाना है। जो इस सबकी व्यवस्था करता है, वही कर्मफलों का प्रदाता है; कर्मों के अनुसार फलों का वितरण करता है। विश्व में समस्त ऐश्वर्य व विभूतियों को परब्रह्म ने निहित किया है; आत्मा अपनी कमाई के अनुसार उसमें से अपना भाग प्राप्त करता रहता है। यह सब ब्रह्मद्वारा कीगई व्यवस्था से चलता है; इसलिये वही कर्मफलप्रदाता है, यह युक्त